

शोध दिशा

शोध अंक 6

अक्टूबर-दिसंबर 2008

300 रुपए

संपादकीय कार्यालय

हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार,
बिजनौर 246701 (उ०प्र०)
फोन : 01342-263232
ई-मेल : giriraj3100@rediffmail.com
वेब साइट : www.hindisahityaniketan.com

क्षेत्रीय कार्यालय

दिल्ली एन०सी०आर०
अनुभूति
सी-106, शिव कला
बी 9/11, सैक्टर 62, नोएडा
फोन : 09928570700

राजस्थान

अंकुर गोयल
402, यूनीक सांघी अपार्टमेंट
सांघी फार्म, महावीर नगर, जयपुर (राज०)
फोन : 0141-2722548, 09351553454

हरियाणा, हिमाचल एवं पंजाब

डॉ० हरिशरण वर्मा
710/35 जनता कालोनी
रोहतक (हरियाणा) 124001
फोन : 01262-248211, 09355676460

(सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।)

संपादक

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

प्रबंध संपादक

डॉ० मीना अग्रवाल

संयुक्त संपादक

मनोज अबोध

सह संपादक

डॉ० रश्मि त्रिवेदी

कला संपादक

गीतिका गोयल
अनुभूति

उपसंपादक

डॉ० अशोककुमार

विधि परामर्शदाता

अनिलकुमार जैन, एडवोकेट

आर्थिक परामर्शदाता

ज्योतिकुमार अग्रवाल, सी०ए०

शुल्क

वार्षिक शुल्क : बारह सौ रुपए

यह प्रति : तीन सौ रुपए

प्रकाशित सामग्री से संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद केवल बिजनौर स्थित न्यायालय के अधीन होंगे। शुल्क की राशि 'शोध दिशा' बिजनौर के नाम भेजें। (सन् 1989 से प्रकाशन-क्षेत्र में सक्रिय)

स्वत्वाधिकारी, मुद्रक, प्रकाशक डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल द्वारा श्री लक्ष्मी आफसेट प्रिंटर्स, बिजनौर 246701 से मुद्रित एवं 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०) से प्रकाशित। पंजीयन संख्या : UP HIN 2008/25034

संपादक : डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

परामर्श-मंडल

- डॉ. आर.पी.सिंह (पूर्व कुलपति, मेरठ विश्वविद्यालय) प्राचार्य बरेली कॉलेज, बरेली (उ.प्र.)
- डॉ. अशोक चक्रधर, प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
- डॉ. हरिमोहन, प्रोफेसर हिंदी विभाग, के.एम.मुंशी हिंदी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा
- डॉ. हरमहेंद्रसिंह बेदी, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर
- डॉ. रामसजन पांडेय, प्रोफेसर हिंदी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)
- डॉ. योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', (पूर्व प्राचार्य) 74/3 नया नेहरूनगर, रुड़की (उत्तराखंड)
- डॉ. शारदा शर्मा, अध्यक्ष हिंदी विभाग, मुंलां एवं जंनांकं महाविद्यालय, सहारनपुर (उ.प्र.)
- डॉ. मुकेश गर्ग, रीडर हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- डॉ. माया टाक, प्रोफेसर संगीत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
- डॉ. संतराम वैश्य, प्रोफेसर हिंदी विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखंड)
- डॉ. लालबहादुर रावल, प्राचार्य, आर.एस.एम. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, धामपुर (उ.प्र.)
- डॉ. मंजुलाकुमार, प्राचार्या, रानी भाग्यवती देवी महिला महाविद्यालय, बिजनौर (उ.प्र.)
- डॉ. हरिशरण वर्मा, 710/35 जनता कालोनी, रोहतक (हरियाणा) 124001
- डॉ. महेश दिवाकर, अध्यक्ष हिंदी विभाग, गुलाबसिंह कॉलेज, चाँदपुर (उ.प्र.)
- डॉ. मिथिलेश दीक्षित, अध्यक्ष हिंदी विभाग, बी.डी.एम.एम. महिला महाविद्यालय, शिकोहाबाद (उ.प्र.)
- डॉ. महेशचंद्र, रीडर हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ.प्र.)
- डॉ. शंकरलाल शर्मा, अध्यक्ष हिंदी विभाग, आर.एस.एम. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, धामपुर (उ.प्र.)
- डॉ. आद्याप्रसाद द्विवेदी, पूर्व अध्यक्ष हिंदी विभाग, सतीशचंद्र स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बलिया
- डॉ. जितेंद्र वत्स, रीडर हिंदी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार)
- डॉ. शंभुनाथ तिवारी, रीडर हिंदी विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भीलवाड़ा (राज.)
- डॉ. सुरेंद्र विक्रम, अध्यक्ष हिंदी विभाग, लखनऊ क्रिश्चियन कॉलेज, लखनऊ (उ.प्र.)
- डॉ. श्यामधर तिवारी, प्रोफेसर हिं.वि., संघटक महाविद्यालय पौड़ी, गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर
- डॉ. प्रवीणकुमार वर्मा, रीडर हिंदी विभाग, च सनातन धर्म कॉलेज, पलवल (हरियाणा)
- डॉ. संतोषकुमार गौड़ रीडर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ.प्र.)
- डॉ. उषारानी वर्मा, रीडर हिंदी विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रुद्रपुर (उत्तराखंड)
- डॉ. सभापति मिश्र, अध्यक्ष हिंदी विभाग, हंडिया पोस्टग्रेजुएट कॉलेज, हंडिया (इलाहाबाद)

कुछ बातें आपके साथ

‘शोध-दिशा’ का ‘शोध अंक : छह’ आपके सामने है।

आज आपसे शोध और उसकी प्रक्रिया पर बात करने का मन है। हम जानते हैं कि हमारा सारा ज्ञान व्यक्ति तथा वस्तु के संपर्क से उत्पन्न होता है। व्यक्ति ही अपनी प्रतिभा के बल पर वस्तु का निरीक्षण, परीक्षण और मूल्यांकन करता है। शोध में भी व्यक्ति या शोधकर्ता वस्तु या शोध सामग्री का विश्लेषण करता है और विश्लेषण के आधार पर अपने निष्कर्षों पर पहुँचता है।

शोध का पहला तत्त्व है शोध के विषय का क्षेत्र अर्थात् हम किस क्षेत्र में और किस विषय पर शोध करना चाहते हैं। शोधकर्ता शोध के क्षेत्र में बिखरी हुई सामग्री और तथ्यों का चयन करता है। इसके बाद उनका विश्लेषण करता है तब किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है। प्रत्येक विषय की अपनी सत्ता और महत्ता होती है। इसी कारण प्रत्येक शोधकर्ता हर किसी विषय पर शोधकार्य नहीं कर सकता। जैसे आधुनिकताबोध से जुड़े विषयों में रुचि रखनेवाले शोधकर्ता मध्यकालीन कविता पर शोध करने में अपनी असमर्थता व्यक्त कर सकते हैं।

शोध का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, शोध के विषय-क्षेत्र के विश्लेषण और मंथन की दृष्टि। शोध के विषयक्षेत्र में निहित तथ्यों और उनमें समाहित तत्त्वों का मंथन किसी-न-किसी पूर्व निर्धारित अथवा सुनिश्चित दृष्टि से ही किया जाता है। शोध एक दृष्टिसंपन्न, लक्ष्य की ओर उन्मुख, विकसनशील तथा सुनियोजित बौद्धिक क्रिया है। शोध के लिए कुछ नई अथवा अब तक अछूती संभावनाओं को शोध-दृष्टि के रूप में अपनाना आवश्यक है। वास्तव में शोध का लक्ष्य ही है—ज्ञान के नए क्षितिज खोजना।

एक शोधविषय में एक ही दृष्टि का होना शोध के लिए अनिवार्य है। यदि शोधकर्ता ने एक ही विषय में एक से अधिक दृष्टियों का समावेश कर दिया है तो उसका शोधकार्य दुर्बोध, अस्पष्ट और अवैज्ञानिक हो सकता है। वस्तुतः शोधविषय में एक ही सुनिश्चित दृष्टि का होना परम आवश्यक है।

अब बात करें शोध की। विषय के चयन के बाद सबसे पहली आवश्यकता है रूपरेखा का निर्माण। रूपरेखा सुलझाने वाली होगी या उलझाने वाली, दिशादर्शक होगी या भ्रामक, इसका पहला निर्धारक तो स्वयं शोधकर्ता ही है। शोध-विषय की रूपरेखा कितनी सूक्ष्म, सर्वांगीण, दिशादर्शी और व्यवस्थित होगी, यह शोधार्थी की प्रतिभा, उसके अनुभव और अध्ययन पर निर्भर है। सच्चा शोधार्थी अपनी प्रतिभा का पूरा उपयोग करते हुए अपनी शोध-सामग्री का बारीकी से अध्ययन करता है और विषय की सारी संभावनाओं तथा उसके विस्तार का पूरी सतर्कता से आकलन करता है। यदि शोधकर्ता प्रबुद्ध है, परिश्रमी है, लक्ष्य को निर्धारित करके आगे बढ़ता है तो वह स्वावलंबन के बल पर सही रूपरेखा तैयार कर सकता है।

रूपरेखा के स्वरूप को निर्धारित करनेवाला दूसरा महत्वपूर्ण तत्त्व है—शोध-निर्देशक। वह शोधविषय में निहित संभावनाओं पर अपनी गहरी नज़र रखता है। वह शोधार्थी की प्रतिभा और अध्ययन-निष्ठा को इस ढंग से प्रेरित, प्रोत्साहित एवं निर्देशित करता है कि विषय में निहित सारी संभावनाएँ शोधार्थी की पकड़ में आ जाएँ।

रूपरेखा-निर्माण को प्रभावित और निर्धारित करनेवाला तीसरा तत्त्व है—शोधविषय। स्पष्ट और व्यवस्थित रूपरेखा के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि निर्वाचित विषय का स्वरूप स्पष्ट और संदेहरहित हो। अनेक बार शोधार्थी अनुभव के अभाव में ऐसे विषय चुन लेते हैं, जिनका कोई सिर-पैर नहीं होता।

रूपरेखा के निर्धारण का चौथा तत्त्व है—उपलब्ध सामग्री। यह सामग्री तीन प्रकार की होती है—1. शोधक्षेत्र की मूल सामग्री, 2. मूल सामग्री से संबंधित मूल ग्रंथ तथा समालोचना-ग्रंथ, 3. शोध-दृष्टि से संबंधित सैद्धांतिक अथवा शास्त्रीय ग्रंथ।

सामग्री-संकलन : शोध का प्राथमिक आधार वे तथ्य हैं, जिनका विश्लेषण और विवेचन करके शोधकर्ता प्रामाणिक निष्कर्षों तक पहुँचता है। ये तथ्य ही शोध की वस्तु या सामग्री हैं। इन्हें ही शोध के संदर्भ में प्राप्त निष्कर्षों या निर्णयों का प्रमाण या साक्ष्य भी कहा जाता है। शोध पूरी तरह तथ्यों पर ही आधारित है। ये तथ्य ही शोध के मूल कारण हैं। इसलिए इन्हें सामग्री भी कहा जाता है। शोध की सामग्री तीन प्रकार की हो सकती है—1. विषय-क्षेत्र से एकत्र की गई सामग्री, 2. शोध-दृष्टि से संबंधित ग्रंथों से संगृहीत की गई सामग्री, 3. अन्य स्रोतों जैसे सामयिक पत्र-पत्रिकाओं, अभिनंदन-ग्रंथों, आत्मकथाओं, संस्मरणों, खोज रिपोर्टों, शिलालेखों आदि से उपलब्ध सामग्री।

सामग्री-संचयन के मुख्यतया दो साधन हैं—साहित्यकार से संपर्क और पुस्तकालय।

सामग्री-संकलन का माध्यम (टीपग्रहण) : टीप अथवा नोट्स के रूप में कितनी सामग्री संचित की जाए, उसका स्वरूप क्या हो, उद्धरण कितने छोटे या बड़े हों, उद्धरण ज्यों-के-त्यों लिए जाएँ अथवा सार रूप में, इन सब प्रश्नों पर टीपग्रहण से पहले ही विचार कर लेना आवश्यक है।

कई शोधकर्ता शोधग्रंथ से लंबे-लंबे उद्धरण उतार लेते हैं और सहायक ग्रंथों से पृष्ठ के पृष्ठ नक़ल कर लेते हैं। किसी दृष्टि अथवा विवेक के बिना अनावश्यक सामग्री का क़िला बनाते चले जाते हैं। बाद में यही अनियंत्रित सामग्री शोधकर्ता के जी का जंजाल बन जाती है। जो भवन-निर्माता पूर्वनिर्मित नक्शे के अनुसार बिल्कुल नपी-तुली सामग्री माँगवाता है, उसका उसी सामग्री में मनोवाँछित भवन बनकर तैयार हो जाता है। न सामग्री कम पड़ती है और न ही बचकर व्यर्थ जाती है। यही आदर्श शोधकर्ता के लिए भी अनिवार्य है। प्रचुर सामग्री में से केवल उपयोगी और उत्तम चुनने तथा अनावश्यक सामग्री को त्यागने में ही शोधकर्ता की बुद्धिमत्ता है।

टीपग्रहण कैसे करें? : सामग्री संकलन की प्रचलित पद्धतियों में तीन लोकप्रिय हैं—

1. नोटबुक पद्धति, 2. फाइल पद्धति, 3. कार्ड पद्धति।

शोध कोई जड़ या यांत्रिक क्रिया नहीं है। यह एक बौद्धिक, वैचारिक या ज्ञानात्मक

कार्य है। सतत सक्रियता और सतर्क चिंतन से ही शोधप्रबंध में प्राण-प्रतिष्ठा होती है। अपने शोधप्रबंध को दूसरों के मतों की उद्धरिणी-मात्र नहीं बनने देना चाहिए। अपने मत की पुष्टि के लिए ही दूसरों के मतों को प्रयुक्त करना चाहिए। यही शोधप्रबंध की मूल चेतना और मौलिकता का आधार है।

शोधकर्ताओं को चाहिए कि वे शोध ग्रंथों के प्रामाणिक संस्करणों का ही प्रयोग करें। यदि प्रमादवश किसी अप्रमाणित ग्रंथ से टीप ले ली गई है तो तत्काल उसे त्यागकर प्रमाणित ग्रंथ से टीपग्रहण करनी चाहिए।

शोधप्रबंध का लेखन : शोधप्रबंध में शोध-गुण के साथ-साथ प्रबंध-गुण भी अनिवार्य है। विश्लेषण और विवेचन स्तरीय होने पर ही शोध-गुण का समावेश होता है। शोध-गुण के उत्कर्ष से प्रबंधात्मकता में और प्रबंध-गुण के उत्कर्ष से शोध-गुण में वृद्धि होती है। हम पूरे शोधप्रबंध को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—1. पूर्व भाग, 2. मध्य भाग, 3. पश्च भाग।

पूर्व भाग में प्रस्तावना और विषय सूची रहती है।

मध्य भाग में शोधप्रबंध का प्रमुखतम भाग आता है, जिसमें विषय-विवेचन से संबंधित विविध अध्याय और उपसंहार रहता है। पश्च भाग को कुल मिलाकर परिशिष्ट कह सकते हैं।

प्रस्तावना भाग में शोधप्रबंध के अध्यायों का संक्षिप्त एवं सारपूर्ण परिचय प्रस्तुत करके अपनी समूची योजना को सम्यक् रूप में उद्घाटित किया जाता है, जिससे पाठक और परीक्षक शोधप्रबंध की गुणवत्ता के स्तर के प्रति भली प्रकार आश्वस्त हो सकें।

प्रस्तावना के अंत में शोधकर्ता अपने शोध-निर्देशक, अन्य गुरुजनों, दिशादर्शक विद्वानों, प्रेरक परिजनों आदि के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना परम धर्म समझता है।

प्रस्तावना लिखते समय शोधकर्ता को 'मैं मानता हूँ', 'मेरी स्थापना है' आदि कथनों के प्रयोगों से बचना चाहिए। प्रस्तावना भाग सारगर्भित एवं संक्षिप्त होना चाहिए। इसमें विस्तार के लिए अवकाश नहीं है। वैसे भी शोधकर्ता को अनावश्यक विस्तार से सदैव बचना चाहिए। आवश्यक और अनावश्यक में भेद करना ही शोधकर्ता की विवेकशीलता को प्रमाणित करता है।

शोधप्रबंध में प्रस्तावना के पश्चात् विषय-सूची दी जाती है। वास्तव में, विषय-सूची शोधप्रबंध का आधार भी है और प्रवेश-द्वार भी। जिस रूपरेखा को आधार बनाकर पूरा शोधप्रबंध लिखा जाता है, वही रूपरेखा विषय-सूची में रूपांतरित होकर और भी व्यवस्थित एवं संशोधित रूप में अध्यायों, खंडों, उपखंडों के शीर्षकों-उपशीर्षकों की पृष्ठ-संख्याओं के उल्लेख के साथ शोधप्रबंध में 'प्रस्तावना' के उपरांत प्रस्तुत की जाती है।

विषय-प्रवेश या पीठिका : जहाँ प्रस्तावना में शोधकर्ता अपने विचार मुक्त एवं निजी ढंग से प्रस्तुत करता है और पाठक को अपने शोधविषय, शोधकार्य और योगदान से मानसिक रूप में संबद्ध करना चाहता है, वहीं विषय-प्रवेश तो वास्तव में शोधप्रबंध में किए गए विषय-प्रतिपादन का ही अभिन्न भाग है, जिसमें भावी अध्यायों के विवेचन और विश्लेषण के लिए पृष्ठभूमि तैयार की जाती है।

शोधप्रबंध-लेखन की प्रक्रिया में पूर्व भाग के उपरांत शोधप्रबंध का मध्य भाग या मूल भाग प्रारंभ होता है। यह शोधप्रबंध का वास्तविक कलेवर है, अतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके लेखन में विशेष सावधानी, श्रम, निष्ठा और प्रातिभ क्षमता की आवश्यकता है। शोधकर्ता को ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक अध्याय अपने तथ्यात्मक और तत्त्वात्मक स्वरूप के कारण अन्य अध्यायों से अलग है, प्रत्येक अध्याय की अध्ययन-सामग्री पहले ही सुनिश्चित कर लेनी चाहिए और उसका सम्यक् विश्लेषण-विवेचन उसी अध्याय में पूरा हो जाना चाहिए।

उद्धरण का उपयोग किस रूप में करें! किसी अन्य की उक्ति को प्रस्तुत करना उद्धरण का शाब्दिक अर्थ है। व्यावहारिक स्तर पर किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा उच्चरित या लिखित उक्ति को अपने अभिमत की पुष्टि या अन्य विचारक के मत के खंडन के लिए मूल स्रोत से ग्रहण करके व्यवहार में लाना ही उद्धरण है। स्वमतों के मंडन तथा विरोधी मतों के खंडन के साथ ही बीच-बीच में प्रसंगवश आनेवाली आनुषंगिक अवधारणाओं के स्पष्टीकरण के लिए अन्य विद्वानों के शोधग्रंथों, समालोचनात्मक ग्रंथों, शोधलेखों आदि से उद्धरण लिए जाते हैं। इनके चयन में विशेष सावधानी की आवश्यकता है। इनका उपयोग शोध की गुणवत्ता को ध्यान में रखकर ही किया जाना चाहिए, अपने शोधप्रबंध को केवल दूसरों के उद्धरणों का संग्रह बनाना उचित नहीं होगा।

शोधछात्र के लिए केवल उद्धरण देना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् उस उद्धरण के स्रोत का परिचय देना भी आवश्यक होता है। उद्धरण ऊपर के कलेवर में रहता है और उसके स्रोत का परिचय पृष्ठ के निम्न भाग में किया जाता है। अतः उद्धरण और उसके स्रोत-परिचय में परस्पर संबंध स्थापित करने के लिए एक वैज्ञानिक पद्धति अपनाई जाती है, जिसे संदर्भोल्लेख या संदर्भ-निर्देश कहते हैं। स्रोत-ग्रंथ से सूचनाओं के उल्लेख के रूप में की गई यह एक पूरक प्रक्रिया ही पाद-टिप्पणी कहलाती है। इस सूचना में तीन बातें समाहित रहती हैं—लेखक का नाम, ग्रंथ का नाम और पृष्ठ संख्या। उद्धरण किसी पत्रिका से लिया गया है तो अंक-संख्या तथा प्रकाशन-काल का उल्लेख भी करना भी आवश्यक है। प्रकाशक, प्रकाशन-स्थान, प्रकाशन-काल, संस्करण आदि की सूचनाएँ शोधप्रबंध के अंत में 'परिशिष्ट' के अंतर्गत 'सहायक-ग्रंथ-सूची' में विधिवत् दी जाती हैं।

शोधप्रबंध के लेखन में विवेचन की प्रामाणिकता के लिए जितना उद्धरणों का महत्त्व है, उतना ही उद्धरणों की प्रामाणिकता के लिए उनके संदर्भोल्लेख का महत्त्व है। संदर्भ के उल्लेख के बिना उद्धरण का कोई मूल्य या महत्त्व नहीं होता है। संदर्भहीन उद्धरण अपनी पहचान और प्रामाणिकता खो देता है। संदर्भ का अर्थ है उद्धरण के मूल स्रोत और स्थान का सही-सही उल्लेख। कोई उद्धरण किस लेखक या कवि की किस पुस्तक के किस पृष्ठ से लिया गया है, इसकी सही जानकारी देना ही संदर्भोल्लेख है।

संदर्भ देने की भी कई पद्धतियाँ हैं। प्रतिपृष्ठ-पद्धति के अनुसार प्रत्येक पृष्ठ में प्रयुक्त उद्धरणों पर दिए गए उर्ध्वांकों से संबंधित पादटिप्पणियाँ उसी पृष्ठ के अधोभाग में अंकित कर

दी जाती हैं तथा अगले पृष्ठ पर फिर नए सिरे से ऊर्ध्वांक दिए जाते हैं। प्रतिपृष्ठ-पद्धति की कठिनाइयों को ध्यान में रखकर आगे चलकर 'अध्यायांत-पद्धति' का विकास हुआ। अब अधिकतर शोधछात्र पूरे अध्याय में प्रयुक्त उद्धरणों के लिए आरंभ से अंत तक क्रमिक रूप में ऊर्ध्वांक देते चलते हैं तथा इसी प्रकार अलग पृष्ठों पर उनसे संबद्ध टिप्पणियाँ क्रमबद्ध रूप में लिखते जाते हैं और उन्हें अध्याय के अंत में लगा देते हैं। 'कोष्ठक-पद्धति' में न तो ऊर्ध्वांक देने की आवश्यकता है और न ही पृष्ठ के अधोभाग में पादटिप्पणी के रूप में संदर्भोल्लेख की। इस पद्धति में तो संदर्भोल्लेख उद्धरण के सन्निकट ही उपस्थित रहता है।

संदर्भ में नामों का उल्लेख किया प्रकार किया जाए, यह प्रश्न भी उपस्थित रहता है। भारतीय नाम तो भारतीय संस्कृति के रंग में रंगे हुए होने के कारण उदात्त आशयों की अभिव्यक्ति करते हैं, उनके साथ छेड़छाड़ ठीक नहीं है। जैसे-हमारे यहाँ विश्वनाथ प्रसाद एक सांस्कृतिक आशय का द्योतक है, इसे 'प्रसाद, विश्वनाथ' करते ही वह अर्थ विखंडित हो जाता है। फिर कुछ नाम तो पलटने पर बड़े हास्यास्पद हो जाते हैं। सुंदरलाल को 'लाल, सुंदर' लिखना हास्यास्पद लगता है। प्रकाशन का उल्लेख करते समय पहले प्रकाशन के स्थान का तथा बाद में प्रकाशन का उल्लेख करना भी युक्तिसंगत नहीं है।

मंथन, चिंतन के पश्चात् अंतिम निर्णय पर पहुँचना ही निष्कर्ष है। शोधप्रबंध के प्रत्येक अध्याय की विभिन्न वैचारिक इकाइयों के मंथन के उपरांत कुछ निष्कर्ष दिए जाते हैं। फिर अध्याय के अंत में सारी वैचारिक इकाइयों के विश्लेषण की परिणति के रूप में पूरे अध्याय के निष्कर्ष दिए जाते हैं। विश्लेषण के आधार पर निष्कर्षण की यह प्रक्रिया शोधप्रबंध के अंत में प्रस्तुत 'उपसंहार' या 'निष्कर्ष' में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है। 'उपसंहार' में सारे अध्यायों के निष्कर्षों को संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

'उपसंहार' के पश्चात् शोधप्रबंध का पश्च भाग प्रारंभ हो जाता है, जिसे 'परिशिष्ट' कहा जाता है। शोधप्रबंध की प्रबंधात्मकता एवं समग्रता की यह नैसर्गिक माँग है कि शोधप्रबंध से सक्रिय एवं सजीव संबंध रखनेवाली फुटकर सामग्री को भी शोधप्रबंध के पश्च भाग में निर्धारित स्थान पर समाविष्ट किया जाए।

'परिशिष्ट' का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग है-संदर्भ-ग्रंथ-सूची। शोधप्रबंध-लेखन के समय प्रयुक्त विविध प्रकार के ग्रंथों की लेखकों के नामों के प्रथम वर्णों के आधार पर वर्णानुक्रम में व्यवस्थित सूची को संदर्भ-ग्रंथ-सूची कहा जाता है।

संशोधन : दोष-निवारण तथा परिष्कार : मौलिक रूप से तो शोधन और संशोधन का पूरा दायित्व शोधछात्र पर ही है। शोधप्रबंध के उत्कृष्ट या निकृष्ट होने का सारा उत्तरदायित्व भी उसी का है। यदि शोधछात्र पूरी दायित्व-भावना से शोधकार्य में प्रवृत्त होगा तो त्रुटियाँ होने की आशाकाँछ कम ही रहती हैं। शोधकर्ता को अपने शोध-निर्देशक के गहन ज्ञान से अवश्य ही लाभान्वित होना चाहिए। यदि शोधकर्ता नियमित रूप से प्रयासरत रहकर अपने प्रत्येक अध्याय को शोध-निर्देशक से संशोधित कराता चले तो उसे दोहरा लाभ होता है। उसे पहला लाभ तो यह होता है कि पूर्वलिखित अध्यायों की अशुद्धियों का निवारण या निराकरण होता

चलता है तथा दूसरा लाभ यह होता है कि उसे आगामी अध्यायों के शुद्ध लेखन की दिशा और दृष्टि मिलती चलती है।

निर्देशक के सुयोग्य मार्गदर्शन में शोधरत शोधकर्ता अपने स्तर में उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ शोधकर्ता से स्वयं ही संशोधक बन जाता है और शोध-निर्देशक के लिए कुछ करने को शेष बचता ही नहीं।

दोषों का सर्वाधिक पीड़क और अनायास दिखलाई पड़नेवाला रूप है वर्तनियों की अशुद्धियाँ। ये वर्तनी-संबंधी अशुद्धियाँ सबसे पहले दिखलाई पड़ती हैं और परीक्षक को सर्वाधिक क्षुब्ध करती हैं। 'प्रस्तावना' से ही वर्तनीगत अशुद्धियों का क्रम आरंभ हो जाता है। अनुग्रहीत के स्थान पर अनुग्रहीत, लब्धप्रतिष्ठ के स्थान पर लब्धप्रतिष्ठित, आशीर्वाद के स्थान पर आशीर्वाद आदि ऐसे ही उदाहरण हैं। विषय-सूची में पंचम, सप्तम, अष्टम, नवम के 'म' को हलन्त रूप (म्) में प्रयुक्त किया जाता है तथा षष्ठ अध्याय को भी 'षष्ठम् अध्याय' लिखा जाता है, जो उचित नहीं है। पादटिप्पणियों में द्रष्टव्य के स्थान पर बहुधा 'दृष्टव्य' ही लिख दिया जाता है। कुछ नामों की वर्तनियाँ प्रायः अशुद्ध पाई जाती हैं। अशुद्धियों के इस प्रवाह में लापरवाह टंकक भी अपना योग देने में नहीं चूकता। किसी भी प्रकार की अशुद्धियों को टंकक की अशुद्धियाँ कहकर टाला नहीं जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि इन सारी अशुद्धियों के लिए शोधछात्र ही उत्तरदायी है।

यों तो हिंदी के उद्धरणों में भी अशुद्धियाँ मिल जाती हैं किंतु संस्कृत के और अंग्रेजी के उद्धरणों में तो अशुद्धियों की भरमार रहती है।

पत्रिका के शोध अंक निरंतर प्रकाशित होते रहें, इसके लिए शोध-निर्देशकों, शोधछात्रों एवं शोधप्रेमियों से आग्रह है कि वे अपने शोध-आलेख निरंतर प्रेषित करते रहें। शोध-आलेख टंकित रूप में होने चाहिए। कंप्यूटर पर टाइप कराने के बाद उसकी एक सी०डी० अवश्य भेजें। सी०डी० में फॉन्ट की कॉपी भी करें। यदि शोध-आलेख में उचित संदर्भ नहीं दिए गए हैं तो उसे शोधपत्र की मान्यता नहीं मिल पाएगी, अतः आलेख में उचित संदर्भ अवश्य दें।



डा. गिरिराजशरण अग्रवाल
संपादक

अनुक्रम

नारी-अस्मिता : परंपरा, प्रगति और प्रयोग / डॉ० मिथलेश दीक्षित	11
गांधी का भाषा-चिंतन : हिंदी और अन्य भारतीय भाषाएँ/ डॉ० कमलकिशोर गोयनका	18
आधुनिक हिंदीकवियों की काव्य-दृष्टि / कु० रूबीना इकबाल	30
यादवेंद्र शर्मा चंद्र के उपन्यासों में यथार्थ / डॉ० पूनम शर्मा	36
संप्रत्यय निर्माण में विद्यालय वातावरण के प्रभाव का अध्ययन/ डॉ० शची त्रिपाठी, डॉ० शिल्पी शर्मा, श्रीमती सुषमा अग्रवाल	47
महाकवि प्रसाद की मूल्यचेतना एवं समन्वय-दृष्टि/ डॉ० मिथलेश दीक्षित, श्रीमती ज्योत्सना सिंह	55
हरिमोहन के उपन्यास 'अकेले-अकेले साथ' की औपन्यासिक संरचना / सोनिका	65
'वन्स मोर'- वीर अभिमन्यु! / डॉ० अशोक उपाध्याय	77
हिंदी-साहित्य में रेखाचित्र का तत्त्व-निरूपण / राजेशकुमार यादव	85
चंदवरदायी के काव्य में विज्ञान-सम्मत दृष्टिकोण / डॉ० रामनारायण	91
गिरिजाकुमार माथुर की कविता में वैज्ञानिक तत्त्व / डॉ० रामनारायण	95
कालिदास की शकुंतला एवं तुलसी की सीता का सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मूल्यांकन / डॉ० श्यामधर तिवारी	99
पुराणों में नारी-चरित्र / डॉ० शारदा शर्मा	101
जैनेंद्र के उपन्यासों में नारी-पात्रों की उन्मुक्तता / कुलदीप	118
स्वतंत्रता-पश्चात् जूनागढ़ की विलय की समस्या का समाधान / वीजेंद्रसिंह	132
तुलसी साहित्य में सीता का स्वरूप / वेदप्रकाश मिश्र	136
काका के काव्य में उत्तर आधुनिकता / लक्ष्मी चौहान, डॉ० रानीबाला गौर	146
काका हाथरसी के काव्य में शिवत्व / लक्ष्मी चौहान, डॉ० रानीबाला गौर	151
भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति के निर्धारक तथा 1990 के दशक से इसमें आए परिवर्तन / सुदीपकुमार, डॉ० रोचना मित्तल	157
'अरुंधती' महाकाव्य का वस्तु और शिल्प-विधान / डॉ० सभापति मिश्र	165
वामनोक्त गुण एवं उनकी सूक्ष्म चिंतन दृष्टि / डॉ० अल्पना जोशी	170

दसवें दशक की हिंदी-कहानियों में राजनीतिक उच्चवर्ग का चित्रण/ सुभाषकुमार, डॉ० मीना अग्रवाल	174
भवानीप्रसाद मिश्र के काव्य में प्रकृति-चित्रण/ राजेशकुमार एवं डॉ० अनूप वशिष्ठ	186
रामधारी सिंह 'दिनकर' के गद्य साहित्य में राष्ट्रीय बोध / संदीपकुमार यादव	191
समकालीन कविता की कालावधि / डॉ० रमाकांत पांडेय	197
भीष्म साहनी के नाटक 'कबिरा खड़ा बजार में' में मिथकीय दृष्टि/ डॉ० (श्रीमती) स्वर्णलता दहिया	203
गुजरात के हिंदी-सेवी मनीषी : डॉ० अंबाशंकर नागर / डॉ० नीरू रस्तोगी	207
अंबेडकरवाद एवं दलित स्वतंत्रता सिद्धांत / डॉ० राजेशकुमार	210
आधुनिक हिंदी-गीतकारों का संगीत-ज्ञान और उन पर संगीत का प्रभाव डॉ० मीना अग्रवाल	215

नारी-अस्मिता : परंपरा, प्रगति और प्रयोग

डॉ० मिथलेश दीक्षित

रीडर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग

बी०डी०एम०एम० (पी०जी०) कालेज, शिकोहाबाद (उ०प्र०)

पश्चिम का 'नारीवाद' (फ़ेमिनिज़्म) अब भारत में भी चर्चित हो रहा है। मेरी दृष्टि में, 'नारीवाद' या 'पुरुषवाद' नाम से चलाए जानेवाले आंदोलन अपने देश में सफल नहीं हो सकते। साहित्य के क्षेत्र में पुरुष और स्त्री का विभाजन उचित नहीं है। साहित्य का प्रयोजन केवल आक्रोश, विद्रोह और प्रतिक्रिया व्यक्त करना ही नहीं है। साहित्य में 'सहित' का भाव है, पृथक्ता या अलगाव का नहीं। नलिनी उपाध्याय ने नारी की संपूर्ण अस्मिता की अभिव्यक्ति को आवश्यक मानते हुए लिखा है कि 'विश्व की स्त्रियाँ यह सोचने लगी हैं कि किस प्रकार स्वतंत्र सोच से अपनी स्थिति, गति और गंतव्य के लिए प्रयत्न करें, किस तरह वे पुरुष-समाज में नर के संपूर्ण वर्चस्व को चुनौती दें, किस तरह वे प्रचलित विधि, क़ानून और व्यवस्था में अपने उचित अधिकार पा सकें, किस भाँति वे पुरुषों द्वारा अपने पक्ष में रचित आचरणसंहिताओं, स्मृति, धर्मशास्त्र, शरीयत इत्यादि में, विरोधी धाराओं में परिवर्तन करा सकें।' ¹ नारी-जाग्रति और नारी-मुक्ति के प्रश्न बहुत समय से अनुत्तरित रहते आए हैं। पूर्व की अपेक्षा पश्चिम की महिलाएँ शिक्षा आदि के कारण अधिक जाग्रत रही हैं और अपने अधिकारों के लिए भी अधिक सचेष्ट रही हैं, इसीलिए 'फ़ेमिनिज़्म' आंदोलन का सूत्रपात भी वहीं से हुआ था। नलिनी ने स्पष्ट किया कि सिमोन द बुआ की 'दी सेकेंड सेक्स' एवं बेडी फ़्रायडन की 'दी फ़ेमिनीज़ मिस्टिक' पुस्तकों ने नारी-समाज में तहलका मचा दिया। इन दोनों पुस्तकों ने आधुनिक यूरोप और अमेरिका में नारी की पराधीन दशा को रेखांकित किया। सोवियत रूस में क्रांतिकाल में दो महिलाओं ने विस्मयजनक कार्य किया था। उनका मत था कि नारी की मुक्ति का रहस्य इस बात में है कि उसे प्रेम से अधिक महत्त्व कार्य को देना चाहिए। इसी तरह सामाजिक क्रांतिकारी नारियों में श्रेष्ठ सुश्री कोलोन्ताय तथा स्त्री डोनोवा ने समता और रोमांस की जगह सामाजिक कार्य को नारी-मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय बताया। ² वस्तुतः यही स्वस्थ सोच है। महादेवी ने हमें आश्वस्त कर दिया था, 'हमें जीवन में कर्महीनता और निराशा का दामन कभी नहीं थामना चाहिए, क्योंकि काँटों के बीच ही सजीले फूलों का रंग मिलता है।'

जाति-भेद और नारी-शोषण का विरोध दर्शित करने वाली अफ्रीका की प्रसिद्ध महिला उपन्यासकार टोनी मॉरिसन (नोबेल पुरस्कार विजेता) का भारतीय कथा-लेखिकाओं

पर कम प्रभाव नहीं पड़ा। हिंदी-रचनाकार जयशंकर प्रसाद और मुंशी प्रेमचंद तथा रचनाकर्त्री महादेवी वर्मा के साहित्य का भी महिला रचनाकारों पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा है, इसमें संदेह नहीं। प्रसाद ने नारी को आदर्श रूप में देखा, प्रेमचंद ने यथार्थ को भी परखा। उसके बाद चाहे कथा-लेखक हों या कथा-लेखिकाएँ उनकी रचनाएँ कहीं-न-कहीं नारी-अस्मिता, नारी-चेतना और नारी-संघर्ष से जुड़ी हैं, जहाँ नारी की परंपरागत बेड़ियों से स्वतंत्र होने के लिए छटपटाहट दिखाई देती है। महादेवी के स्वरों में भी हमें आक्रोश दिखाई देता है, 'नारी केवल मांस पिंड की संज्ञा नहीं है। आदिमकाल से आज तक विकास-पथ पर पुरुष का साथ देकर, उसकी यात्रा को सरल बनाकर, उसके अभिशापों को स्वयं झेलकर और अपने वरदानों से जीवन में अक्षय शक्ति भरकर, मानवी ने जिस व्यक्तित्व, चेतना और हृदय का विकास किया है, उसी का पर्याय नारी है।' ³ 'शृंखला की कड़ियाँ' में आशा से पूर्ण वेगवती हुंकार दिखाई देती है, 'भारतीय नारी भी जिस दिन अपने संपूर्ण प्राण-वेग से जाग उठे, उस दिन उसकी गति रोकना किसी के लिए संभव नहीं।' ⁴

समाज में संघर्ष हर जगह है और संघर्ष केवल महिलाओं को ही नहीं, पुरुषों को भी झेलने पड़ते हैं। संघर्षों को पार करना ही जीवंतता का परिचायक है। नारी को ये संघर्ष अब स्वीकार्य हैं। अब वह समाज में अपने कर्तव्यों के प्रति भी सचेत होने लगी है। कुछ विचारक नारीवादी आंदोलन को हितकर मानते हैं। डॉ० नितीन मेहता के अनुसार— नारीवादी साहित्य यह तो स्पष्ट करता है कि लेखिकाओं और महिला-पाठकों को विरोधी प्रवाह में ही तैरना है। यहाँ यह याद रखना भी जरूरी है कि यह आंदोलन केवल पुरुषों के विरोध में ही नहीं है, बल्कि अपनी पूर्ण स्थापित इमेज के विरुद्ध भी है और अपनी आत्मसंज्ञा तथा अस्मिता पाने के लिए भी है, सच्ची अस्तित्वनिष्ठ संभावनाओं का विस्तार इस नारीवादी आंदोलन में देखना होगा। ⁵

भारत में नारी-अस्मिता का प्रश्न, वस्तुतः भारत की सांस्कृतिक और राष्ट्रीय अस्मिता का प्रश्न है। राष्ट्रीय आचार-संहिता में नारी के कर्तव्यों से संबंधित उपदेशों के लिए सैकड़ों पोथियाँ भरी पड़ी हैं, नारी के अस्तित्व और व्यक्तित्व पर सदियों से प्रश्नचिह्न लगते रहे हैं। नारी वस्तु है या व्यक्ति, यह समस्या अनिर्णीत ही बनी रही। सैद्धांतिक रूप से तो भारतीय नारी विद्या की देवी सरस्वती, शक्ति की देवी दुर्गा और ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी की साक्षात् प्रतीक है, परंतु व्यावहारिक रूप से लगातार होते आ रहे उसके शोषण की कहानी वहीं से शुरू हो जाती है, जब धरती का भी हृदय विदीर्ण हो गया था, क्योंकि जीते-जी जलना उसकी नियति बन गई है। चाहे दक्ष का यज्ञ-मंडप रहा हो, चाहे अयोध्या का अग्निपरीक्षा प्रसंग और चाहे वर्तमान में दिल्ली का तंदूरी-कांड। इस पितृसत्तात्मक देश में प्रकांड वीरों का ऐसे कांडों में पूरा हाथ रहा है। पुरुषप्रधान सामाजिक व्यवस्था में दोगम दर्जे पर मान्यता प्राप्त 'नारी' नामक जीवधारी कहीं-कहीं पर भरपेट भोजन का अधिकार तो पा गया है, परंतु जी पाने की पूर्ण सुरक्षा के लिए मोहताज है, आश्रित है पिता पर, पति पर, भाइयों और बेटों पर। भयभीत है समाज की खोखली मान्यताओं से और शक्ति है अपने जीवन और भविष्य पर। विडंबना यह भी रही कि सतीप्रथा, बाल-विवाह, अशिक्षा जैसी बहुत-सी कुप्रथाएँ समाज में पनपती रहीं और नारी के कारण ही फलती-फूलती रहीं और कतिपय नारियाँ उनके दुष्परिणामों को

झेलते हुए भी अनभिज्ञ बनी रहीं अपनी बरबादियों से।

नारी-अस्तित्व के अतीत का सैद्धांतिक पक्ष लिया जाए, तो दिव्य और महान गुणों के कारण वह प्रकृति का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है कि दया, माया, ममता, मधुरिमा, आस्था, अस्मिता, धृति, क्षमा, मैत्री, मुदिता, लक्ष्मी, श्री, वाणी, गिरा, शक्ति, क्षमता, स्मृति आदि जाने कितने महनीय शब्द उसी के कारण भाषा के अस्तित्व में आए। वह सौंदर्य बिखराने के कारण वामा, लज्जा से संकुचित होने के कारण स्त्री, शत्रुहित होने के कारण नारी, पूज्या होने के कारण महिला, पुरुष को जन्म देने के कारण जाया, निर्माण करने के कारण माता, जनन करने के कारण जननी है। भारतीय संस्कृति की धर्म-परंपरा में स्त्रीमूर्ति मान्य हुई है, न कि पुरुषमूर्ति। त्रिदेवों की शक्ति-रूपा दुर्गा का वाहन सिंह है। हिंसकवृत्तियों पर अंकुश रखने का साहस भी नारी का सहज गुण है। शिक्षा, जागृति, प्रखर विवेक शक्ति, मानवीय बोध और राष्ट्रीय चेतना के द्वारा इस गुण का विकास हो सकता है और किशोर तथा युवा वर्ग की अनेक प्रकार की विकृतियों का अप्रत्यक्ष कारण बनी नारी इस पीढ़ी को विनाश के मार्ग से बचा सकती है। परिवार में बालक के लिए प्रथम गुरु माता ही होती है। बालक के स्वस्थ व्यक्तित्व की मजबूत नींव परिवार से ही पड़ती है। एक स्त्री के व्यक्तित्व की सही भूमिका यहीं से प्रारंभ होती है, पुत्री के रूप में भी और माता के रूप में भी।

नारी पर अत्याचार इसीलिए अधिक होते हैं, क्योंकि वे सहे जाते हैं और अन्य पर जब होते हैं, तो मूकदर्शक बनकर, निर्विकार होकर देखे जाते हैं। मैंने एक स्थान पर कहा भी था (प्रसंगवश पुनरुक्ति आवश्यक है) कि स्त्री को अपनी शक्ति का ज्ञान भी होना चाहिए और पहचान भी। स्त्री-स्वातंत्र्य या स्त्री-जागरण का यह अर्थ भी है कि उसे अन्याय, अत्याचार, अनैतिकता और शोषण का विरोध करना है। उचित, नैतिक, न्यायोचित विषय के लिए और श्रेयस्कर बातों के प्रति सहयोग और इनके विपरीत बातों के प्रति असहयोग भी करना है। विनय और सहनशीलता निःसंदेह स्त्रियों के आभूषण हैं, लेकिन इसके साथ ही साथ बगावत भी जरूरी है। बगावत और विनयशीलता में बहुत अंतर है भी नहीं। उचित और सही समझकर कोई अच्छी बात मान लेना विनयशीलता है और अनुचित आज्ञा, आदेश या बात को न मानना बगावत है। आज नारी को प्रत्येक क्षेत्र में अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़नी है। यदि उसमें तनिक भी स्वाभिमान और जागृति होगी, तो वह अवश्य ही बुराइयों से लड़ने की हिम्मत कर सकेगी। आज के परिवेश में महिलाओं के लिए साक्षरता से भी अधिक आवश्यकता जागृति की है और जागृति शिक्षा की सार्थक पद्धति से भी प्राप्त होगी।

अब तो स्त्रियों के लिए बेरोजगारी की समस्या भी उठ खड़ी हुई है। घर-परिवार की सीमा-रेखा पार कर आज नारी नौकरी और रोजगार ढूँढने को विवश हो जाती है। अपहरण, हत्या, धोखा, छल, निष्कासन-यहाँ तक कि वस्तुओं की भाँति क्रय-विक्रय की वारदातें भी स्थान-स्थान पर दिखाई पड़ रही हैं। आज उसके अस्तित्व को ही खतरा नहीं, उसकी सुरक्षा की भी समस्या है। शोषण भी बंद नहीं हुआ, पहले घर तक सीमित था, अब बाहर भी होने लगा है। हम नहीं चाहते कि हिंसा के बदले नारी कभी हिंसा का मार्ग अपनाए, परंतु विरोध तो कर ही सकती है, क्योंकि अत्याचार तभी और अधिक किया जाता है, जब वह सहा जाता है।

जागृति का अर्थ उन्मत्तता और स्वच्छंदता नहीं है और न पुरुषों के बराबर, उनके जैसा या उनसे आगे जाना है। स्त्री का अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी है और उसमें प्रकृतिप्रदत्त अपने विशिष्ट सहज गुण भी हैं। साथ ही स्त्री और पुरुष दोनों जीवन के दो महत्वपूर्ण पक्ष हैं, जो एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। जीवन के कुछ क्षेत्रों में तो स्त्री के दायित्व पुरुष से भी बढ़कर हैं। पूरे परिवार की व्यवस्था की वह स्वामिनी होती है। राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में भी यह बात समझनी चाहिए कि सामाजिक बुराइयों को अब स्त्री-शक्ति द्वारा पहल करने पर ही आसानी से दूर किया जा सकता है। सही रूप में आधुनिक बनने के लिए फैशन या शारीरिक सज्जा आवश्यक नहीं, विचारों में परिवर्तन होना आवश्यक है। जहाँ तक स्त्री-पुरुष के समानाधिकार की बात है, उसके लिए कोरे उपदेश नहीं, क्रियान्वयन की आवश्यकता है।

मेरी दृष्टि में नारी पूजा बन सके, न बन सके, परंतु 'भोग्या' बनने के अभिशाप और अहसास से उसे बचना है। अतः अब मानवीय धरातल पर संवेदनात्मक सोच की आवश्यकता है और सर्वदा नवीन दृष्टिकोण से आकलन की आवश्यकता है। वर्तमान भारतीय परिवेश पश्चिमी प्रभाव से ग्रस्त है, परंतु पश्चिम के देशों का अंधानुकरण पूरी तौर पर यहाँ की स्त्रियाँ कर भी नहीं सकतीं। पश्चिम जैसा 'विमेन लिब' आंदोलन हमारे राष्ट्र के परिवेश में साँसें नहीं ले सकता। वह आंदोलन भी पुरुषों के अनुकरण की दौड़ के कारण ही असफल हो गया था। अपने अधिकारों के लिए लड़ने से पहले वह अपने कर्तव्यों की ओर भी दृष्टिपात कर ले, तो अधिक अच्छा होगा, क्योंकि एक भी व्यक्ति के क्रिया-कलाप का पूरे समाज पर प्रभाव पड़ता है। स्त्री को अपने अधिकार-क्षेत्रों की जानकारी होना अत्यंत आवश्यक है, तभी वह अपने कर्तव्यों की सीमाएँ पहचान सकती है। उसे किससे लड़ाई लड़नी है— स्वयं से या पुरुष से या व्यवस्था से। उसे किससे मुक्ति चाहिए— अपनी हीन भावनाओं से, समाज की रूढ़ियों-कुप्रथाओं से या पुरुष के द्वारा सृजित किसी टकराव या विसंगति से? इनका उत्तर या समाधान यही है कि समुचित कार्य-विभाजन और परस्पर पूरकता के साथ परस्पर सहयोग अत्यंत आवश्यक है। एक स्थान पर तारा परमार ने आशारानी बहोरा का कथन उद्धृत किया है, 'अधिकार माँगने की नहीं, अर्जित करने की चीज़ है। माँगने से मिलते नहीं, लड़कर छीनने से टकराव पैदा होता है, पर अर्जित किए अधिकारों को कोई रोक नहीं सकता। दूसरी बात, स्त्री द्वारा स्त्री का शोषण बंद किए बिना पुरुष-शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाने का कोई अर्थ नहीं, न ही अपनी लक्ष-लक्ष अनपढ़ व पिछड़ी बहनों को साथ लिए बिना कुछ मुट्ठी-भर महिलाओं की प्रगति के कोई मायने हैं। तीसरी बात, स्त्री, पुरुष के सदियों के संस्कार किसी कानूनी सुधार के झटके से बदले नहीं जा सकते, न ही इन सुधारों को टकराव पैदा करनेवाले आंदोलनों के माध्यम से पाया जा सकता है। यह भी कि पुरुष के लिए स्त्री के सहयोगी हाथ को झटकना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रायः असंभव ही होता है। तो निदान क्या है? और उपाय क्या है? निदान को समझकर ही उपाय कारगर हुआ करता है। आज के विकारग्रस्त समाज और अपसंस्कृति के आकाशीय हमले को समझने के लिए नारी-मुक्ति की पश्चिमी हवाओं के थपेड़ों को समझना होगा।' ⁶

एक व्यक्ति के सही होने से पूरे परिवार और समाज में सुधार आता है। समाज से पूरे देश का सुधार संभव है। कोई भी देश पूरे विश्व की इकाई होता है। हम केवल अपने

देश के सामयिक परिवेश को देखते हुए ही आकलन करें, तो स्पष्ट हो जाता है कि आज प्रत्येक क्षेत्र में महिलाओं ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है और निभा रही हैं। प्रसिद्धि के शिखरों पर पहुँचने वाली सहस्राधिक महिलाएँ हैं, जो न केवल महिलाओं के लिए, अपितु पूरे देश के लिए प्रेरणा का विषय बनी हुई हैं। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती, महात्मा गांधी, स्वामी विवेकानंद, आचार्य विनोबा भावे, ज्योति बा फुले आदि महापुरुषों के प्रयासों से देश की महिलाओं की स्थितियों, विशेष रूप से आर्थिक और शैक्षिक स्थितियों में सुधार आया था। वे प्रयास अन्य अनेक महानुभावों के प्रयासों से जुड़ते हुए आज विविध क्षेत्रों में, अनेकानेक स्वरूपों में प्रतिफलित हो रहे हैं। आज पुलिस विभाग हो या क्रीड़ा विभाग; एवरेस्ट की चढ़ाई हो या अंतरिक्ष यात्रा और विमानचालन; फ़िल्म इंडस्ट्री हो या उद्योग-विभाग; राजनीति हो या शिक्षा जगत्; साहित्य हो या कला और संस्कृति; विज्ञान हो या तकनीकी क्षेत्र—सभी क्षेत्रों में महिलाएँ अपने दायित्वों को विस्तृत आयाम दे रही हैं। प्रिंट मीडिया और दृश्य मीडिया में महिलाओं की भागीदारी देखते हुए, हम गर्व से कह सकते हैं कि विश्व में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। ज्योत्स्ना सिटलिंग ने इंडियन फोरेस्ट सर्विस में नाम कमाया, कल्पना चावला एवं सुनीता विलियम्स ने अंतरिक्ष अभियान में, किरण बेदी ने पुलिस विभाग में, अमृता प्रीतम, पद्मा सचदेव, सुधामूर्ति आदि अनेक महिलाओं को पद्मश्री पुरस्कार मिला है। किरण देसाई और अरुंधती राय ने बुकर पुरस्कार प्राप्त किए। अरुणा राय के प्रयासों से ही देश में सूचना का अधिकार नियम लागू हुआ। किरण बेदी ने मैग्सेसे पुरस्कार प्राप्त किया। राजनयिकों में सरोजिनी नायडु, विजयलक्ष्मी पंडित तथा इंदिरा गांधी के नाम अविस्मरणीय हैं। वर्तमान में महामहिम प्रतिभा पाटिल, सोनिया गांधी, मायावती महत्त्वपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित हैं। इंदिरा नूई तथा सोनिया गांधी की गणना (फोर्ब्स पत्रिका के अनुसार) विश्व की सशक्त महिलाओं में की जा रही है।

अमर उजाला की टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है— ‘किसी भी क्षेत्र में महिलाएँ पुरुषों से पीछे नहीं हैं। अब तो सेनाओं में शामिल होकर देश की रक्षा करने में भी वे पुरुषों की बराबरी कर रही हैं।’⁷ कला के क्षेत्र में अमृता शेरगिल और माधवी पारिख की तुलना नहीं। फ़िल्म जगत में मधुबाला, मीनाकुमारी, वहीदा रहमान, वैजयंतीमाला, शबाना आजमी, ऐश्वर्या राय आदि ने प्रसिद्धि प्राप्त की। ‘छोटे परदे की मल्लिका’ एकता कपूर ने प्रोडक्शन के क्षेत्र में अपना सिक्का जमाया। नृत्य-संगीत के क्षेत्र में सोनल मानसिंह, मृणालिनी साराभाई, यामिनी कृष्णमूर्ति, गिरिजादेवी आदि बहुत प्रसिद्ध हुईं। हिंदुस्तान समूह की शोभना भरतिया, महेंद्रा एंड महेंद्रा समूह की अनुधारा महेंद्रा, गोदरेज घराने की तान्या गोदरेज दुबाष, मफतलाल समूह की शीतल मफतलाल, काइनेटिक हॉन्डा की सुलज्जा फिरोदिया मोटवानी, पारले समूह की सोना चौहान, राजश्री समूह की राजश्री पैथी, स्वाति पीरामल आदि-आदि कुछ ऐसे हैं, जिन्होंने पारिवारिक व्यवसाय में अपना एक अलग मुकाम हासिल किया।⁸ जमनालाल बजाज परिवार की प्रमुख उद्योगपति महिला किरण बजाज साहित्य कला-संस्कृति तथा पर्यावरण के क्षेत्र में ‘शब्दम्’ एवं ‘पर्यावरण मित्र’ संस्थाओं द्वारा महत्त्वपूर्ण कार्यों में संलग्न हैं। ‘राजस्थान की शोषित नारी भँवरीदेवी के प्रयासों से बाल-विवाह-प्रथा पर रोक लगाई गई। आंध्र प्रदेश और हरियाणा की मध्यम वर्ग की स्त्रियों ने शराब के सेवन पर रोक लगाने में सफलता प्राप्त की।

गढ़वाल की ग्रामीण स्त्रियों के 'चिपको आंदोलन' के प्रयास सफल हुए और पेड़ों की कटाई बंद होने लगी। 'नर्मदा बचाओ' आंदोलन की सूत्रधार मेधा पाटेकर ने इस प्रयोजन हेतु महिलाओं को जाग्रत किया। महिला उद्योग 'लिज्जत पापड़' अब लाखों परिवारों की रोजी-रोटी का साधन बन गया है।⁹

समाजसेवा, धर्म, अध्यात्म, दर्शन, संस्कृति, शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में महिलाओं का योगदान सराहनीय रहा है। मदर टेरेसा और श्रीमाँ, भगिनी निवेदिता के प्रदेय को भुलाया नहीं जा सकता। मदर टेरेसा ने भारत की महिलाओं को सेवा का पाठ पढ़ाया। श्रीमाँ ने महर्षि अरविंद के 'अति मानस' दर्शन को मनुष्य में दिव्यत्व की परिकल्पना द्वारा सार्थक किया। गार्गी, मैत्रेयी आदि से हमारे यहाँ ज्ञान की जो अजस्र धारा प्रवाहित होती रही, उसमें अब तक हजारों महिलाओं के नाम अग्रगण्य हैं। साहित्य-जगत् में काव्य के क्षेत्र में भक्ति-काल में मीरा ने कृष्ण-भक्ति की भावधारा प्रवाहित की थी। वर्तमान काल में महादेवी वर्मा, सरोजिनी नायडू, सुभद्राकुमारी चौहान, सुमित्राकुमारी सिन्हा ने अपने प्रकृति-चित्रण तथा राष्ट्रीयबोध से परिचित कराया। सावित्री डागा, सुधा गुप्ता, इला डालमिया, इंदु जैन, स्नेहलता स्नेह, विद्यावती कोकिल, कंचनलता सब्बरवाल, सरोजिनी प्रीतम, सावित्री शर्मा, इंदिरा नूपुर, कुसुम बंसल, तेजी ग्रोवर, स्नेहमयी चौधरी, विद्याबिंदु सिंह, मिथिलेश दीक्षित, उर्मिला कौल, राजकुमारी शर्मा, शशि तिवारी, मीना अग्रवाल, पल्लवी प्रशांति, इंदिरा अग्रवाल, शैल रस्तोगी आदि कवयित्रियाँ अपनी रचनाधर्मिता से काव्य-साहित्य को समृद्ध कर रही हैं। 'साहित्य अकादमी' पुरस्कार प्राप्त करनेवाली महिला काव्यकारों में निर्मल प्रभा, अमृता प्रीतम, पद्मा सचदेव, नवनीता देवसेन, प्रभुजोत कौर, बी० सुगंधकुमारी, मंजीत तिवाना, बालामणि अम्मा नलपत आदि प्रमुख हैं। 'अखिल भारतीय कवयित्री सम्मेलन' (AIPC) भारत की एक बड़ी साहित्यिक संस्था है, जिसमें देश के सभी प्रांतों की प्रसिद्ध रचनाकत्रियाँ सदस्य हैं और अन्य देशों में भी भारतीय साहित्य का इस संस्था के माध्यम से प्रतिनिधित्व कर रही हैं।

महिला कथाकारों में आशापूर्णा देवी, महाश्वेता देवी, उषादेवी मित्रा, निरुपमा सेवती, अमृता प्रीतम, कृष्णा सोबती, शिवानी, दिनेशनदिनी डालमिया, रजनी पनिकक, मन्नु भंडारी, मृणाल पांडेय, शशिप्रभा शास्त्री, उषा प्रियंवदा, मालती जोशी, मेहरुन्सिसा परवेज़, चंद्रकिरण सोनरेक्सा, दीप्ति खंडेलवाल, ममता कालिया, चित्रा मुद्गल, मृदुला गर्ग, मंजुल भगत, सावित्री परमार, सुधा अरोड़ा, सूर्यबाला, निर्मला जैन, इंदु जैन, नासिरा शर्मा, प्रभा खेतान, नमिता सिंह, उषा यादव, मैत्रेयी पुष्पा, राजी सेठ, सुनीति उदयवार, उमाराव, तुलसी वेणुगोपाल, एम०के० विनोदिनी देवी, कमलादास, अनिता देसाई, शशि देशपांडे, कुसुम बंसल, सिम्मी हर्षिता, तेजी ग्रोवर, पोपटी हीनानंदानी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

पत्रकारिता के क्षेत्र में भी देश की महिलाओं ने अनेक नवीन क्षितिज खोले हैं। अनेक बड़े पुरस्कारों को प्राप्त करनेवाली प्रसिद्ध रचनाकत्री महाश्वेता देवी ने पत्रकारिता के क्षेत्र में आदिवासियों की समस्याओं के चित्रण से तहलका मचा दिया था। नलिनी सिंह ने टी०वी० पत्रकारिता में तथा 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' की संपादक मृणाल पांडेय ने प्रिंट मीडिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। अरुंधती राय, जिन्हें 'गॉड ऑफ स्मॉल थिंग्स' पर बुकर पुरस्कार मिला था, ने भी पत्रकारिता को महत्त्व दिया। उपर्युक्त तीनों महिलाएँ खोजी पत्रकारिता की

सशक्त हस्ताक्षर हैं। 'ऋता' त्रैमासिक की महिला संपादक ने पत्रकारिता के क्षेत्र में आस्थावादिता और मानवीय मूल्यों का समावेश किया तथा उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान से दो बार पुरस्कार प्राप्त किया। 'नवभारत टाइम्स' की संवाददाता के रूप में मणिमाला ने प्रसिद्धि प्राप्त की। साहित्य-अकादमी पुरस्कार प्राप्त तेलुगु पत्रकार मालती चंदर का नाम भी बड़े सम्मान से लिया जाता है।

अपने देश में विदुषी प्राध्यापकों और वैज्ञानिकों की भी कमी नहीं है। शोध एवं समीक्षा के क्षेत्र में भी शताधिक महिला-समीक्षक सृजनरत हैं। शिक्षा एवं साहित्य की अपेक्षा विज्ञान और टैक्नीकल क्षेत्र में जाना इस नई पीढ़ी की युवतियों को अधिक रुचिकर लग रहा है। आत्म-विश्वास एवं आत्म-निर्भरता का बोध पढ़ने से महिलाओं के कार्यक्षेत्रों में भी विस्तार आता जा रहा है। महिलाओं की शिक्षा तथा आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने के लिए, उन्हें स्वावलंबी बनाने के लिए शासन एवं प्रशासन द्वारा अनेक योजनाएँ संचालित हो रही हैं और उन्हें अनेक प्रकार की सुविधाएँ दी गई हैं। फिर भी भारत के अनेक पिछड़े क्षेत्रों में, महानगरों में भी अशिक्षित महिलाओं की स्थिति चिंताजनक है। खेतिहर, मजदूर, खानों-खदानों में काम करने वाली, घरेलू सेविकाओं की स्थिति ठीक नहीं कही जा सकती। वे शोषणग्रस्त हैं। धर्मभीरुता, रुढ़िग्रस्तता, अशिक्षा, पिछड़ापन आज भी अधिकांश स्त्रियों के लिए अभिशाप है। शासन के सहयोग के साथ-साथ पूरे समाज की मानसिकता में बदलाव की आवश्यकता है। समाज के सभी स्त्री-पुरुष चाहेंगे, तो सफलता में विलंब नहीं लगेगा। केरल का उदाहरण सामने है। पश्चिमी बंगाल, बिहार, उड़ीसा की आदिवासियों, श्रमिकों और मध्य प्रदेश के आदिवासी क्षेत्रों की दलित महिलाओं की स्थिति से वहाँ की स्थिति में बहुत अंतर है। इस अंतर को मिटाने के लिए हमारा मिला-जुला प्रयास अवश्य सार्थक होगा और सशक्त वैचारिक क्रांति से महिला-सशक्तीकरण के मार्ग अवश्य प्रशस्त होंगे।

संदर्भ

1. नारी-लेखन : पत्रकारिता के संदर्भ में, शोधालेख, नलिनी उपाध्याय
2. नारी-लेखन : पत्रकारिता के संदर्भ में, शोधालेख, नलिनी उपाध्याय
3. शृंखला की कड़ियाँ, आमुख, महादेवी वर्मा
4. शृंखला की कड़ियाँ, आमुख, महादेवी वर्मा
5. आधुनिक कथासाहित्य में नारी : स्वरूप और प्रतिमा-सं.डॉ० उमा शुक्ल, डॉ० माधुरी छेड़ा, पृ० 176
6. महिला सृजन के विविध आयाम- सं.डॉ० तारा परमार, पृ० 2
7. अमर उजाला, 21 दिसंबर, 2008
8. दैनिक जागरण, 4 अगस्त, 2008
9. मेधाविनी, 2006-07, पृ० 105

□ 699, सरस्वती नगर
शिकोहाबाद (फिरोजाबाद) उ०प्र०

गांधी का भाषा-चिंतन : हिंदी और अन्य भारतीय भाषाएँ

डॉ० कमलकिशोर गोयनका

बीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में दक्षिण अफ्रीका में कर्मशील रहते हुए मोहनदास करमचंद गांधी का बाहरी दुनिया में आविर्भाव होता है। दक्षिण अफ्रीका में रहते हुए गांधी के भारत से संपर्क तो थे ही, वे विश्व की गतिविधियों के भी संपर्क में थे। गांधी जब सन् 1915 में स्थायी रूप से भारत लौटे तो उनके व्यक्तित्व तथा कृतित्व के विविध रूप सामने आ चुके थे। वे अब प्रवासी भारतीयों के ही नहीं, बल्कि भारत की जनता की गुलामी एवं पश्चिम की राक्षसी सभ्यता से देश को मुक्त कराने वाले अहिंसक महानायकों के स्थान तक पहुँच चुके थे और सन् 1909 में लिखी अपनी पुस्तक 'हिंदी स्वराज्य' से तो वे नवजागरण के मूल मंत्र— स्वराज्य, स्व-संस्कृति तथा स्व-भाषा के राष्ट्रीय चिंतक के रूप में सामने आए। गांधी बैरिस्टर तो थे ही, वे पत्रकार थे, सत्याग्रही थे, लोकनायक थे, भारतीय संस्कृति के उपासक थे, लेखक थे, नेता थे तथा भाषा-चिंतक भी थे। गांधी के कृतित्व की यह विशेषता थी कि उन्होंने जिस भी क्षेत्र में कार्य किया तथा जिस भी विचार को आगे बढ़ाया उसे पूरी गहराई से समझा, अपनाया और फिर उसे देशहित में प्रचारित किया। भाषा का प्रश्न भी कुछ ऐसा ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न था जो भारत जैसे बहुआयामी देश में अँग्रेजी भाषा के प्रभुत्व, संकुचित प्रांतीयता, स्वार्थी शिक्षित वर्ग तथा व्यापक अशिक्षा के कारण इतना उलझ गया कि गांधी को 'हिंदी स्वराज्य' के रचना-काल से लेकर स्वतंत्रता-प्राप्ति तक के लगभग चालीस वर्षों तक निरंतर इस समस्या से जूझते रहना पड़ा। गांधी ने इन चालीस वर्षों में सैकड़ों बार अपने भाषणों, पत्रों तथा लेखों में देश की भाषा-समस्या के हल के लिए एक राष्ट्रीय भाषा-नीति की रचना की और उसे इतनी बार राष्ट्र के सम्मुख रखा जैसे वे देश के स्वराज्य, अहिंसा, धर्म, सत्याग्रह, खादी आदि के राष्ट्रीय मुद्दों को रखते रहे। इसका प्रमुख कारण यह था कि गांधी ने स्वराज्य के साथ भाषा के प्रश्न को जोड़ा और बार-बार कहा कि यदि स्वराज्य देश के करोड़ों भूखे, अनपढ़ तथा दलितों के लिए होना है तो उनकी जन-सामान्य भाषा हिंदी को राष्ट्रीय भाषा बनाना होगा।¹ इस प्रकार स्वराज्य के साथ भाषा को जोड़ने वाले संभवतः वे पहले व्यक्ति थे, क्योंकि उन्होंने देखा कि देश का अँग्रेजी शिक्षित वर्ग विदेशी भाषा और संस्कृति का गुलाम बन गया है और वे 'जनता के दुश्मन'² तथा 'मातृद्रोही'³ बन गए हैं।

गांधी के भाषा-चिंतन में अँग्रेजी भाषा पर उनके दो प्रकार के विचार मिलते हैं, एक

प्रशंसात्मक तथा दूसरे आलोचनात्मक एवं बहिष्कार मूलक। बैरिस्टरी तो उन्हें अँग्रेजी भाषा से ही करनी पड़ी, लेकिन वे जब पहली बार इंग्लैंड गए तो अँग्रेजों की बोली गई अँग्रेजी न समझ पाते थे और न ही जवाब दे पाते थे।⁴ इस पर भी गांधी अँग्रेजी के प्रशंसक थे,⁵ उसे अँग्रेजी कूटनीति और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की भाषा मानते थे,⁶ तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति, आधुनिक साहित्य का अध्ययन, विश्व से परिचय, राज्याधिकारियों से संपर्क, अर्थ-प्राप्ति आदि के लिए उसके महत्त्व को भी स्वीकार करते थे,⁷ परंतु उनका दृढ़ मत था कि हमें अँग्रेजी भाषा एक राष्ट्रवादी भारतीय की तरह पढ़नी-लिखनी तथा प्रयोग में लानी चाहिए।⁸ गांधी ने स्वयं जीवन-भर भाषा के प्रश्न को इसी राष्ट्रवादी भारतीय की दृष्टि से देखा और 'हिंद स्वराज्य' में उन्होंने लिखा कि मैकाले ने अँग्रेजी शिक्षा के द्वारा हमारी गुलामी की बुनियाद डाली⁹ और उसने अँग्रेजी सत्ता को चलाने के लिए कारकून पैदा किए, पश्चिमी सभ्यता के प्रचारक पैदा किए, हमें अंधविश्वासी बनाया तथा हिंदू-धर्म एवं प्राचीन साहित्य का तिरस्कार किया।¹⁰ गांधी ने इस भाषिक गुलामी और सांस्कृतिक अधःपतन पर बड़े विस्तार से और बार-बार अपने विचार प्रकट किए हैं। गांधी का मत था कि हिंदुस्तान के कुछ लोगों ने मैकाले के जाल में फँसकर अँग्रेजी भाषा की शिक्षा ली और पूरे देश को अँग्रेजी का गुलाम बनाकर उसका मानसिक, चारित्रिक तथा सांस्कृतिक पतन कर दिया। अँग्रेजी भाषा को राष्ट्रीय भाषा एवं मातृ-भाषा कहा जाने लगा, अँग्रेजी भाषा का ज्ञान ही शिक्षा माना जाने लगा तथा ऐसा विश्वास पैदा किया गया कि अँग्रेजी ज्ञान के बिना भारत स्वतंत्र नहीं हो सकता है। आजीविका, शिक्षा, आचार-विचार तथा परस्पर व्यवहार सभी में अँग्रेजी भाषा की गुलामी हमारे जीवन का अंग बन गई।¹¹ गांधी ने अँग्रेजी भाषा की गुलामी के इस जहर को जीवन-भर अनुभव किया और जब बल्लभभाई पटेल की पुत्र-वधू ने अपने पुत्र को अँग्रेजी सिखाने का प्रबल आग्रह किया तो वे बहुत आहत हुए।¹² गांधी का अँग्रेजी भाषा का विरोध कई रूपों में था, लेकिन दृष्टि वही राष्ट्रवादी भारतीय की ही थी। गांधी की विभिन्न आपत्तियाँ थीं— अँग्रेजी ने देशी भाषाओं को अपदस्थ कर दिया है,¹³ अँग्रेजी को मातृ-भाषा, राष्ट्र-भाषा मानना अनुचित है,¹⁴ अँग्रेजी शिक्षा ने हमें नपुंसक, प्रज्ञाहीन तथा कायर बना दिया है,¹⁵ अपने देश में विदेशी बना दिया है,¹⁶ हमारा मौलिक चिंतन समाप्त हो गया है और देश-समाज से कट गए हैं,¹⁷ अँग्रेजी शिक्षा आत्मघाती है,¹⁸ अँग्रेजी शिक्षित युवक परिवार तथा समाज से कटकर अहंकारी बन गए हैं,¹⁹ अँग्रेजी बोलने वाले मुट्ठी-भर लोग समूचा हिंदुस्तान नहीं है,²⁰ अँग्रेजी का प्रभुत्व अँग्रेजों की सांस्कृतिक विजय²¹ और भारत की संस्कृति की पराजय का प्रतीक है।²² गांधी इस प्रकार अँग्रेजी भाषा के भारतीय जीवन पर पड़ने वाले घातक प्रभावों को भिन्न-भिन्न कोणों से देखते थे और वे चाहते थे कि भारत में अँग्रेजी भाषा का अध्ययन तो हो, लेकिन कुछ सीमित लोग ही इसका अध्ययन करें जिससे ये कुछ लोग अँग्रेजी भाषा के ज्ञान को देशी भाषाओं में ला सकें तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के लिए उसका उपयोग कर सकें।²³ गांधी ने स्पष्ट कहा कि वे अँग्रेजी शिक्षा से घृणा नहीं करते हैं, परंतु वे उसकी अंध पूजा के विरोधी हैं।²⁴ गांधी राजभाषा, राष्ट्रभाषा, शिक्षा, दैनिक तथा पारिवारिक व्यवहार में अँग्रेजी को बिलकुल बरदाश्त करने को तैयार नहीं थे।²⁵ हम अँग्रेजी के गुलाम हो गए हैं लेकिन हमें उसका आधिपत्य खत्म करके अपनी भाषा का प्रयोग करना होगा।²⁶ यह ठीक है कि

अँग्रेजी भाषा विशाल है, समुद्र है लेकिन किसी का महल देखकर अपनी झोंपड़ी में आग तो नहीं लगाई जा सकती।²⁷ हम अँग्रेजों के साम्राज्य से निकल रहे हैं, परंतु हमें अँग्रेजी भाषा के साम्राज्य से भी निकलना होगा, अन्यथा देश की करोड़ों निरक्षर एवं निर्धन जनता के लिए स्वराज्य का क्या अर्थ रह जाता है? ²⁸ देश के जन-सामान्य की भाषा अँग्रेजी नहीं है और अँग्रेजी शिक्षित वर्ग जनता से बहुत दूर है और उनका कोई प्रभाव जन-साधारण पर नहीं है। ²⁹ अतः स्वतंत्र भारत में यह आवश्यक होगा कि अँग्रेजी का बहिष्कार करके आम जनता की भाषा हिंदी को राष्ट्रभाषा, राजभाषा तथा विभिन्न प्रांतों से संपर्क भाषा के रूप में स्वीकार किया जाए। स्वराज्य के आदर्श की सार्थकता तभी है जब देश की बहुसंख्यक जनता को उसकी भाषा में उसके लाभ मिलें और वह देश के विकास के साथ जुड़ सके।

गांधी के लिए भाषा का विषय बड़ा भारी और महत्वपूर्ण है। गांधी के लिए भाषा 'माता' के समान है और माता के प्रति प्रेम होना स्वाभाविक है। ³⁰ जैसे भी देश-प्रेम हो और भाषा-प्रेम की चिंता न हो, यह असंभव है। ³¹ गांधी का यह देश-प्रेम नवजागरण तथा स्वाधीनता-संग्राम एवं स्वतंत्र भारत की कल्पना में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। उन्होंने 'हिंदी स्वराज्य' सन् 1909 में लिखा था और इसमें उन्होंने अपनी भाषा-नीति की घोषणा करते हुए लिखा था, 'सारे हिंदुस्तान के लिए जो भाषा चाहिए, वह तो हिंदी ही होनी चाहिए। उसे उर्दू या नागरी लिपि में लिखने की छूट होनी चाहिए। हिंदू-मुसलमानों के संबंध ठीक रहे, इसलिए हिंदुस्तानियों को इन दोनों लिपियों को जान लेना जरूरी है। ऐसा होने से हम आपस के व्यवहार में अँग्रेजी को निकाल सकेंगे।' ³² देश की भाषा-नीति के संबंध में इतना स्पष्ट चिंतन संभवतः देश के और किसी राजनेता या लेखक का नहीं था। गांधी के भाषा-चिंतन के मूल में राष्ट्रीय एकता एवं धार्मिक एकता के साथ अँग्रेजी का बहिष्कार तथा भारतीय भाषाओं को उनका उचित स्थान दिलाने का संकल्प था। गांधी की मातृ-भाषा गुजराती थी और 'हिंद स्वराज्य' भी उन्होंने गुजराती में ही लिखा था। अँग्रेजी भाषा से उन्होंने बैरिस्टरी की थी और वह उनकी आजीविका एवं विश्व-संपर्क की भाषा थी, परंतु वे भारत में स्थायी रूप से आने के बाद हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के शिक्षण, प्रचार तथा उनके विकास के लिए समर्पित होने वाले सबसे बड़े राजनेता थे। उनकी भाषा-नीति का आधार स्वतंत्रता, एकता, सह-अस्तित्व और परस्पर सौहार्द की भावना थी।

गांधी ने 'हिंद स्वराज्य' में मातृ-भाषा के प्रश्न को उठाया और लिखा कि हमें अपनी भाषा में ही शिक्षा लेनी चाहिए। ³³ यह एक प्रकार से अँग्रेजी भाषा के विरुद्ध मातृभाषा के महत्व की घोषणा थी और अँग्रेजी मोह का भंजन था। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि मातृ-भाषा की इस अनिवार्यता की घोषणा वह व्यक्ति कर रहा था जिसकी अधिकांश शिक्षा अँग्रेजी भाषा से तथा विदेश में हुई थी। गांधी लिखते हैं कि मातृभाषा तृणवत् हो तो उसे स्वर्णमय बनाना चाहिए और यदि विदेशी भाषा स्वर्णमय हो तब भी वह हमारे लिए उपयोगी नहीं है। ³⁴ गांधी ने इसी कारण आर्य समाज की प्रशंसा की जिसने गुरुकुलों में मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया। ³⁵ गांधी मातृ-भाषा के द्रोहियों, अनादर करनेवालों, उसकी उपेक्षा और उससे लज्जित होनेवाले हिंदुस्तानियों से बहुत व्यथित होते हैं, क्योंकि इसी वर्ग के लोगों ने 'भारत की महान भाषाओं की उपेक्षा करके अपने देश की कुसेवा की है तथा उन्हें

आधुनिक चिंतन से वंचित रखा है।³⁶ गांधी कहते हैं कि मेरी मातृ-भाषा में कितनी ही कमियाँ क्यों न हों, मैं उससे उसी तरह चिपटा रहूँगा जैसे कि अपनी माँ की छाती से। वही मुझे जीवनप्रद दूध दे सकती है।³⁷

गांधी का मत था कि जो मातृ-भाषा से सच्चा प्रेम करता है वह राष्ट्र-भाषा के प्रति भी वैसा ही ही भाव रखता है।³⁸ इसी कारण गांधी 'हिंद स्वराज्य' पुस्तक में मातृ-भाषा की चर्चा के साथ हिंदुस्तान के लिए एक भाषा की भी चर्चा करते हैं। 'वे कहते हैं कि यदि हिंदुस्तान एक राष्ट्र है तो हिंदुस्तान की एक राष्ट्र-भाषा अवश्य होनी चाहिए।³⁹ गांधी राष्ट्र-भाषा की कसौटी तय करते हैं— जिसे सर्व-साधारण आसानी से समझ सके,⁴⁰ अंतर्प्रांतीय व्यवहार में आ सके,⁴¹ भारतीयता का भाव उत्पन्न करे,⁴² प्रांतीय भाषाओं के साथ स्पर्धा न करे,⁴³ जो राष्ट्र को एकताबद्ध कर सके⁴⁴ तथा जो भारत के संदर्भ में हिंदू-मुस्लिम तथा हिंदी-उर्दू की एकता को उत्पन्न कर सके। गांधी ने दक्षिण अफ्रीका से स्थाई रूप से आने के कुछ समय बाद कहा था कि मेरा दृढ़ विचार है कि हिंदी ही राष्ट्रभाषा का स्थान ले सकती है⁴⁵ और इसके दो वर्ष बाद उनका कहना था कि हिंदी और केवल हिंदी ही भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है।⁴⁶ गांधी ने राष्ट्र को यह विश्वास दिलाया कि वे हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाने के लिए हमेशा प्रयत्न करते रहेंगे।⁴⁷

गांधी के भाषा-चिंतन का यह रोचक किंतु चिंताजनक पहलू है कि उन्होंने राष्ट्रभाषा 'हिंदी' के नामकरण में इतनी बार संशोधन-परिवर्तन किया कि हिंदी-उर्दू दोनों ही क्षेत्रों में संदेह उत्पन्न हुआ और हिंदू-मुसलमान दोनों ने ही उनके विचारों का विरोध किया। गांधी ने 'हिंदी' को राष्ट्र-भाषा घोषित किया था, और लिखा था कि उत्तर भारत में बोली जानेवाली भाषा के लिए 'हिंदी' ही मूल शब्द है और उसमें उर्दू शामिल है।⁴⁸ वे दृढ़ता के साथ कहते हैं कि हिंदी नाम कभी नहीं बदला जाएगा। हिंदी का मूल नाम है, 'हिंदुस्तान' केवल समानार्थक शब्द के रूप में जोड़ा जा सकता है। नाम बदलने का आग्रह तो हिंसा है जिसके सामने झुकना नहीं चाहिए।⁴⁹ इसके बाद भी गांधी 'हिंदी' शब्द के प्रति आग्रहशील रहे और लिखा कि कांग्रेस किसी अन्य शब्द का प्रयोग नहीं कर सकती,⁵⁰ परंतु गांधी ने स्वयं 'हिंदी' के लिए 'हिंदी या हिंदुस्तान',⁵¹ 'हिंदी-हिंदुस्तान',⁵² 'हिंदुस्तानी',⁵³ 'हिंदी और उर्दू',⁵⁴ 'उर्दू और हिंदी'⁵⁵ तथा 'हिंदी या हिंदुस्तानी या उर्दू'⁵⁶ आदि के द्वारा हिंदी को नए-नए नाम दिए, जिसके कारण हिंदी तथा उर्दू दोनों ही क्षेत्रों में गांधी के साथ मतभेद उत्पन्न हुए। गांधी असल में आरंभ से ही, कम-से-कम 'हिंद स्वराज्य' लिखते समय से ही 'हिंदी' भाषा के साथ उर्दू एवं उसकी फ़ारसी लिपि को संयुक्त करके हिंदू-मुस्लिम एकता को स्थापित करने की नीति पर चल रहे थे और इसी कारण वे 'हिंदी' शब्द की परिभाषा और उसके पर्यायवाची शब्दों में उर्दू भाषा, फ़ारसी लिपि और हिंदू-मुसलमान संगम की अनिवार्यता पर बल दे रहे थे, लेकिन दोनों भाषाओं के कुछ वर्गों के लोग गांधी द्वारा दी गई कुछ नई-नई परिभाषाओं से शकित हो रहे थे। ये कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित थी जिनमें विचारों का वैभिन्न्य देखा जा सकता है :

1. 'हिंदी' शब्द से हिंदू-मुसलमान दोनों का बोध समान रूप से होता है। दोनों ने हिंदी में लिखकर उसके भंडार को समृद्ध बनाया है।⁵⁷

2. वह भाषा भी हिंदी ही है, जो लिखी तो उर्दू लिपि में जाती है, पर जिसे मुसलमान और हिंदू दोनों ही समझते हैं।⁵⁸
3. इस भाषा के लिए 'उर्दू' शब्द शुरू होने से पहले हिंदू-मुसलमान दोनों इसे 'हिंदी' ही कहते थे।⁵⁹
4. 'हिंदी या 'हिंदुस्तानी' वह भाषा है, जिसे लगभग 20 करोड़ हिंदू और मुसलमान बोलते और समझते हैं।⁶⁰
5. हिंदी का अर्थ 'हिंदुस्तानी' भी है।⁶¹
6. हिंदुस्तानी और उर्दू में कोई फर्क नहीं है।⁶²
7. 'हिंदी-हिंदुस्तानी' वह भाषा है, जिसे उत्तर में आम हिंदू-मुस्लिम जनता बोलती है और जो देवनागरी तथा फ़ारसी लिपियों में लिखी जाती है।⁶³ (यह नाम गांधी का ही दिया हुआ है।)
8. हमारी राष्ट्र-भाषा का नाम अब 'हिंदी' न रहकर 'हिंदुस्तानी' रहेगा। हमारी राष्ट्र-भाषा एक लिपि में नहीं, किंतु दो लिपियों में लिखी जाएगी।⁶⁴
9. 'हिंदुस्तानी' को मैं हिंदी और उर्दू के बीच मध्यवर्ती भाषा मानूँगा। उसे दोनों के बीच संगम करानेवाली भाषा मानूँगा।⁶⁵
10. हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दू एक ही भाषा के मुखलिफ़ नाम हैं।⁶⁶
11. मेरी हिंदुस्तानी न हिंदी है, न उर्दू। वह तो हिंदी और उर्दू के संगम से बनी है, जैसे गंगा और यमुना का प्रयाग में संगम होता है। इस संगम से निकलने वाली सरस्वती-रूपी-भाषा आज भी सरस्वती नदी की तरह अदृश्य है।⁶⁷
12. हिंदी, उर्दू के बिना अधूरी राष्ट्रभाषा है। वह राष्ट्रभाषा का एक अंग है, राष्ट्रभाषा नहीं।⁶⁸

गांधी के इन बदलते विचारों के कारण समाज में तीव्र प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था। गांधी एक ओर बार-बार 'हिंदी' राष्ट्रभाषा का नाम और रूप बदल रहे थे तथा दूसरी ओर वे यह भी कह रहे थे कि मेरे नजदीक नाम की कोई कीमत नहीं है, केवल काम की कीमत है,⁶⁹ लेकिन हिंदू और मुसलमान दोनों ही उनकी भाषा-नीति की आलोचना करते हैं। जिन्ना उन पर उर्दू भाषा को मिटाने का इल्जाम लगाते हैं⁷⁰ और दूसरे मुसलमान तो गांधी को गालियों से भरे विरोध-पत्र लिखते हैं और गांधी को 'भारतीय मुसलमानों तथा इस्लाम' का कट्टर शत्रु बताते हैं।⁷¹ कांग्रेस के हिंदू कार्यकर्ता तथा हिंदीभाषा के कुछ प्रेमी यह कहने लगे थे कि गांधी हमेशा मुसलमानों की खुशामद में लगे रहते हैं।⁷² पुरुषोत्तमदास टंडन से गांधी का भाषा के संबंध में मतभेद हुआ और उन्होंने हिंदी-साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता से इस्तीफ़ा दिया और कुछ वर्षों बाद 'हिंदुस्तानी प्रचार सभा' की स्थापना की। गांधी इन आरोपों और विरोधी स्वरो से व्यथित तो हुए पर विचलित नहीं हुए और वे मानते रहे कि वे ही हिंदी और उर्दू के शुभ चिंतक थे। गांधी ने 24 जुलाई, 1947 को अपनी प्रार्थना सभा में कहा था, 'आज तो मैं दोनों भाषाओं का दुश्मन बना हुआ हूँ, मगर दोनों का सच्चा ख़ैरख़्वाह था तो वह गांधी ही था।'⁷³

गांधी का भाषा-चिंतन आरंभ से ही राष्ट्रीय दृष्टिकोण से किया गया चिंतन था, इस कारण वे गुजराती-भाषी होने तथा अँग्रेज़ी भाषा में शिक्षित होने पर भी संपूर्ण भारत को ध्यान में रखकर अपनी भाषा-नीति की रूप-रचना कर रहे थे। उन्होंने राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी

तथा शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृ-भाषा के महत्त्व को समझ लिया था और इसकी ओर वे देश का ध्यान बराबर आकर्षित करते रहे थे, लेकिन इसी प्रकार भारत जैसे बहुभाषी देश में विभिन्न भाषा-भाषी प्रांतों के परस्पर संपर्क की अँग्रेजीभाषा के स्थान पर हिंदी को स्थापित करने तथा इन प्रांतों की अपनी भाषाओं के उत्कर्ष की समस्या भी महत्त्वपूर्ण थी, जिसे गांधी ने बड़ी गंभीरता से लिया और उसके समाधान का स्वरूप देश के सामने रखा। गांधी दक्षिण अफ्रीका से सन् 1915 में भारत लौटने के बाद सोचने लगे थे कि देश में प्रांतों की रचना नए सिरे से करनी होगी और उसका आधार भाषा ही होगा। उन्होंने 20 अक्टूबर, 1917 को अपने भाषण में कहा था कि किसी-न-किसी दिन भाषा के अनुसार नए प्रांत बनाने ही होंगे।⁷⁴ वे यह मानते थे कि सारे हिंदुस्तान की संस्कृति एक है, लेकिन एक संस्कृति के कई रंग हो सकते हैं, यह बात तो हमें स्वीकार करनी ही होगी।⁷⁵ इसी कारण आगे चलकर 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' के संविधान में भाषा के आधार पर 21 प्रांतों की रचना की गई। भारत के स्वतंत्र होने के बाद गांधी ने भाषावाद प्रांतों के शीघ्र गठन पर जोर दिया तथा भाषा के आधार पर विश्वविद्यालयों तक की स्थापना का समर्थन किया।⁷⁶ गांधी समझ रहे थे कि यदि भाषावार प्रांतों के गठन में विलंब हुआ तथा बाधाएँ उत्पन्न की गईं तो अँग्रेजी भाषा देश में बनी रहेगी, जो हमारे लिए चिरस्थायी कलंक होगा।⁷⁷ अतः गांधी हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के साथ केंद्र और प्रांतों के संपर्क तथा प्रांतों के परस्पर संबंधों के लिए हिंदी भाषा का समर्थन करते हैं और साथ ही प्रांतीय भाषाओं को उनका योग्य स्थान देने तथा उनके उचित विकास की भी समान रूप से वकालत करते हैं। वे इस समस्या को स्वराज्य के साथ जोड़ते हुए 29 मार्च, 1918 को इंदौर के हिंदी साहित्य सम्मेलन में कहते हैं कि जब तक हिंदीभाषा को राष्ट्रीय तथा अपनी-अपनी प्रांतीय भाषाओं को उनका योग्य स्थान नहीं देते, तब तक स्वराज्य की सब बातें निरर्थक हैं।⁷⁸ गांधी देश की एकता और समरसता के लिए यह आवश्यक मानते थे कि राष्ट्रभाषा हिंदी तथा देश की अन्य भाषाओं के बीच जो खाई है तथा देश की विभिन्न भाषाओं में जो परस्पर दूरियाँ हैं, उन्हें समाप्त करना ज़रूरी है। गांधी मानते थे कि हिंदी इस खाई को पाटनेवाला छोटा किंतु कारगर सेतु है,⁷⁹ क्योंकि देश के पंजाबी, आसामी, उडिया, बंगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम आदि भाषी प्रांत हिंदी के द्वारा ही शेष भारत से जुड़ सकते हैं। उत्तर तथा दक्षिण तथा पूर्व एवं पश्चिम के बीच जो दीवार खड़ी है, वह हिंदी को संपर्क भाषा बनाकर ही तोड़ी जा सकती है और एक जीवंत संपर्क तथा निकटता बनाई जा सकती है।⁸⁰ इन भाषाओं को जोड़ने का एक सूत्र इस देश की एक संस्कृति भी है, जिसकी गांधी ने चर्चा की थी। इस संस्कृति में जो भारतीयपन है,⁸¹ वह आर्य और द्रविड़ परिवार की सभी भाषाओं को जोड़ देता है तथा अँग्रेजी भाषा के विदेशीपन, झूठे अहंकार एवं अभद्रता के मिथ्या जाल से मुक्त करके देश की करोड़ों जनता के साथ सामरस्य कर देता है।

गांधी की हिंदी को राष्ट्रभाषा, राजकीय भाषा तथा संपर्क भाषा बनाने की नीति से कुछ प्रांतों में यह प्रतिक्रिया हुई कि उनकी प्रांतीय भाषाएँ ख़तरे में हैं⁸² तथा गांधी हिंदी की स्थापना से प्रांतीय भाषाओं को समाप्त करना चाहते हैं। इस प्रकार हिंदी विरोधी आंदोलन गांधी के जीवनकाल में ही शुरू हो गया था और गांधी ने इन आरोपों के खंडन में कहा कि प्रांतीय

भाषाओं को मिटाकर हिंदी को सारे देश की एकमात्र भाषा बनाने के आरोप में कोई सत्यता नहीं है, ⁸³ बल्कि वे एक-दूसरे की पूरक और सहयोगी हैं। गांधी ने 17 मई, 1942 तथा 9 अगस्त, 1946 को कहा था कि राष्ट्रभाषा हिंदी के लिए देश की 'महान प्रांतीय भाषाओं को समृद्ध तथा सशक्त देखना चाहते थे तथा देश की भगिनी भाषाओं के बीच हानिकर स्पर्धा को भी समाप्त करना चाहते थे, ⁸⁵ परंतु वे 'अखिल भारतीय राष्ट्रीयता' को मूर्त रूप देने के लिए 'संकीर्ण प्रांतीयता' के आवरण को भेदना भी चाहते थे। ⁸⁶ गांधी ने स्वयं को अपनी मातृभाषा गुजराती की सीमाओं से बाहर निकलकर हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के साथ आत्मिक संबंध स्थापित किया था। उन्होंने हाई स्कूल में संस्कृत भाषा सीखी, वाइसराय के सम्मुख हिंदी में बोले, हिंदी में पत्रिकाएँ निकालीं और देश के अहिंदी प्रांतों में तो उन्होंने हिंदी प्रचार तथा हिंदी शिक्षण का महाअभियान ही चलाया। देश के दक्षिण, पूर्व तथा उत्तर एवं पश्चिम क्षेत्रों में, विशेष रूप से दक्षिण भारत में हिंदी प्रचार का जैसा आंदोलन गांधी ने आरंभ किया तथा लाखों लोगों को हिंदी सीखने के लिए प्रेरित किया, हिंदी प्रचार के लिए लाखों रुपये एकत्र करके अपने द्वारा स्थापित हिंदी प्रचार संस्थाओं को दिए, हजारों हिंदी प्रचारक एवं शिक्षक तैयार किए तथा अपने प्रियजनों, मित्रों, साथियों तथा देश के नागरिकों को पत्र लिखने तथा मान-पत्रों को तैयार करने में राष्ट्रभाषा हिंदी तथा प्रांतीय भाषाओं का उपयोग करने का दवाब जैसा गांधी ने डाला, वैसा उदाहरण देश में ही नहीं विश्व में मिलना असंभव है। गांधी ने देश के स्वराज्य, हिंसा, धर्म तथा सत्य से जितना प्रेम था, देश की राष्ट्रभाषा हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं से उनका प्रेम कुछ कम नहीं था। गांधी ने एक बार कहा था कि मैं अँग्रेजी से प्रेम करता हूँ, परंतु हिंदी से मेरा विशेष प्रेम है। यह विशेष प्रेम हिंदी के साथ ही नहीं था, देश की सभी भाषाओं के साथ था और इसीलिए उन्होंने अँग्रेजी जैसी विदेशी भाषा से स्वयं को मुक्त करके घोषणा की थी कि विश्व से कह दो कि गांधी को अँग्रेजी नहीं आती। वे हिंदी तथा भारतीय भाषाओं के बनकर ही ऐसी घोषणा कर सकते थे।

गांधी ने अपनी भाषा-नीति के अंतर्गत लिपि के प्रश्न पर भी गंभीरतापूर्वक विचार किया है। देश की एक राष्ट्रभाषा के साथ एक राष्ट्र-लिपि का प्रश्न भी साथ जुड़ा हुआ था। गांधी के सम्मुख देवनागरी, फ़ारसी, दक्षिण की चार लिपियाँ, बंगला, उड़िया तथा पंजाबी आदि की विभिन्न लिपियों का संसार था तथा उनके सम्मुख रोमन लिपि का भी प्रस्ताव था। देश की इन बहुलिपियों तथा उनके अपने-अपने आग्रहों के बीच एक सर्वसामान्य राष्ट्रलिपि की खोज तथा उसे स्वीकृत कराने का बड़ा भारी कार्य था। उस समय गांधी जैसा राष्ट्र नायक ही इस समस्या का समाधान कर सकता था। गांधी के सम्मुख भी एक बड़ा संकट था। वे एक ओर 'हिंदी' या 'हिंदुस्तानी' के लिए देवनागरी तथा फ़ारसी लिपि को अनिवार्य घोषित कर रहे थे, तब उनके लिए पूरे देश के लिए एक सर्व सामान्य लिपि को स्वीकार करा लेना बहुत ही कठिन काम था। गांधी ने माना था कि उर्दू लिपि के प्रति मेरा पक्षपात मुसलमान भाइयों के प्रति है, ⁸⁷ इसलिए वे कहते थे कि उर्दू लिपि सीखना राष्ट्रीय कार्य है और जो इसे पसंद नहीं करता वह स्वराज्य को ही पसंद नहीं करता है। ⁸⁸ गांधी की यह शर्त पक्षपातपूर्ण थी ही, क्योंकि वे मुसलमानों से देवनागरी लिपि के लिए ऐसी कसौटी नहीं रख पाए, परंतु गांधी देवनागरी लिपि के वैशिष्ट्य को समझते थे। वे मानते थे कि देवनागरी लिपि विश्व की

लिपियों में सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है, ⁸⁹ वह निर्दोष ⁹⁰ है, 'परिपूर्ण' ⁹¹ है तथा 'राष्ट्रीय एकता' के लिए आवश्यक है। ⁹² इसीलिए गांधी देश की एक सर्वसामान्य लिपि के रूप में केवल देवनागरी लिपि का ही प्रस्ताव करते हैं। वे कहते हैं, 'मेरा दृढ़ विश्वास है कि सभी भारतीय भाषाओं की लिपि एक ही होनी चाहिए और ऐसी लिपि देवनागरी ही हो सकती है।' ⁹³ इसके लिए उन्होंने सन् 1935 में काका कालेलकर के संयोजकत्व में 'एक लिपि परिषद्' की भी स्थापना की। गांधी का अनुभव था कि देश की अनेक लिपियाँ देश की एकता, उत्तर-दक्षिण संगम, राष्ट्रीय जाग्रति, हिंदी प्रचार तथा एक सर्वमान्य लिपि की स्वीकृति में बड़ी बाधक हैं। जवाहरलाल नेहरू चाहते थे कि दक्षिण भारत की चार लिपियों को मिलाकर एक लिपि का आविष्कार किया जाए, परंतु गांधी का मत था कि ऐसा आविष्कार संभव न था, इसलिए दक्षिण को अपनी चारों लिपियों के स्थान पर देवनागरी लिपि स्वीकार कर लेनी चाहिए। ⁹⁴ गांधी समस्त देश के लिए एक ही देवनागरी लिपि के आदर्श को इसलिए व्यावहारिक मानते थे, क्योंकि संस्कृत से निकली भाषाओं की एक ही लिपि के होने में तो कोई बाधा नहीं थी और दक्षिण की भाषाओं में भी संस्कृत के शब्दों के होने से देवनागरी को स्वीकार करने में कोई बड़ी बाधा नहीं है, बस प्रांतीय भावना के त्यागने की आवश्यकता है। ⁹⁵ इसी तरह गांधी ने नागरी और फ़ारसी दो लिपियों को सीखने की अनिवार्यता का भी हल निकाल लिया था। उनका दृढ़ मत था कि हिंदुस्तान यदि एक राष्ट्र है तो उसकी एक ही राष्ट्रीय लिपि होगी। ⁹⁶ परंतु एक राष्ट्रीय लिपि की स्थापना में दो लिपियों— देवनागरी एवं फ़ारसी, का उनका दुराग्रह ही बाधक बन रहा था। वे अपने राजनीतिक उद्देश्यों के कारण फ़ारसी लिपि का बहिष्कार करके मुसलमानों को नाराज़ नहीं करना चाहते थे, लेकिन वे फ़ारसी लिपि की तुलना में देवनागरी लिपि की श्रेष्ठता, उसकी वैज्ञानिकता, सर्वसामान्यता, राष्ट्रीय एकता एवं समरसता के आधार पर उसे देश की राष्ट्रीय लिपि स्वीकार करने का मार्ग प्रशस्त कर सकते थे। गांधी ने ऐसा ही किया। गांधी ने लिखा कि देवनागरी और उर्दू लिपि में देवनागरी अधिक वैज्ञानिक और पूर्ण है तथा भविष्य में वही लिपि राष्ट्रीय होगी, जो ज़्यादा लिखी जाएगी, जिसका ज़्यादा जोर होगा तथा जो ज़्यादा सरल होगी। ⁹⁷ गांधी जानते थे कि विजय देवनागरी लिपि की ही होगी। इसी कारण वे बार-बार एक सर्वसामान्य लिपि तथा राष्ट्रीय लिपि के रूप में फ़ारसी लिपि की नहीं देवनागरी लिपि की ही चर्चा करते हैं। गांधी के अंतर्मन में छिपी आकांक्षा देवनागरी लिपि के पक्ष में स्पष्ट दिखाई देती है। इन्हीं कारणों से गांधी रोमन लिपि के प्रस्ताव को टुकराते हैं और देवनागरी तथा फ़ारसी लिपि के स्थान पर रोमन लिपि को राष्ट्रीय लिपि बनाने के आंदोलन को 'घातक' ⁹⁸ तथा 'विनाशकारी' ⁹⁹ मानते हैं। गांधी देश को सावधान करते हैं कि हिंदी तथा उर्दू के परस्पर विद्वेष के कारण कहीं यह विदेशी लिपि-रोमन तीसरी लिपि के रूप में देश पर थोप न दी जाए। ¹⁰⁰ देश के मुट्ठी-भर अँग्रेज़ी भाषी लोगों की यह विदेशी लिपि हिंदुस्तान की लिपि नहीं हो सकती।

गांधी का यह भाषा-चिंतन हमें कुछ निष्कर्षों तक पहुँचाता है। गांधी अपने कर्म-क्षेत्र एवं विचार-क्षेत्र में जिस भी दिशा में गए वे अग्रगण्य ही रहे। भाषा का क्षेत्र भी ऐसा ही था, जिसमें उन्होंने अपने विचारों और कार्यों से उस काल-खंड में पूरे देश को नेतृत्व दिया और एक राष्ट्रीय भाषा-नीति की रचना की। बीसवीं शताब्दी के उन आरंभिक चार-पाँच दशकों में

जब नवजागरण, स्वराज्य कामना, स्वाधीनता-संग्राम तथा दासता से मुक्ति एवं स्वतंत्र भारत की रूप-रचना के लिए महा-मंथन तथा संघर्ष चल रहा था, तब गांधी ने इस बहुभाषी देश के सम्मुख भाषा का एक भारतीय मॉडल प्रस्तुत किया। गांधी का संपूर्ण दर्शन भारतीय और भारतीयता की बुनियाद पर ही निर्मित होता है। गांधी ने कहा था कि मेरे मन में गुजराती होने की अपेक्षा भारत का होने की ही प्रबल भावना है।¹⁰¹ गांधी ने 24 जनवरी, 1946 की अपनी एक प्रार्थना-सभा में ऐसी ही भावना व्यक्त करते हुए कहा था कि 'राम' शब्द के समान 'हिंद' शब्द में एक अनोखा जादू है। आप प्रांतीयता की भावना को त्यागकर यह प्रतिज्ञा करें कि आप पहले भारतीय होंगे और अंत में भी भारतीय होंगे और आप भारत के लिए जिएँगे, भारत के लिए मरेंगे।¹⁰² गांधी के इस भारतीय मॉडल में स्वराज्य, राष्ट्रीयता, राष्ट्रभाषा एवं राष्ट्रलिपि, राष्ट्रीय अखंडता और एकता के विचार-बिंदु थे, जो आद्योपांत उनकी भाषा-नीति को रूपायित कर रहे थे। इसी कारण उन्होंने सबसे पहले अँग्रेजी भाषा की पराधीनता तथा उसे राष्ट्रभाषा बनाने के षड्यंत्र पर चोट की और बार-बार कहा कि अँग्रेजों की दासता के साथ अँग्रेजी भाषा की दासता को भी देश से जाना होगा। गांधी ने परभाषा अँग्रेजी के गढ़ को तोड़कर भारतीय रंगमंच पर हिंदी की प्रतिष्ठा की और उसे राष्ट्रभाषा, सर्वसामान्य भाषा, संपर्क भाषा, एकता की भाषा और विश्व की सबसे अधिक वैज्ञानिक एवं पूर्व भाषा के रूप में भारत राष्ट्र के सम्मुख प्रस्तुत किया। डॉ॰ रामविलास शर्मा ने जिसे 'हिंदी जाति' कहा है गांधी ने उसे 'राष्ट्रीय हिंदी जाति' बनाकर संपूर्ण भारतीयता का बिंब बनाया। गांधी की भाषा-नीति में हिंदी भाषा केवल हिंदी प्रदेशों तक सीमित नहीं थी, वह तो देश की संस्कृति के अनुरूप संपूर्ण भारत की एकता और अखंडता की प्रतीक थी। इस राष्ट्रीय उद्देश्य के लिए गांधी ने अपने आपको को झौंक दिया, हिंदी प्रचार-प्रसार और स्वीकृति का महायज्ञ शुरू किया, तिलक और टैगोर तक को हिंदी सीखने के लिए प्रेरित किया, हिंदी प्रचारक तैयार किए और हिंदी प्रचार संस्थाएँ बनाई, काँग्रेस कमेटी की कार्यवाही को हिंदी में कराने का प्रयत्न किया, संपूर्ण देश की यात्रा करके हिंदी तथा मातृ-भाषाओं में पत्र लिखने को प्रेरित किया। इस तरह देश को हिंदीमय बनाया, किंतु उन्होंने मातृभाषा तथा प्रांतीय भाषाओं को भी समान महत्त्व दिया, यद्यपि वे चाहते थे कि संकीर्ण प्रांतीयता इसमें बाधक न बने। इसी नीति से उन्होंने राष्ट्र-लिपि की समस्या का समाधान किया और एक राष्ट्रभाषा के लिए एक राष्ट्र लिपि को आवश्यक माना। गांधी की भाषा-नीति का देश में काफ़ी विरोधी भी हुआ, हिंदू-मुसलमान दोनों ने उन्हें अपनी भाषा का शत्रु माना तथा दक्षिण के प्रांतों में तो हिंदी को ज़बरदस्ती थोपने तथा उनकी प्रांतीय भाषाओं को नष्ट करने के षड्यंत्र का आरोप लगाया गया, परंतु गांधी ने सब का उत्तर दिया। आरोपों तथा आलोचनाओं से वे कभी विचलित नहीं हुए और अकेले पड़ने पर भी निरंतर चलते रहे, परंतु स्वतंत्र भारत की काँग्रेसी सरकारों की भाषा नीति तथा उनके द्वारा किए गए भाषा अधिनियमों में संशोधनों में गांधी के भाषा-मॉडल का बहिष्कार करके अँग्रेजी भाषा को सदैव के लिए स्थापित कर दिया और एक छोटे राज्य तक को 'विटो पावर' देकर हिंदी के राजकीय एवं संपर्क भाषा बनने के गांधी के स्वप्नों को नष्ट कर दिया। इस सदी में गांधी को फिर पैदा होना होगा, अन्यथा इस बार हिंदुस्तानी जॉन (हिंदुस्तान का काला अँग्रेज) ही इस देश की जनता को अनंत काल तक अपनी भाषाओं से वंचित करके

अँग्रेजी का गुलाम बना देगा। गांधी के अन्य स्वप्नों के समान क्या भाषा का स्वप्न भी इतिहास के पृष्ठों में दबकर रह जाएगा? इसका उत्तर तो अब भविष्य ही देगा लेकिन देश की नई पीढ़ियों को देश की एकता तथा लोकतंत्र को सार्थक बनाने के लिए गांधी के स्वप्न को साकार करने का पूरा प्रयत्न करना चाहिए। गांधी को जीवित रखना देश के हित में ही है।

संदर्भ

1. संपूर्ण गांधी वाङ्मय, खंड-47, पृ० 5
2. वही, खंड-14, पृ० 23
3. वही, खंड-14, पृ० 23
4. आत्मकथा, पृ० 34
5. संपूर्ण गांधी वाङ्मय, खंड-82, पृ० 355
6. वही, खंड-21, पृ० 21
7. वही, खंड-60, पृ० 490
8. वही, खंड-19, पृ० 484
9. हिंद स्वराज्य, पृ० 72
10. संपूर्ण गांधी वाङ्मय, खंड-14, पृ० 22-32 तथा खंड-36, पृ० 168
11. वही, खंड-20, पृ० 158
12. वही, खंड-90, पृ० 150 (पत्र : 13 नवंबर, 1947)
13. वही, खंड-30, पृ० 585
14. वही, खंड-21, पृ० 21 तथा खंड-14, पृ० 278
15. वही, खंड-19, पृ० 484
16. वही, खंड-29, पृ० 312
17. वही, खंड-35, पृ० 315
18. वही
19. वही, खंड-67, पृ० 181
20. वही, खंड-35, पृ० 473
21. वही, खंड-67, पृ० 182
22. वही, खंड-83, पृ० 38
23. वही, खंड-63, पृ० 243 तथा खंड-82, पृ० 355
24. वही, खंड-19, पृ० 484
25. वही, खंड-19, पृ० 490; वही, खंड-77, पृ० 386; वही, खंड-83, पृ० 72-355
26. वही, खंड-85, पृ० 186 तथा वही, खंड-87, पृ० 234
27. वही, खंड-88, पृ० 247
28. वही, खंड-87, पृ० 465 तथा खंड-63, पृ० 243
29. वही, खंड-14, पृ० 21-23
30. वही, खंड-14, पृ० 277
31. वही, खंड-19, पृ० 515

32. हिंदी स्वराज्य, पृ० 74
33. वही, पृ० 74
34. संपूर्ण गांधी वाङ्मय, खंड-14, पृ० 68
35. वही, खंड-14, पृ० 20
36. वही, खंड-75, पृ० 172
37. वही, खंड-85, पृ० 84
38. वही, खंड-85, पृ० 103
39. वही, खंड-76, पृ० 54
40. वही, खंड-28, पृ० 368
41. वही, खंड-57, पृ० 57
42. वही, खंड-64, पृ० 293
43. वही, खंड-35, पृ० 379
44. वही, खंड-34, पृ० 223
45. वही, खंड-14, पृ० 43
46. वही, खंड-15, पृ० 161
47. वही, खंड-65, पृ० 23
48. वही, खंड-63, पृ० 211
49. वही, खंड-65, पृ० 383
50. वही, खंड-67, पृ० 444
51. वही, खंड-27, पृ० 4
52. वही, खंड-26, पृ० 237 तथा खंड-36, पृ० 425
53. वही, खंड-83, पृ० 49; खंड-78, पृ० 367; खंड-63, पृ० 335; खंड-67, पृ० 362; खंड-83, पृ० 111; खंड-87, पृ० 209; खंड-82, पृ० 264
54. वही, खंड-79, पृ० 194
55. वही, खंड-75, पृ० 374
56. वही, खंड-62, पृ० 441; खंड-63, पृ० 59; खंड-60, पृ० 491
57. वही, खंड-75, पृ० 308
58. वही, खंड-61, पृ० 33
59. वही, खंड-65, पृ० 391
60. वही, खंड-57, पृ० 239
61. वही, खंड-42, पृ० 328
62. वही, खंड-60, पृ० 491
63. वही, खंड-36, पृ० 425
64. वही, खंड-83, पृ० 49
65. वही, खंड-89, पृ० 113
66. वही, खंड-62, पृ० 441
67. वही, खंड-90, पृ० 247; खंड-85, पृ० 303

68. वही, खंड-79, पृ० 428; खंड-75, पृ० 396
69. वही, खंड-73, पृ० 299
70. वही, खंड-88, पृ० 386
71. वही, खंड-72, पृ० 152-53
72. वही, खंड-88, पृ० 386
73. वही, खंड-88, पृ० 386
74. वही, खंड-14, पृ० 27
75. वही, खंड-89, पृ० 342
76. वही, खंड-89, पृ० 342-427
77. वही, खंड-89, पृ० 192
78. वही, खंड-14, पृ० 281
79. वही, खंड-14, पृ० 386
80. वही, खंड-34, पृ० 598-579; खंड-37, पृ० 208
81. वही, खंड-64, पृ० 293
82. वही, खंड-65, पृ० 405
83. वही, खंड-60, पृ० 490
84. वही, खंड-76, पृ० 103; वही, खंड-85, पृ० 137
85. वही, खंड-62, पृ० 505; वही, खंड-35, पृ० 379
86. वही, खंड-35, पृ० 379; वही, खंड-67, पृ० 362
87. वही, खंड-88, पृ० 436
88. वही, खंड-82, पृ० 104-105
89. वही, खंड-61, पृ० 212
90. वही, खंड-86, पृ० 428
91. वही, खंड-65, पृ० 31
92. वही, खंड-65, पृ० 31
93. वही, खंड-34, पृ० 179
94. वही, खंड-66, पृ० 8
95. वही, खंड-28, पृ० 127; खंड-34, पृ० 179
96. वही, खंड-63, पृ० 247
97. वही, खंड-14, पृ० 29-279
98. वही, खंड-85, पृ० 150
99. वही, खंड-87, पृ० 132 (हरिजन, 23 मार्च, 1947)
100. वही, खंड-86, पृ० 428
101. वही, खंड-64, पृ० 262
102. वही, खंड-83, पृ० 34

□ ए-98, अशोक विहार, फेज प्रथम
दिल्ली-110052

आधुनिक हिंदीकवियों की काव्य-दृष्टि

कु० रूबीना इकबाल

समय की परिवर्तनशील विकासवर्ती जीवनधारा का साहित्य के विविध आंदोलनों से प्रगति का मार्ग प्रशस्त होता रहा है। युग-सापेक्ष्य चिंतन और मनुष्य की रागानुवर्तिनी भाव-भूमि पर कविता का सृजन सामाजिक परिवर्तनों को प्रभावित करने में प्रमुख भूमिका भी निभाता रहा है। आदिकाल के साहित्यिक परिदृश्य में जीवन के सामंतवर्गीय युद्धों और विचारों को स्थान मिलता था, तो मध्यकालीन साहित्य में भक्ति, प्रेम और हृदय की रसवंती धारा का कवियों ने मार्ग अपनाया था, किंतु वर्तमान युग की व्यक्तिवादी स्वच्छंदता में समय के यथार्थ ने दुनिया की जीवंत तस्वीर का स्वानुभूत चिंतन प्रस्तुत करने का प्रयास किया। आज का काव्य-साहित्य इंसानी जिंदगी, समाज तथा विश्व का भाव-बोध प्रस्तुत कर रहा है। कहा जा सकता है कि यह समय कविता के यथार्थ-बोध का समय है। आज कविता की मुख्य भाव-धारा जीवन-सत्य के साथ प्रवाहित हो रही है, जिसमें युद्ध की विभीषिका का भय और आतंक घुला हुआ है। भूख की करुण-कहानी का फलितार्थ चित्रित हो रहा है। अनाचार, अत्याचार, अन्याय, शोषण तथा निराशा के बिंब उभरकर कवि के अंतर्मन से शब्द के रूप में व्यक्त हो रहे हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत की राजनीतिक दुर्व्यवस्था तथा नेतृत्व की अक्षमता का खुले स्वर में व्यक्त हो रहा कविता का भाव वर्तमान पीढ़ी के सामने भविष्य की आशा को धूमिल कर रहा है। आज का कवि इन्हीं स्वरों का गायक है।

‘आज की कविता किसी-न-किसी प्रकार से परिवेश के साथ द्वंद्वात्मक स्थिति में उपस्थित होती है, जिसके फलस्वरूप यह आग्रह दुर्निवार हो उठता है कि कवि हृदय-द्वंद्वों का भी अध्ययन करे, अर्थात् वास्तविकता और बौद्धिक दृष्टि द्वारा भी अंतःप्रवेश करे और ऐसी विश्व-दृष्टि का विकास करे, जिससे व्यापक जीवन-जगत् की व्याख्या हो सके।’¹

आज की कविता में यथार्थ के लिए संघर्ष है। जनता के लिए लिखने की ललक है। आज का कवि सामाजिक यथार्थ और प्रकृति-जीवन से संबद्ध हो रहा है। इस समय का कवि कविता और काव्य-भाषा की रूढ़ियों के विरुद्ध आदमी के निजी मामलों से साक्षात्कार करते हुए विसंगतियों के अहसास से सामाजिक चिंता में केंद्रित कवि-कर्म में संलग्न है। जमीन से जुड़ी वर्तमान समय की कविता में विश्व-ग्राम की कल्पना साकार होती दिखाई दे रही है। वैश्वीकरण में विश्व वैज्ञानिक आविष्कारों, राजनीतिक परिवर्तनों, आर्थिक समीकरणों, आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता के विचारों से आज की कविता का सत्य उद्घाटित हो रहा है।

‘वर्तमान संदर्भ में रचनाकार की पक्षधरता के प्रश्न को मुक्तिबोध ने अत्यंत तर्कसंगत और

सही ढंग से उठाया है। उनके अनुसार आज के ज़माने में प्रत्येक व्यक्ति अपने जाने-अनजाने एक शिविर बन गया है— तमाम अपने जैसे लोगों के साथ। इस प्रकार एक संघर्ष चला हुआ है— व्यक्ति और व्यक्ति का नहीं, वरन दो शिविरों का। यह संघर्ष वर्तमान युग की कठोर वास्तविकता है— शोषक और शोषित या पूँजीवाद और समाजवाद के रूप में। साहित्य और कला के क्षेत्र में भी यह वास्तविकता समान रूप से दिखाई देती है। हिंदी का प्रगतिवाद और नई भावधारा का संघर्ष इस तथ्य को बहुत अच्छी तरह से प्रतिबिंबित करता है।²

मुक्तिबोध सजग आत्मालोचन के कवि थे। वे तटस्थता से मुक्त सीधे-सपाट लोक अनुभवों के व्यग्र चिंतन से उपजे यथार्थबोध, कल्पना और वास्तविकता को अलग करते हुए अति कल्पना के भी अनेक जटिल बिंब रचने के पक्षधर थे। उनकी कविता में मनुष्य की चिंता और संघर्ष के व्यापक फलक पर सचेत रहने की उद्विग्नता भी दृष्टिगोचर होती है। लक्ष्योन्मुख संवेदना की तरंगों में उठती कविता की अनुभूति को उन्होंने अभिव्यक्ति की सार्थकता प्रदान की है। वे उद्विग्न हैं, श्रमशील मानव की दयनीय दशा के प्रति। वे कहते हैं—

श्रमशील कष्टजीवी मन का जीवन विश्व
समुपस्थित कर अपने असंख्य
वेदना दृश्य, संघर्ष शिल्प, व्यक्तित्व-चित्र
वह 'घोर जागता उपन्यास'
मेरे हिय में घुलकर होता आवेग एक
अतिशय संवेग बहते निर्झर-सा अकुलाता।

मुक्तिबोध की रचनाओं में पौराणिकता की कल्पनाशीलता के मुहावरों से आधुनिक जीवन-दृष्टि को भी विडंबना के स्वर मिले हैं—

इस नगर में हमें कौरव के हर
वीर द्रोण की थकन भरी है भूरी-भूरी
पीली है सूरत अनचाहों की सेवा में
कुंती-पुत्र कर्ण-कृप-सात्यकि की ग्रीवा में
कुत्ते की गर्दन का पट्टा
दुखते हिय से द्रोणाचार्यों की मजदूरी
कौरव के घर।

कविता की इन पंक्तियों में मुक्तिबोध की जन-जन के संघर्षों के साथ साझीदारी दिखाई देती है। पूँजीवादी शोषण के दुश्चक्र की पहचान भी इनमें है। आज की कविता के प्रमुख यथार्थवादी कवि मुक्तिबोध की इन कविताओं से वर्तमान काव्य-दृष्टि का आकलन किया जा सकता है।

प्रयोगवादी कविता के पुरोधे हैं—अज्ञेय। वर्तमान जीवन के आधुनिक प्रवक्ता और परंपरा से विद्रोह करनेवाले इस युगचेता साहित्यकार ने कविता ही नहीं, साहित्य की हर विधा को कुछ नया प्रयोग करने की दृष्टि प्रदान करने का प्रयत्न किया है। सौंदर्य-बोध और शिवत्व-बोध के संबंध में अज्ञेय के विचार प्रासंगिक हैं। उनका कथन है—'मैं चाहता हूँ कि इन दोनों में कोई विरोध न हो और मैं मान सकूँ कि कोई विरोध नहीं है या विरोध नहीं होता, तो इसका मतलब

यह है कि मैं उसका कोई प्रमाण नहीं प्रस्तुत कर सकता। वहाँ भी मुझे यह लगा कि इसको प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि वास्तव में ऐसा है। मैं चाहता हूँ कि रचना ऐसी हो कि दोनों कसौटियों पर खरी उतरे। (अज्ञेय, रचना क्यों और किनके बीच)

कवि अज्ञेय की निम्न पंक्तियों में इन विचारों की झलक का दर्शन किया जा सकता है—

1. काल की दुर्वह गदा को एक
कौतुक भरा बाल-क्षण तौलता है।

—अज्ञेय, आँगन के पार द्वार, पृ० 36

2. झील का निर्जन किनारा
और वह सहसा छाए सन्नाटे का
एक क्षण हमारा
वैसा सूर्यास्त फिर नहीं दिखा।

—अज्ञेय, आँगन के पार द्वार, पृ० 21

3. बरसी शरद चाँदनी मेरा? अंतःस्पन्दन
तुम मीक्षण भर जी लो।

—अज्ञेय, प्रतीक जनवरी, 1951

आज की युवा पीढ़ी उन्मुक्त वासना को भावना की उद्दीप्ति से, भोगवादी स्थूलता के कवित्व से भी अनेक कवियों ने सुख-भोग के आमंत्रण दिए हैं—

फैल रही है परिधि स्तनों की
हसरतें अब जवान हैं
आओ, दोस्तो और साथियो!
आओ मेरे झंडे के नीचे
उत्सव करें, नाचे गाएँ,
रक्त की लय पर
ये हसरतें, उजली पोशाकों में अर्धग्न
कसे हुए स्तन
थिरकते हुए सितार की धुन पर।

—शांता सिन्हा, समानांतर

आज की कविता के समकालीन परिदृश्य में व्यक्तिवाद, निराशा, अस्तित्ववाद, लघुमानववाद, क्षणवाद, अहंवाद, विद्रोह के स्वर, व्यंग्य, सामाजिक चेतन, अर्थवाद तथा प्रयोगशील प्रगतिशीलता के स्वर समाहित हैं। इन कविता-स्वरों के रचनाकारों में अज्ञेय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, जगदीश गुप्त, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध, रामदरश मिश्र, श्रीकांत वर्मा, धूमिल, कुँवरनारायण आदि के नाम लिए जा सकते हैं। यद्यपि इनमें से अनेक कवि आज नहीं हैं, फिर भी इनके द्वारा प्रशस्त लोकोन्मुखी यथार्थवादी प्रगतिशील और प्रयोगवादी रचनाधर्मिता का प्रभाव अब भी बरकरार है और समकालीन सर्जनाओं का मुख्य स्वर है। कविता की यह धारा अब भी प्रवहमान है।

पारंपरिक गीत अब भी रचे जा रहे हैं, परंतु निराला से प्रारंभ हुए नवगीत के प्रतीकवादी

बिंब-विधान से एक नूतन शैली और शिल्प का प्रारंभ हुआ था, जो वर्तमान तक आते-आते बहुत विकासशील विधा का विकसित काव्य-परिदृश्य बन गया है। नवगीत के रचयिताओं ने शुचितापूर्ण जीवन-दृष्टि से समन्वित विशिष्ट सृजनशीलता का साहित्यिक कवित्व सृजित किया है। डॉ० शंभूनाथ सिंह, ठाकुरप्रसाद सिंह आदि नवगीत के पुरोधों ने लोकजीवन से प्राप्त, नैसर्गिक जीवन-दृष्टि से उपजे ताज़ प्रतीकों के मौलिक बिंब-विधान से अनुभूति की जो अभिव्यक्ति प्रदान करने में सफलता पाई है, वह अभूतपूर्व है।

नवगीत नवता का काव्य-विधान है। इसमें काव्य-गुणों का स्वाभाविक विकास हुआ है तथा अलंकारों का भी समुचित प्रयोग कवियों ने किया है। यद्यपि शास्त्रीय काव्य-गुणों की प्रतिबद्धता को नवगीतकारों ने अनिवार्यतः नहीं अपनाया है, किंतु स्वाभाविक तथा नैसर्गिक काव्य-गुणों का विकास नवगीत में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। नवगीत में शब्दार्थगत क्लिष्टत्व और अश्लीलत्व के उदाहरण कम ही मिलते हैं।

वर्तमान कविता-धारा में गीत की प्रासंगिकता को स्वीकार करते हुए डॉ० बालकृष्ण गुप्त के विचार हैं—‘समय और समाज के गतिशील परिवर्तन को नूतन दृष्टि से नवीनतम स्पर्शों से ताज़गी का अहसास कराते गीत की विकास-यात्रा नवगीत की मुक्त रसधारा के संवहन में समक्ष हुई है। भाषा, बिंब, शिल्प और कथ्य की अभिनव सर्जना से कवि और कविता की जीवंतता को आज के परिवेश में विश्व-बोध और विज्ञानसम्मत भाव-दृष्टि गीतकार ने ही दी है। इसी भाव और विचार के कलात्मक सृजन को नवगीत के नाम से काव्य-साहित्य ने स्वीकार किया है।’³

जीवन के रागात्मक संवेदनों को नैसर्गिक सुषमा से प्रतीकात्मक भाव-बोध प्रदान करते हुए जीवंत भाव-बोध के आनुभूतिक अभिव्यक्तीकरण में मन की सुकुमार वृत्तियों का उन्मीलन करती आत्मीयता की रसात्मकता के बिंब-विधान से स्पंदित नवगीत की ये पंक्तियाँ कवित्व की अनुपम सुषमा का प्रमाण हैं—

छोड़ आए थे कभी दो पल बिसूनी घाटियाँ
बाँह थामे ले चलीं उस ओर सुरभित आँधियाँ।
कुरमुरे पत्ते लगे फिर गुदगुदाने पाँव
स्वाद क्या-क्या दे गई झरबेरियों की छाँव।⁴

वर्तमान हिंदी कविता में नवगीत सामाजिक जीवन-दृष्टि के बिंब-प्रतिबिंब है। उनमें सांस्कृतिक अनुषंग है, आधुनिक जीवन के संदर्भ हैं, बौद्धिकता का दबाव है, भाव-सौंदर्य की प्राणवत्ता है, राजनीतिक चेतना है, शोषण का प्रतिकार है और सामाजिक चिंतन है। आत्मद्वंद्व के प्रसंगों, आक्रोश की संयत अभिव्यक्ति, प्रेम का स्मृतिपरक अंकन, राष्ट्रीय चेतना और उसके साथ पौराणिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि भी है। प्रकृति का मानवीय रंगलोक, आंचलिकता की प्रवृत्ति, लोकरंगों का अभिव्यक्तीकरण गीत और नवगीत की विशेषता है। आंचलिक लोकधुन की दृष्टि से निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

गोरी-गोरी सोंधी धरती कारे-कारे बीज
बदरा पानी दे!
मैं बोऊँगा बीर बहूटी इंद्रधनुष सतरंग
नए सितारे, नई पीढ़ियाँ, नए धान का रंग

हम बोएँगे नई चुनरियाँ कजरी मेहँदी
राखी के कुछ सूत और सावन की पहली तीज
बदरा पानी दे! ⁵

प्रकृति के प्रतीकों के माध्यम से परिवेश की चित्रमयता व भाषा की शिल्पगत सरलता में युग-सत्य को संदर्भित करती विषमता की पीड़ा का इंजहार करती नवगीत की निम्न पंक्तियाँ कवि के दर्द को व्यक्त कर रही हैं—

हाड़मांस की गठरी-सा जीवन
जीवन जैसे नंगी डाल है।
खड़-खड़ कर उड़ते खग-से पत्ते
फैला भू पर झिलमिल जाल है
आँखों का स्वप्न मिटा जा रहा
पुरवैया धीरे बहो। ⁶

आधुनिक कवि का नख-शिख-वर्णन सौंदर्य-सुषमा का जीवंत रस-कलश छलकाता तन के मांसल वैभव को मन के आह्लाद में समाहित करने को आकुल हो उठता है, जब देह के भूगोल पर उन्माद के गोलार्ध रूप-बिंब निर्मित करते हैं। आज की कविता का एक भाव-बिंब यह भी है—

देह के भूगोल पर उन्माद के गोलार्ध जैसे
रस-भरे कंचन-कलश-सा वक्ष
जहाँ घायल हृदय
विश्राम के क्षण खोजता है
हैं यही वे गंधवाले कक्ष
सिंधु-मंथन में अमृत के कलश यदि जुड़वाँ
निकलते तो तुम्हारे वक्ष का प्रतिमान हो जाते। ⁷

प्रकृति और पुरुष के सुंदर भाव-गीतों में ऋतुओं के मनोहारी दृश्य सैदव से मानव-चेतना को रस-सिक्त करते रहे हैं। एक समय होता है, जब नए-नए फूल खिलते हैं, गुनगुनी धूप अच्छी लगती है जब किसी पक्षी-विशेष की उपस्थिति से जीवन की जीवंतता को नूतन और अनुभूति की भाव-व्यंजना का उपहार मिलता है। शरद ऋतु आई और उसके साथ खंजन भी आए। कवि के मन में उपजी अनुभूति में रागात्मिका अनुभूति भी जा गई। गीत के स्वरो में यह अभिव्यक्ति भी तो आज की कविता की ही देन है—

आज फिर से आ गए खंजन हमारे द्वार
घिर गई ठंडी हवाएँ गुनगुनी पुरवाईयाँ
लग रहा है खिड़कियों से बज रही शहनाइयाँ
हर तरफ़ महका गए खंजन हमारे द्वार।
धन्य हैं सुंदर सलोनी आँख के जोड़े
हँस रहे हैं मालती की पंखुरी तोड़े
चूमते हैं खुशबुओं की डालियों पर बैठ

पाँव तक शरमा गए खंजन हमारे द्वारा।⁸

ये खंजन पक्षी तो प्रतीक हैं, जो मन के प्रीति-पगे भाव को स्वागत गीत के रूप में अपने खंजन-नयन प्रेम के आधार को समर्पित हैं। कवि का भाव-सौंदर्य भाषा और शब्द को बिंब का मनमोहक दर्शन कराने में सफल हुआ है। आज का कवि युग-अपेक्षा के अनुरूप अग्नि-धर्मा गीत भी गाता है और प्रीति-प्यार के रससिक्त गीत भी रचता है। यह इस समय का काव्य-परिदृश्य ही है। केवल व्यथा की कथा ही नहीं है, इस अनुभूति में मधुर भावों की त्वरा भी है।

हिंदी के आधुनिक कवियों की काव्य-दृष्टि किसी एक भाव-धारा का प्रतिनिधित्व नहीं करती, वरन् आज की कविता का समग्र रचना-संसार अनेक जीवन-संदर्भों की साहित्यिक प्रवृत्तियों का सम्मिलित भाव-बोध है। निस्संदेह, आज का कवि किसी नायक या महानायक का प्रशस्ति-गान नहीं करता, किंतु वह मानवी-संवेदना के हर मनोवैज्ञानिक मानस-स्पंदन को अपनी कविता में अभिव्यक्ति देता है। वर्तमान समय की कविता-धारा में विज्ञान-बोध के बिंब हैं, आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता के वैश्विक परिदृश्य हैं और हैं- जीवन के चेतन स्वरो से परितृप्त मनुष्य की भावना और सद्भावना के अंतःकरण से निकले काव्य-गुणों से संपन्न कवित्व के नूतन सृजन समाहार। यद्यपि यह तो कहा ही जा सकता है कि आज की हिंदी-कविता का परिदृश्य यथार्थवादी चिंतन का प्रगतिशील युग है, परंतु इस प्रगतिशीलता में शुष्क भूख-प्यास के रेगिस्तान ही नहीं हैं, इनमें शिवत्व का समाहार भी है।

वर्तमान हिंदी-कविता में अस्तित्व-बोध की सार्थक पहचान करानेवाली जिज्ञासा का विकास हुआ है। यद्यपि इसमें अस्तित्व की विफलता के दृश्य भी हैं, फिर भी शोध की दृष्टि से जिस अप्रतिहत जिज्ञासा का उत्कर्ष संपूर्ण परिदृश्य में व्याप्त है, उसमें सृजन और संहार के साथ ही अनथक संघर्ष, सौंदर्य, परंपरा, क्रांति, जिजीविषा तथा निरंतर विकासमान अनुभव का रूपात्मक प्रतिफलन भी अन्वेषित किया जा सकता है। आज की हिंदी-कविता तात्कालिकता का प्रतिफलन नहीं है, उसमें परंपरा का सुदृढ़ संस्कारित, साहित्यिक रचनात्मकता का विकास भी समाहित है।

संदर्भ

1. डॉ० परमानंद श्रीवास्तव समकालीन कविता का यथार्थ
2. डॉ० लल्लनराय, हिंदी प्रगतिशील कविता
3. डॉ० बालकृष्ण गुप्त, गीत जीवन का रागात्मक गायन, आलेख, अभिज्ञानम्, 1999
4. वीरेंद्र आस्तिक, धार पर हम, पृ० 139
5. धर्मवीर भारती, टंडा लोहा, पृ० 34
6. शंभुनाथसिंह, पाँच जोड़ बाँसुरी
7. कन्हैयालाल वाजपेयी, मेरी प्रतीक्षा अब न करना गीतीतिहास में ये गीत, पृ० 149
8. ओमप्रकाश सिंह, इंद्रधनुषी भाव मेरे, पृ० 29

□ 6/4 फहीमाबाद कॉलोनी
(हलीम कालेज रोड) कानपुर (उ०प्र०)

यादवेंद्र शर्मा चंद्र के उपन्यासों में यथार्थ

डॉ० पूनम शर्मा

यथार्थ से तात्पर्य, जो वस्तु अथवा घटना जैसी घटी है, उसका वैसा ही वर्णन करना। मनुष्य का जीवन अच्छाई तथा बुराई दोनों से परिपूर्ण होता है। मानव-जीवन शक्ति तथा दुर्बलता, लघुता तथा महत्ता, कुरूपता तथा सुरूपता का समन्वय है। इन सभी का मिला-जुला वर्णन ही यथार्थ के अंतर्गत आता है।

कोई भी यथार्थवादी साहित्यकार समाज को भला-बुरा, कोमल-कठोर, सुंदर और कुरूप आदि जिस भी रूप में देखता है, उसको उसी रूप में चित्रित कर देता है। दूसरे शब्दों में यदि कहा जाए तो यथार्थ के अंतर्गत असंगतियों, वैमनस्यों, कटुताओं आदि का चित्रण स्वाभाविक रूप से किया जाता है। यहाँ किसी भी वस्तु को हेय या त्याज्य नहीं माना जाता। कोई भी कलाकार तभी यथार्थवादी बनता है, जब वह किसी भी घटना से, चाहे वह ऐतिहासिक हो या सामाजिक, कुछ विशिष्ट तथ्यों को चुनता है तथा उन्हें सही मायने में कला के साँचे में ढालता है। इस कार्य को करने में उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

यथार्थवादी साहित्यकारों में श्री यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र' विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं। उपन्यास, कहानी और नाटकों के साथ इन्होंने बालोपयोगी साहित्य की भी रचना की है। सभी क्षेत्रों में अपनी विशिष्ट प्रतिभा का परिचय देते हुए इन्होंने उपन्यास-क्षेत्र में विशेष सफलता प्राप्त की है। अब तक इनके लगभग 70 उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें ऐतिहासिक एवं सामंती चेतनापरक, सामाजिक, राजनीतिक एवं मनोवैज्ञानिक सभी प्रकार के उपन्यास हैं। इनके अतिरिक्त कुछ पौराणिक उपन्यास भी हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों में शर्मा जी ने ऐसे ऐतिहासिक तथ्यों का उद्घाटन किया है, जिनको इतिहासकारों ने भी भुला दिया था अथवा उन्हें इतिहास में स्थान नहीं दिया था। इन उपन्यासों की कथावस्तु का निर्माण इतिहास-सम्मत विविध घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में हुआ है। यथार्थ को उजागर करने के लिए एक ओर कथावस्तु में ऐतिहासिक तथ्यों का समावेश किया गया है, तो दूसरी ओर पात्रों का चयन भी इसी दृष्टिकोण को साकार करने के लिए किया है। सामंती चेतनापरक उपन्यासों में सामंती-शोषण एवं कुचक्रों का पर्दाफाश करने के साथ-साथ सामंती-व्यवस्था के दुष्परिणाम भी चित्रित किए गए हैं। सामंत राजा का अधीनस्थ अधिकारी होता था, जिसे राजा की ओर से भूमि अनुदान के रूप में मिलती थी। भारत में सामंतवाद के विकास में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक परिस्थितियों का बहुत बड़ा योगदान रहा। राजपूत काल में सामंतवाद अपने उत्कर्ष पर था। ये सामंत अपनी प्रजा पर

तरह-तरह के अत्याचार करते थे। उनका शोषण करते थे। भारतीय सामंतवाद का वास्तविक रूप हमें राजपूतकाल में देखने को मिलता है।

शर्मा जी के ऐतिहासिक एवं सामंती चेतनापरक उपन्यासों में संन्यासी और सुंदरी, मरुकेसरी, जनानी-डयोढ़ी, दीवान और पटरानी, मैं रानी सुप्यारदे, रक्त-कथा, हीरा और पन्नी, सूखा मरुस्थल और राजा रसीलासिंह का नाम उल्लेखनीय है। इनके माध्यम से उपन्यासकार ने तत्कालीन अनेक समस्याओं जैसे आन-बान-शान का दंभ, युद्ध की विभीषिका, प्रतिशोध एवं षडयंत्र-विधान, विलासी प्रवृत्ति, नारी का भोग्या रूप, छुआछूत का बोलबाला और अकाल की पीड़ा को उद्घाटित किया है।

जब-जब भी हम अपने इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो यह पाते हैं कि क्षत्रियों ने बड़े-बड़े युद्ध केवल अपनी आन-बान-शान के लिए लड़े हैं। अपनी आन-बान-शान को बनाए रखने के लिए क्षत्रिय किसी भी कार्य को करने से पीछे नहीं हटते थे और परिणाम की तनिक भी परवाह नहीं करते थे। किसी की भी जान लेना और जान देना, इनके लिए बड़ी बात नहीं थी। 'मरुकेसरी' में दुर्गादास राजा के राइके को युद्ध में परास्त करके मौत के घाट उतार देता है, और परिणाम की तनिक भी परवाह नहीं करता। वह यह भी विस्मृत कर देता है कि उसकी माता मांगलियाणी का उसके सिवाय दुनिया में और कोई नहीं है। वह केवल उसी के लिए जीवित है। परंतु उसकी माता इसके परिणाम को सोचकर अज्ञात आशंका से भयभीत हो उठती है। वह कहती है—'क्षत्रिय की आन-बान और विवेकहीन दंभ ने ही तो उनकी सत्ताएँ, वैभव और अस्तित्व को नष्ट किया है। यदि पृथ्वीराज चौहान में शरणागत को क्षमा करने का दंभ नहीं होता तो वह शत्रु का दलन कर देता।' ¹ अपनी आन-बान की रक्षा के लिए राजा-महाराजा एवं सामंत सरदार युद्ध करने पर उतारू हो जाते थे। युद्ध इतने भयानक होते थे कि मन काँप उठता है, 'अब की बार जसवंतसिंह और दुर्गादास यवन सेना पर रौद्र रूप धारण करके महाकाल की तरह टूट पड़े। रणक्षेत्र में धड़ और मुंड पड़े थे। कटे अंग अत्यंत ही वीभत्स लग रहे थे। धरा पर बने रक्त के धब्बे रोंगटे खड़े कर रहे थे।' ² इसी प्रकार का दृश्य 'हीरा और पन्नी' में देखने को मिलता है, 'विकृत धड़ और कटे हुए नरमुंड जगह-जगह पड़े हुए थे। कितना दुर्दांत दृश्य। कितनी वीभत्स विभीषिका ... शव ... शव ...।' ³

राठौड़ एवं भाटी सरदार अपनी छोटी-छोटी बात का फैसला भी युद्ध से ही करते थे। यहाँ तक कि धन का बँटवारा करने के लिए भी युद्ध का सहारा लेते हैं, 'राठौड़ सरदार ने सोचकर कहा, क्यों नहीं हम एक औपचारिक लड़ाई लड़ें। उसमें मैं पराजित हो जाऊँगा और आप उस आधे धन के अधिकारी हो जाएँ।' ⁴ युद्धप्रिय ये राजा अपने समस्त रिश्ते-नातों तक को भुला देते हैं। राजा देवराज तो अपनी ससुराल पर ही आक्रमण करके उनको समूल नष्ट कर देता है। ⁵ युद्ध-पूर्व ये राजा युद्ध की तैयारियाँ जोर-शोर से करते थे, 'लड़ाइयों के दिनों में ठिकाणे में काफ़ी हलचल होती थी। सैनिक अपनी-अपनी तलवारों को म्यानों से निकालकर उनकी धार को देखा करते थे। अन्य शस्त्र जैसे भाले, खांडे, बघनखे, छुरियाँ, कटारें और भील मीणे अपने तीरों को सँभालते थे। जिनके अधीन सैनिक होते थे, वे अपने-अपने इलाके के सैनिकों को इकट्ठा करके प्रस्थान की तिथि बताते थे।' ⁶ आप ऐसी तैयारियाँ कीजिए कि देवकरण का ठिकाणा जैतगढ़ श्मशान बन जाए। उसकी ईंट से ईंट बज जाए। वहाँ आदमी क्या

चील-कौवे भी दिखाई न पड़ें।’⁷

पुरुष ही नहीं, स्त्रियाँ भी छोटी-छोटी बात पर मर-मिटने को तैयार रहती थीं। ‘रक्त कथा’ में तो पहले पूजा कौन करेगा? इसी बात को लेकर ठकुराणी सूरज-कुँवर एवं महाकुँवारी दोनों ही युद्ध करने पर उतारू हो जाती हैं। महाकुँवारी सूरजकुँवर से कहती हैं, ‘ठकुराणी जी, मैं कोई जाटनी की जायी नहीं हूँ। मैं भी क्षत्राणी की बेटी हूँ। आन और बान पर अपना सर्वस्व विसर्जन करना जानती हूँ।’⁸ ये युद्ध अक्सर दूसरे की ज़मीन हथियाने, दूसरे की पगड़ी उछालने, दूसरे के गर्व-गौरव को ध्वस्त करने के लिए लड़े जाते थे। इसके अतिरिक्त प्रतिशोध की भावना, राज्य-विस्तार और विरोधी का विनाश भी इन युद्धों का मुख्य कारण होता था। ये लोग एक-दूसरे को परास्त करने के लिए विभिन्न प्रकार के षड्यंत्रों में लिप्त रहते थे। औरंगजेब जसवंतसिंह को परास्त करने के लिए उसके पुत्र पृथ्वीसिंह को षड्यंत्र में फँसाता है। वह पृथ्वीसिंह को एक ऐसी पोशाक भेंट करता है, जिसमें एक प्रकार का विष लगा था, उस पोशाक को पहनने के कुछ समय पश्चात ही उसकी मृत्यु हो जाती है।⁹ इनमें प्रतिशोध की यह भावना इतनी प्रबल होती है कि यी पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती है। राठौड़ सरदार मरते समय भाटी सरदार को कहते हैं, ‘मेरी ठकुराणी का पाँव भारी है। उनसे आप कह दें कि आप जो संतान उत्पन्न करें, वह आप (भाटी सरदार) से मेरा प्रतिशोध ले। राठौड़ सरदार का पुत्र विशाल भाटी सरदार की गर्दन काटकर अपने पिता का प्रतिशोध लेता है तो भाटी सरदार की पुत्री गिगनार भी अपने पिता का प्रतिशोध लेने हेतु अपने पति विशाल की गर्दन धड़ से अलग कर देती है। इस प्रकार दोनों ही परिवार प्रतिशोध की आग में जलकर भस्म हो जाते हैं।’¹⁰ प्रतिशोध की ये ज्वालाएँ राजाओं व सरदारों के मध्य ही नहीं, अपितु उनके राजमहलों और जनानी डयोढियों में भी जलती रहती थीं। ‘जनानी डयोढी’ की नैनरस रमणलाल से प्रतिशोध लेने के लिए षड्यंत्र रचती है। ‘आप मुझे मौत दिला दीजिए, पर मैं दीवान रमणलाल से अपना प्रतिशोध लेना चाहती हूँ। मैं उनकी कृतघ्नता का दंड दिलाना चाहती हूँ।’¹¹

राजा-महाराजा सामंत-सरदार सभी विलासी प्रवृत्ति के होते थे। मदिरा-सेवन के साथ-साथ सुंदरियों में आर्कट डूबे रहना इनका स्वभाव रहा है। नारी इनके लिए मात्र भोग्या रही है। बादशाह औरंगजेब का पुत्र अकबर तो विलासिता की प्रतिमूर्ति है। वह तो युद्धभूमि में भी नृत्यगान और शराब में डूबा हुआ है—‘जहाँ एक-एक योद्धा समर की रणभेरियाँ सुन रहा है, वहाँ वह नृत्यगान में मग्न है। जहाँ योद्धा अपने घर-परिवार से दूर सिर-धड़ों के प्रांगण में तलवार चलाने की सोचता है, वहाँ अकबर जैसा सेनानायक सुरा की मादकता में लीन है।’¹² सामंत एवं ठाकुर भी विलासिता में पीछे नहीं हैं। ये तो अपने यहाँ काम करने वाली स्त्रियों तक को ही वासना का शिकार बना लेते हैं। ‘जनानी-डयोढी’, ‘दिवान और पटरानी’ इसके पुष्ट प्रमाण हैं, जिनके माध्यम से उपन्यासकार ने इनकी विलासी प्रवृत्ति एवं स्त्रियों की नारकीय स्थिति का वर्णन किया है। रूपरस अपने महाराजा के विषय में कहती है, ‘हमारा महाराजा एक ऐय्याश प्रेत है। गर्म-गोश्त का सौदागर।’¹³ ये लोग अपनी वासना-पूर्ति हेतु अपनी जनानी डयोढी में कई तरह की औरतें रखते हैं। पटरानी, रानी, ठकुराणी, पड़दायतन, रखैल, घाघरेवाली मरजीदानियाँ और डावडियाँ।¹⁴ राजा इन सभी के साथ संबंध रखता था। यदि कोई स्त्री

आसानी से समर्पण के लिए तैयार नहीं होती थी तो उसे बलात्कार की विभीषिका झेलने पर विवश होना पड़ता था और तरह-तरह के अत्याचार सहन करने पड़ते थे। 'जनानी डयोदी' में इस तरह की हजारों स्त्रियाँ विद्यमान हैं, जिन पर घोर अत्याचार होते हैं।¹⁵ ठाकुर एवं सरदार स्त्रियों का अपहरण करके उन्हें राजाओं को भेंटस्वरूप प्रदान करते थे।¹⁶

पुरुष ही नहीं, स्त्रियाँ भी विलासी प्रवृत्ति की हैं। इसका कारण है कि इनके पति इनके प्रति इतने कठोर हो जाते हैं कि उनके दर्शन भी इन स्त्रियों को दुर्लभ हो जाते हैं। इसलिए ये स्त्रियाँ अपनी कामवासना को शांत करने के लिए अन्य पुरुषों से संबंध स्थापित कर लेती हैं तथा चमड़े की बनी पाखालों में बाहर से पुरुषों को मँगाकर अपनी इच्छाओं की पूर्ति करती हैं।¹⁷

ठाकुर भाटी अपनी पहली पत्नी से विमुख हो जाते हैं, जिससे वह नितांत एकांकी जीवन जीने के लिए मजबूर है, वह कहती है, 'जो जीवन अभी जी रही हूँ, उसकी परिभाषा मैं नहीं कर सकती। एक मरा हुआ जीवन। ... यदि आपने जीवंत मृत्यु नहीं देखी है तो मुझे देखिए। मैं एक ऐसी मृत्यु हूँ जो चलती हूँ, खाती-पीती हूँ, बोलती हूँ, जागती-सोती हूँ, एक विचित्र मृत्यु।' ¹⁸

स्वयं को श्रेष्ठ माननेवाले ये राजा-महाराजा एवं सामंत सरदार निम्न वर्ग को हेय दृष्टि से देखते हैं और उस पर तरह-तरह के अत्याचार करते हैं। इनको छूने-मात्र से ही ये अपवित्र हो जाएँगे, ऐसा इनका मानना था। यदि ग़लती से भी ये लोग इनको छू लेते तो इसके लिए इनको दंडित किया जाता था। अपनी प्रजा पर तरह-तरह के अत्याचार करना ये अपना अधिकार समझते थे। कर-वसूली के लिए तो ये इनके मिट्टी के बर्तनों को ही फोड़ देते थे।¹⁹ मजदूरों से बेगार ली जाती थी। उन्हें आधा पेट खिलाकर कमर-तोड़ परिश्रम कराया जाता था।²⁰

यथार्थवादी लेखक के लिए यह भी आवश्यक है कि वह अपने चतुर्दिक परिवेश का ईमानदारी से वर्णन करे। साथ ही कट्टर सामाजिक व्यवस्थाओं, रूढ़ियों और अंधविश्वासों के प्रति अनास्था व्यक्त करते हुए क्रांति का सूत्रपात करे और समाज को नवीन दिशा प्रदान करे। वह सभी वर्गों का समान रूप से चित्रण करे। उसके पात्र विशिष्ट हों, परिस्थितियाँ-परिवेश विशिष्ट हों, तब हो वह अपने उद्देश्य में सफल हो सकता है।

यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र' ने अपने सामाजिक उपन्यासों में अपने चतुर्दिक परिवेश को उजागर किया है। इनके उपन्यास समाज में व्याप्त विभिन्न समस्याओं, विषमताओं कट्टरताओं, पतित मान्यताओं, उच्च वर्ग की अमानवीयताओं, मध्यम वर्ग की विवशताओं तथा निम्न वर्ग की अभावग्रस्त दुर्दशा, शोषण व नारकीय यंत्रणाओं का खुला दरवाज़ा हैं। जातिवाद, अमानवीयता, वैधव्य, धनाभाव, विलासी प्रवृत्ति, नैतिक पतन, शिक्षा-जगत का हास, महानगरीय हृदयहीनता एवं फैशनपरस्ती, सांप्रदायिकता ऐसी समस्याएँ हैं, जो हमें अपने चारों ओर दिखाई देती हैं। 'जातिवाद' हमारे देश की एक दीर्घकालीन समस्या है। ब्राह्मण एवं उच्चवर्गीय लोग भंगी-चमार सभी निम्न जातियों को छूना तक पाप समझते हैं। इसी कारण इनके साथ अमानवीय व्यवहार करते हैं तथा भाँति-भाँति से इनका शोषण करते हैं। इन सभी की स्थिति इतनी दयनीय है कि उच्च वर्ग इन्हें ईश्वर के दरबार में भी स्थान नहीं देना चाहता। वहाँ भी वह अपना एकाधिकार चाहता है, 'गूँदली थकी-माँदी थी। तावड़ा (धूप) सारे डोल (शरीर)

को जला रहा था। वह सुस्ताने की गरज से पीपल के गट्टे पर जाकर बैठ गई। उसे बैठे हुए अभी दस-बीस छिन नहीं हुए थे कि पंडित गजराज आ गया। उसने लाल-लाल आँखें करके उसकी पीठ पर गेड़िये की दे मारी साली नगर ढोवणी तू विष्णु भगवान के गट्टे माथे बैठ गई। दूसरी बार यह गलती कर दी तो मादर काढ की टाँगें तोड़कर अलगी कर दूँगा।²¹ उच्च वर्ग व निम्न वर्ग के बीच किसी भी प्रकार संबंध होना संभव ही नहीं है। यदि कोई ऐसा प्रयास करता भी है तो समाज उसे तरह-तरह से प्रताड़ित करता है। फागली भंगिन व ब्राह्मण युवक इंदर दोनों ही एक-दूसरे से प्रेम करते हैं और विवाह सूत्र में बँधना चाहते हैं परंतु फागली इसके भयंकर परिणाम को भी जानती है इसी कारण दोनों समाज के क्रूर पंजों से बचने के लिए भाग जाते हैं।²² जातिवाद एक ऐसी खाई है, जिसने हमारे देश में भाई-भाई की तरह रहनेवाले लोगों को बाँटकर अलग कर दिया है, क्योंकि यहाँ मनुष्य नहीं धर्म रहता है। 'एक और श्रीगणेश' की रीना कहती थी, 'वह हिंदुस्तान कहीं खो गया है, जिसमें हिंदू-मुसलमान रहते थे। जिसमें धर्म नहीं आदमी रहता था। मैं जिस दिन इस देश की सर्वेसर्वा बन जाऊँगी, उस दिन मैं उन सभी बातों को संविधान से मिटा डालूँगी, जो आदमी-आदमी को बाँटती हैं।' परंतु वह अपने इस सुखद स्वप्न को साकार नहीं कर पाती और पुलिस की गोली का शिकार हो जाती है।

निम्न वर्ग का निर्धन होना भी उनके लिए अभिशाप है। बीमार होने पर उनके पास दवा के लिए भी पैसे नहीं होते। इसलिए वे सयाणे या झाड़फूँक वाले का सहारा लेते हैं। बाडकी का पति बीमार है। दवा के लिए भी उसके पास पैसे नहीं हैं। वह किसी सयाणे को बुलाने जा रही है, जो बुखार उतारने के लिए कोई मंतर कर देते हैं, परंतु इस काम के लिए भी सवा पाँच आने लेते हैं। इसलिए वह ओझा जी के सामने गिड़गिड़ाकर उनसे विनती करेगी तो शायद वे उसके पति का इलाज बिना पैसों के कर दें।²³ एक माँ अपने बच्चे के हिस्से का दूध भी सिर्फ इसलिए बेच देती है कि उससे जो पैसा मिलेगा, उससे वह अपने बीमार पति का इलाज करा सकेगी।²⁴ इसके विपरीत उच्च वर्ग धनवान है, विलासी प्रवृत्ति का है। अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण स्त्रियों को केवल भोग की वस्तु समझना इनका स्वभाव रहा है, ये लोग घर की नौकरानियों तक पर भी अपनी वासना-दृष्टि रखते हैं— 'खवास भीखम ने गणेश की वासना-लिप्त दृष्टि को भाँप लिया है। वह अपलक सलमी के गरदाए बदन को चूम रही थी। भीखम नाई कुटिलता से मुस्काया। उसकी तीव्र बुद्धि ने तुरंत सोचा कि आदमी मूलतः सुअर का बच्चा होता है। कितना ही बड़ा रईस, मालदार खानदानी हो, पर कभी-कभी गंदगी में लोटने की इच्छा होती है।' ²⁵ इनका पूर्णतया नैतिक पतन हो चुका है। अपनी काम-वासना के वशीभूत ये अपने रिश्ते-नातों तक को भी ताक पर रख देते हैं। तभी तो विष्णु अपने ही घर में काम करने वाली धाय माँ गुलाबड़ी से बलात्कार का प्रयास करता है।²⁶ उच्च वर्ग द्वारा निम्नवर्ग स्त्रियों का दैहिक शोषण अमानवीयता की पराकाष्ठा है। ये गरीब स्त्रियाँ पैसे के लालच में और भय के कारण सबकुछ सहन करती रहती हैं। परंतु कभी-कभी यह शोषण अपनों के द्वारा ही किया जाता है। सेठानी तुलसी एक ऐसा ही ज्वलंत उदाहरण है। जिसे स्वयं उसका पति ही बाबा जहर घर के पास जाने को विवश कर देता है।²⁷ पति ही स्त्री के लिए सबकुछ है। पति के जीवित रहते ही पत्नी की सब इज्जत करते हैं। समाज उसे आदर की

दृष्टि से देखता है परंतु दुर्भाग्यवश यदि उसके पति की मृत्यु हो जाए तो समाज भी उसे अच्छी निगाह से नहीं देखता। किसी परपुरुष से उसका बात करना भी समाज सहन नहीं करता। भानी की मृत्यु के पश्चात् सूरजड़ी व उसके देवर माधो के विषय में स्वयं सूरजड़ी का भाई ही तरह-तरह की बातें करने लगता है। वह उन दोनों के मिलने तथा बात करने तक को भी शक की दृष्टि से देखता है।²⁸ नैतिक पतन का मुख्य कारण शिक्षा-जगत का हास है। शिक्षा केवल उच्च वर्ग तक ही सीमित होकर रह गई है। निम्न वर्ग को शिक्षा का अधिकार नहीं है।²⁹ शिक्षा का पूर्णतया व्यवसायीकरण हो गया है। कुछ शिक्षक तो शिक्षण-कार्य को उबाऊ समझते हैं। मालती का कहना है कि टीचिंग लाइन बड़ी उबाऊ है। यदि उसे कहीं आकाशवाणी में नौकरी मिल जाए तो ठीक रहे।'³⁰ इसीलिए महानगरों में लड़कियाँ आधुनिकता का ढोंग करती हैं और सिगरेट-शराब को भी नहीं छोड़तीं। ये महानगर कीडी घर हो गए हैं, जहाँ मनुष्य चींटियों की भाँति निवास रकते हैं।

उपन्यास जनतंत्रीय साहित्यिक विधा है तो राजनीति भी समाज का एक महत्वपूर्ण अंग है। समाज के निर्माण में व्यक्ति के उत्थान-पतन में राजनीति का विशिष्ट योगदान रहता है। राजनीतिक उपन्यास अपने अति व्याप्त रूप में युग-चेतना से जुड़े होते हैं। जो सामाजिक परिप्रेक्ष्य में मनुष्य में संघर्षशील व्यक्तित्व और युगीन समस्याओं को प्रस्तुत करते हैं। इन समस्याओं में मानव और समाज को प्रभावित करनेवाली वे सभी समस्याएँ आ जाती हैं जो राजनीति से पृथक् नहीं होतीं। चंद्र जी ने भी अपने राजनीतिक उपन्यासों में विभिन्न राजनीतिक समस्याओं को उकेरा है। चुनावी भ्रष्टाचार, राजनीतिक दाँव-पेंच, राजनीतिक षड्यंत्र, अवसरवादिता, जातिवाद, सांप्रदायिक संघर्ष, वंश-परंपरा आदि अनेक ऐसी समस्याएँ हैं, जो हमारी राजनीति में व्याप्त हैं। शर्मा जी ने स्पष्ट किया है कि सत्ता एक प्रकार की भूख है, जिसे शांत करने के लिए राजनीतिज्ञ पाँच वर्ष बाद चुनाव लड़ते हैं। यह वह समय है, जब वे प्रजा को याद करते हैं। चुनाव जीतने के लिए सभी प्रकार के हथकंडे अपनाए जाते हैं 'एक और मुख्यमंत्री' का अरविंद इन सबमें माहिर है। वह शची को चुनाव में खड़ा करता है, क्योंकि वह उसके स्त्री होने का भी लाभ उठाना चाहता है, 'तुम कांग्रेस को छोड़कर, खड़ी हो जाओ। अपना चुनाव-चिह्न वही लो जो नगर के महाराजा लेते हैं। यहाँ तो झूठों का बोलबाला और सच्चों का मुँह काला है फिर तुम्हारी जाति के लोग ... औरत का होना तुम त्रिया चरित्र के सारे हथकंडे अपनाओ।'³¹ सत्ता-मोह के कारण दल-बदल की नीति जोर पकड़ती है, यही कारण है कि अरविंद कांग्रेस पार्टी से त्याग-पत्र देकर अपनी एक अलग पार्टी 'देशकाल' बनाता है और मुख्यमंत्री पद को सुशोभित करता है। तरह-तरह के दाँव-पेंच लगाए जाते हैं। यदि समय पर दाँव-पेंच नहीं लगाए तो फिर हाथ मलते रह जाना पड़ेगा। अनेक राजनीतिक षड्यंत्रों का आश्रय लिया जाता है। सत्ता में प्रवेश करते ही अपने विरोधियों को मार्ग से हटाने के प्रयास आरंभ हो जाते हैं। इसके लिए अपने प्रतिद्वंद्वी के प्राण ले लेना भी कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं है। कुछ लोग तो इतने अवसरवादी होते हैं कि जो भी पार्टी सत्ता में हो, उसी का दामन थाम लेते हैं। उसी की जय-जयकार करने लगते हैं। आशुतोष कांग्रेस के शासनकाल में इंदिरा व संजय गांधी के बुकलेट छपवाते हैं। 'प्रजाराम' उपन्यास में प्रजाराम के पूछने पर आशुतोष कहता है, 'इसे अवसरवादिता की राजनीति कहते हैं। प्रजाराम, कल के कांग्रेसी आज जनता

पार्टी के महारथी बन सकते हैं तो कल का अवसरवादी आज इनका भोंपू क्यों नहीं बन सकता।’³² प्रत्येक चुनाव जाति के नाम पर लड़ा जाता है। जातिवाद के आधार पर नारे लगाए जाते हैं, ‘जाट की बेटी जाट को तो जाट का वोट जाट को, हमारे नेताओं की सोच संकीर्ण हो गई है।’³³ यह कैसी विडम्बना है कि आज भी हम जातीयता की बात करते हैं। सभी जाति और धर्म को ही जीते हैं और जब तक आदमी जाति और धर्म को जीता रहेगा, तब तक मानवता का हनन होता रहेगा। देश अराजकता की ओर चलता चला जाएगा।

भारतीय हमारी जाति नहीं मानी जाती। हमें अपने हिंदू, मुसलमान, सिक्ख या चमार होने का प्रमाण देना ही होगा। हज़ार घोटों के सवार के गीधू को जातीय आधार पर चुनाव लड़ने को विवश किया जाता है, जबकि वह भारतीय कहलाना पसंद करता है। सेठ गणेश उससे कहता है, ‘उसके लिए तुम्हें भारतीय-वारतीय के चक्कर को छोड़कर चमार होने का प्रमाण-पत्र लाना पड़ेगा। यह भारतीय कोई जाति नहीं है। इसलिए तुम्हें प्रामाणिक रूप से बताना पड़ेगा कि तुम चमार हो। तुम निःसंदेह संसद सदस्य बन जाओगे।’³⁴ चुनाव के समय सांप्रदायिक ताकते विशेष रूप से सक्रिय हो जाती हैं, ‘मिल की पश्चिमी बस्ती में अल्ला हो अकबर का तीव्र नाद हुआ और संगठित रूप से अल्पसंख्यक हिंदुओं पर घातक आक्रमण किया। आदमी आदमी को इतनी सहजता से मारने लगा मानो वह मौत का खेल कर रहा हो। स्त्रियों के स्तन काट दिए गए। उनके गुप्तांगों में छुरे भौंके गए।’³⁵ इस प्रकार सांप्रदायिकता का तांडव खेला जाता है।

स्वस्थ राजनीति के लिए वंश-परंपरा की राजनीति अत्यंत घातक है। मंत्री का बेटा मंत्री, विधायक का बेटा विधायक और अफसर का बेटा अफसर बनने का प्रयास करता है। सभी अपना घर देखते हैं। उनके सामने देश बहुत बौना होता जा रहा है। यदि हमें अपने देश को प्रगति के पथ पर लाना है तो इन सभी बुराइयों को दूर करना ही होगा।

मनुष्य के नित्यप्रति के साधारण क्रियाकलाप के पीछे चेतन मन कार्यरत रहता है। इस चेतन मन के भीतर भी मनुष्य की दबी हुई भावनाएँ, वासनाएँ तथा अन्य शक्तियाँ छिपी होती हैं। उनसे अचेतन मन बनता है। साहित्यिक कृतियों में भी मानव-मन की दशाएँ छिपी रहती हैं। मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों में सामान्य समाज की गतिविधियों के अतिरिक्त व्यक्ति-विशेष और उसमें भी बहिःजीवन की अपेक्षा अंतःजीवन के यथार्थ को केंद्र बनाया जाता है। ऐसे उपन्यासों के पात्र अपने बाह्य परिवेश और परिस्थितियों के बजाय भीतरी-वासना प्रेरणाओं से निर्मित एवं संचालित, प्रभावित होते हैं।

शर्मा जी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में ‘सावित्री’, ‘आतंक’, ‘शापित वह’, ‘अपना अतीत’, ‘आदमी में मगरमच्छ’, ‘आकृतियाँ’, ‘दो रंग’, ‘मोहभंग’, ‘पाँव में’, ‘आँख वाले’, ‘चेहरे मत उतारो’, ‘अग्निपथ’ आदि की गणना की जा सकती है। इन सभी उपन्यासों में यौन-समस्याओं, भय एवं घृणा, हीन-भावना तथा भूतप्रेतजनित भय का स्वाभाविक चित्रण देखने को मिलता है।

मनुष्य की जब कोई इच्छा पूर्ण नहीं हो पाती तो एक हीनभावना, एक कुंठा उसके अंदर जन्म ले लेती है। रमेश, सोनल से प्रेम करता है परंतु वह उसके प्रेम को अस्वीकार कर देती है, जिससे उसके अंदर एक वासनाजन्य कुंठा जन्म ले लेती है। वह उसकी हमशक्ल बेटी

मीनल को ही सोनल समझकर उसके साथ बलात्कार करता है। वह स्वयं स्वीकार करता है मेरे अंदर एक कुंठा, एक काम्प्लेक्स था, जो कुंडली मारे साँप की तरह बैठा रहा और जो मुझे समय-समय पर सताता रहता था। मैं तुम्हें कसम खाकर बताता हूँ कि मैंने मीनल का कुछ नहीं बिगाड़ा, मैंने तुम्हें पाया है। तुम्हें भोगा है। मैंने तो तुम्हें अपनाया था। मेरे युवा प्रेम को।’³⁶ कस्तूरी भी जब अपने अपंग और कुरूप पति से संतुष्ट नहीं हो पाती, तो वह अपने पड़ोसी युवक मुकुंद से ही संबंध स्थापित कर लेती है जो कि उसकी शारीरिक व आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। अपनी इसी वासनाजन्य कुंठा के कारण कभी-कभी कस्तूरी विचारों में ही अपने बहनोई तक से संबंध कर लेती है।³⁷ कुंठा के कारण व्यक्ति दूसरों के प्रति घृणा से भर उठता है। आनंद को संपूर्ण नारी जाति से घृणा है, क्योंकि अभी तक जितनी स्त्रियाँ उसके जीवन में आईं सभी उसे अकेला छोड़कर चली गईं। वह कहता है, ‘यह नारी-जाति का मनोविज्ञान है। कदाचित सारी मानव-जाति का, ऐश्वर्य की ओर भागना। एक विलासयमय जीवन की ओर ललकना। दो नारियों की हृदयहीनता ने मेरे कोमल हृदय में इनके प्रति घृणा को जगाया।’³⁸ मनुष्य के अंदर की कमी उसमें हीनभावना को जन्म दे देती है। सरवण का विवाह एक ऐसी लड़की से हो जाता है, जो उससे आयु व बल दोनों में अधिक है। वह उसके समक्ष बच्चा-सा लगता है। इसी हीनभावना के कारण वह अपनी पत्नी व घर को छोड़कर भाग जाता है, ‘सच में मैं उसके समक्ष छोटा-सा लगता था। वह मुझे बालक की तरह गोद में उठा सकती थी। मेरा मन एक विचित्र उदासी और चिंता से भर गया। सोचता रहा यह मेरी बीनणी (बहू) है। इतनी बड़ी, तनतनाती, घोड़ी की तरह। मेरा जीवन खराब हो गया। मुझे शर्म आने लगी एकहीनता की भावना मुझमें उत्पन्न हो गई।’³⁹ चंद्रेश तो एक लड़की द्वारा स्वयं को रिजेक्ट किए जाने के कारण ही हीनता का शिकार हो गया।⁴⁰ उसे लगा कि किसी ने उसके गाल पर तमाचा मार दिया हो। अपनी हीनभावना के कारण मनुष्य कभी-कभी कुछ ऐसा कर जाता है कि भय उसके अंदर समा जाता है। इंद्र के द्वारा विवाह से इंकार किए जाने पर जब वनिता आत्महत्या कर लेती है तो इंद्र को चारों ओर वनिता का भूत ही नजर आता है। वह सोते-जागते इसी भय का शिकार रहता है कि वनिता अभी उसकी जान ले लेगी, क्योंकि उसके कारण ही उसने आत्महत्या की है। इस प्रकार भूत-प्रेतजनित भय के कारण उसका जीवन विषाक्त हो जाता है।⁴¹

यादवेंद्र शर्मा ‘चंद्र’ के उपन्यास चूँकि यथार्थ के अधिक निकट हैं, इसीलिए इनके सभी पात्र विशिष्ट भूमिका का निर्वाह करते हैं। प्रत्येक पात्र अपने व्यक्तित्व की पहचान, निज स्वभाव, चरित्र एवं संवेदना की गहरी छाप छोड़ जाता है। वह हज़ार घोड़ों का सवार गीधू हो, मरुकेसरी का दुर्गादास, सावित्री की सावित्री हो, ‘देहगाथा माधवी की’ माधवी हो या फिर एक ही नियति की शकुंतला, सभी पात्र अपने-अपने रूपों में विशेष प्रभावित करते हैं। एक और मुख्यमंत्री का अरविंद, दीनानाथ चौधरी, ‘प्रजाराम’ का आशुतोष ‘कुर्सी गायब हो गयी’ के अनामसिंह मंत्री जी सभी आज की भ्रष्ट राजनीति में मिलनेवाले अवसरवादी सत्तालोलुप चरित्रों का पूर्णरूपेण प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके अतिरिक्त एक और श्रीगणेश में न्याय-व्यवस्था का उपहास उड़ानेवाले सतीश और मोहन जैसे पात्र भी हमें दृष्टिगत होते हैं।

शर्मा जी ने अपने उपन्यासों में तत्कालीन परिवेश का निरूपण किया है। सामाजिक

उपन्यासों में समाज में व्याप्त विभिन्न बुराइयों, अंधविश्वासों, धार्मिक विद्रूपताओं का वर्णन किया है। साथ-ही-साथ राजस्थानी सभ्यता, संस्कृति, रीति-रिवाज परंपराओं सामंती जीवन आदि का भी वर्णित किया है। हज़ार घोड़ों का सवार, वापसी चूनर की पीड़ा, सूखा मरुस्थल, जनानी डयोढ़ी आदि उपन्यासों में हम इसकी स्पष्ट झलक देख सकते हैं।

राजनीतिक उपन्यासों में राजनीतिक परिवेश पूर्णतया दृष्टिगोचर होता है। इनमें भारत-पाक विभाजन के समय का चित्रण है तो चुनाव के समय होनेवाली विभिन्न चुनावी सरगर्मियों का भी चित्रण है।

शब्दावली की अनुकूलता शर्मा जी के उपन्यासों में सर्वत्र विद्यमान है। इन्होंने प्रसंग, घटना, पात्र एवं परिवेश के अनुकूल ही शब्दावली का चयन किया है। यही कारण है कि इनकी भाषा सहज, सरल एवं सरस बन पड़ी है। राजस्थानी परिवेश का चित्रण करते समय वैसी ही शब्दावली मिलती है 'थारै जेठ का दाँत दुःख रहा है। कल रात घणोई (बहुत) सरसों का तेल और सिंधों नमक मलियों पण अभी तक पीड़ा ज्युँ की त्युँ है।'⁴² भाषा को अधिक प्रभावशाली और प्रवाहपूर्ण बनाने के लिए शर्मा जी ने यत्र-तत्र प्रसंगानुकूल कहावतों व सूक्तियों का भी समावेश किया है।

राजाओं के राजप्रसादों और तपोवनों की पवित्रता आदि के वर्णन में संस्कृतनिष्ठ शब्दावली का प्रयोग किया गया है तो राजा-रानियों एवं सामंतों के विभिन्न मनोभावों की अभिव्यक्ति में कहीं ओजपूर्ण तो कहीं-कहीं माधुर्ययुक्त शब्दावली का आश्रय लिया गया है।

सामंती चेतनापरक उपन्यासों में रोषादि को प्रकट करने के लिए यत्र-तत्र अपशब्दों का प्रयोग भी दृष्टव्य है, जो संभवतः तत्कालीन परिवेश को उजागर करने में सहायक है। 'मैं रानी सुप्यार दे' में झुमकी व केसरीसिंह के मध्य राजस्थानी व हिंदीभाषा का मिश्रण भी देखा जा सकता है। 'हम जागलू की ओर से आए हैं।' कुम्भार (कुम्हार) है। बिखै (कष्ट) के मारे। तीन दिनों से तो घासफूस भी ऐसा नहीं मिला कि पेट लाय (आग) बुझा सकें।'⁴³ इसके अतिरिक्त मुगलकालीन वातावरण की सृष्टि में उर्दू भाषा सहायक सिद्ध हुई है।⁴⁴

राजनीतिक उपन्यासों में मुख्यतया उपन्यासकार ने व्यंग्यात्मक शब्दावली का समावेश किया है 'एक और मुख्यमंत्री' में अफसरों पर व्यंग्य करते हुए उनका यथार्थ प्रकट किया गया है, 'म्यूनिसिपलिटियों के सफ़ेद और स्वच्छ वस्त्र वाले कमिश्नरों के विपरीत यह नाला उतना ही घिनौना और काला था। वहाँ के ग़रीब निवासियों का आजकल रहना दूभर हो रहा था। वहाँ के असभ्य निवासी उन कमिश्नरों की इज़्जत पर धूल उड़ाते हुए कभी-कभी बड़ी असभ्य बातें कह देते थे, जो उन्हें सर्वथा शिष्टता का विचार करके नहीं कहनी चाहिए। ...'⁴⁵

'चंद्र' जी के पात्र अँग्रेज़ी शब्दावली का प्रयोग भी करते देखे जा सकते हैं, जिससे भाषा में एक प्रवाहमयता आ गई है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में मनःस्थितियों को प्रकट करने के लिए लोकगीत, कविता, गज़ल, शेरों आदि का भी प्रयोग किया गया है।⁴⁶

इस प्रकार समग्र रूप से कह सकते हैं कि यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र' के उपन्यास उनकी अनुभूतियों, संवेदनाओं और अनुभवों का दर्पण हैं। उन्होंने जिस रूप में जैसी स्थितियों को देखा, परखा और भोगा, उसको उसी रूप में अभिव्यक्त कर दिया। निःसंदेह, उनका संपूर्ण

उपन्यास-साहित्य तत्कालीन युग की सच्चाई अंकित करने में समर्थ है।

संदर्भ

1. मरुकेसरी, पृ० 25
2. वही, पृ० 39
3. हीरा और पन्नी, पृ० 12
4. रक्त-कथा, पृ० 77
5. हीरा और पन्नी, पृ० 12
6. मैं रानी सुप्यारदे, पृ० 24
7. हीरा और पन्नी, पृ० 39
8. रक्तकथा, पृ० 67
9. मरुकेसरी, पृ० 59
10. रक्तकथा
11. जनानी डयोदी, पृ० 91
12. मरुकेसरी, पृ० 91
13. जनानी डयोदी, पृ० 18
14. राजा रसीलासिंह, पृ० 17
15. जनानी डयोदी, पृ० 110
16. वही, पृ० 78
17. वही, पृ० 72
18. रक्तकथा, पृ० 17
19. मैं रानी सुप्यारदे, पृ० 17
20. हीरा और पन्नी, पृ० 26
21. हज़ार घोड़ों का सवार, पृ० 8
22. चूनर की पीड़ा, पृ० 14
23. हज़ार घोड़ों का सवार, पृ० 8
24. गुलाबड़ी, पृ० 13
25. हज़ार घोड़ों का सवार, पृ० 8
26. गुलाबड़ी, पृ० 59
27. चूनर की पीड़ा, पृ० 225
28. वापसी, पृ० 48
29. हज़ार घोड़ों का सवार, पृ० 48
30. एक और श्रीगणेश, पृ० 6
31. एक और मुख्यमंत्री, पृ० 150
32. प्रजाराम, पृ० 104
33. एक और मुख्यमंत्री, पृ० 361

34. हज़ार घोड़ों का सवार, पृ० 315
35. एक और मुख्यमंत्री, पृ० 198
36. अपना अतीत, पृ० 83-84
37. अंतर्मन, पृ० 125
38. आकृतियाँ, पृ० 17
39. सावित्री, पृ० 25
40. चेहरे मत उतारो, पृ० 30
41. शापित वह, पृ० 62
42. मैं रानी सुप्यारदे, पृ० 84
43. मरुकेसरी, पृ० 116
44. शापित वह, पृ० 21
45. वही, पृ० 21
46. एक और मुख्यमंत्री, पृ० 10

□ म०नं० 3101 वार्ड नं० 2 बी
निकट जे०बी० जैन कालेज
प्रद्युम्न नगर, सहारनपुर (उ०प्र०)

संप्रत्यय निर्माण में विद्यालय वातावरण के प्रभाव का अध्ययन

डॉ० शची त्रिपाठी

डॉ० शिल्पी शर्मा

श्रीमती सुषमा अग्रवाल

प्रवक्ता, शिक्षा संस्थान, बुंदेलखंड विश्वविद्यालय, झाँसी (उ०प्र०)

न चौरहार्यम् न भ्रातृभाज्यम् न च भारकारि

व्ययकृते वर्धते एव नित्यम् विद्याधनम् सर्वधनम् प्रधानम्।

उपर्युक्त उक्ति हमें 'विद्या' या शिक्षा की महत्ता को बताती है और यह प्रेरणा प्रदान करती है कि सभी धनों में प्रधान धन 'विद्या' धन ही है, क्योंकि विद्या-धन को न चोर चुरा सकता है, न भाई-बंधु बाँट सकते हैं और न ही वह भारस्वरूप होती है। यह ऐसा धन है, जो व्यय करने से बढ़ता है। इस प्रकार विद्या-धन सभी धनों में प्रधान धन है। यों तो शिक्षा या विद्या ग्रहण करने की प्रक्रिया बालक के जन्म के समय से ही घर से आरंभ हो जाती है, किंतु बालक के सर्वांगीण विकास हेतु एक उचित व्यवस्था की आवश्यकता होती है, ताकि उसके व्यक्तित्व को सही आकार या सही दिशा-निर्देशन दिया जा सके। इस भूमिका का निर्वहन विद्या का आलय अर्थात् विद्यालय ही कर सकता है।

आत्माराम शर्मा ने विद्यालय की भूमिका को इस प्रकार प्रस्तुत किया है— 'समाज ने अपने सदस्यों को अपने आदर्शों, नियम, आशाओं, संस्कृति, विचारों आदि का ज्ञान देने, विभिन्न योग्यताएँ, आदतें, मनोवृत्तियाँ तथा कार्यकौशल प्रदान करने तथा शांति-सहयोग से अपने जीवन को सुंदर रूप से बिताने के योग्य बनाने के लिये ही शिक्षा-संस्थाओं (विद्यालयों) को जन्म दिया है।'

जब एक शिशु इस पृथ्वी पर जन्म लेता है और इस रहस्यमयी वसुंधरा में पहली बार आँखें खोलता है, तब वह यहाँ की प्रत्येक वस्तु से अनभिज्ञ होता है। उसे इस संसार का ज्ञान नहीं होता, परंतु जिज्ञासा एवं ज्ञानार्जन की जन्मजात शक्ति एवं उचित वातावरण प्राप्त होने पर वह धीरे-धीरे ज्ञान प्राप्त करता है। अतः शिक्षा का महत्त्व प्रथमतः यह है कि यह मनुष्य को अज्ञान (अंधकार) से ज्ञान (प्रकाश) की ओर ले आती है।

सर्वप्रथम बालक की शिक्षा उसके परिवार से प्रारंभ होती है। जहाँ बालक की प्रथम

पाठशाला उसकी माँ होती है, जिसके संरक्षण में वह अपने परिवार के लोगों का अनुकरण कर कई क्रियाएँ (सुनना, बोलना, चलना, खाना-पीना) सीखता है तथा घरेलू वातावरण में उसके द्वारा प्रयोग में लाई जानेवाली वस्तुओं के प्रति उसके मन में 'संप्रत्यय के निर्माण' की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। परंतु बालक की जन्मजात शक्तियों का उचित विकास करने के लिए व उनके व्यवहार में वांछित परिवर्तन लाने के लिए समाज द्वारा विद्यालय की व्यवस्था की जाती है।

‘बच्चा जन्म से कोरी स्लेट होता है।’

यथार्थवादी विचारक 'लॉक' का यह कथन इस बात की पुष्टि करता है कि बच्चों को जैसा वातावरण दिया जाएगा, वे वैसे ही बनेंगे।

अल्पआयु में ही बालक विद्यालय में प्रवेश करता है, अतः विद्यालय के वातावरण का प्रभाव उसके कोमल मन पर पड़ता है, जो उनके द्वारा किसी वस्तु या विषय के प्रति बननेवाले 'संप्रत्यय' को प्रभावित करता है।

संप्रत्यय को नींव का पत्थर माना जाता है, क्योंकि इन पर ही एक बालक अपने विचारों का महल खड़ा करता है और जो उसकी मानसिक प्रक्रियाओं को बल प्रदान करते हैं। चिंतन एक जटिल मानसिक प्रक्रिया है तथा इसका एक महत्वपूर्ण पक्ष संप्रत्यय (Concept) का विकास (Formation) है। संप्रत्यय एक ऐसे प्रतीक को कहा जाता है, जिससे बालक को वस्तुओं की सामान्य विशेषताओं का पता चलता है या किसी वस्तु को देखकर बालक के मस्तिष्क में उसकी एक प्रतिमा या धारणा बन जाती है और यही धारणा संप्रत्यय-निर्माण में योग प्रदान करती है और उसी से उसका भाषा-विकास भी होता है।

मनोवैज्ञानिकों द्वारा संप्रत्यय को चिंतन का एक प्रमुख साधन माना गया है, क्योंकि इससे समस्या के समाधान में या चिंतन में काफी मदद मिलती है।

संप्रत्यय-निर्माण में मनोवैज्ञानिकों ने दो तरह की क्रियाओं को महत्वपूर्ण माना है—
पृथक्करण (Differentiation) तथा सामान्यीकरण (Generalization)

मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोगों के आधार पर कई कारकों के विषय में बताया है जो संप्रत्यय निर्माण की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं, जो इस प्रकार हैं—

‘वातावरण या वातावरण में उपस्थित उद्दीपक क्रियाओं का कारण बनते हैं जो कि व्यक्ति की इंद्रियों तक पहुँचते हैं और बाद में हृदय तक।’ ... अरस्तू

सर्वप्रथम अरस्तू ने ही व्यक्ति के व्यवहार पर वातावरण के महत्व को बताया। विद्यालय में प्रायः एक ही माता-पिता से उत्पन्न व एक ही परिवार में पले हुए एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न रुचियों तथा गुणों की विकासशील अवस्था में बालक अध्ययन-हेतु आते हैं।

ऐसे में 'विद्यालयी वातावरण' व 'मनोवैज्ञानिक वातावरण' बालकों के ज्ञानात्मक विकास तथा शैक्षिक उपलब्धि में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। एक ही कक्षा में पढ़ रहे छात्र ज्ञानात्मक, भावात्मक व क्रियात्मक क्षेत्र में अपनी अलग-अलग क्षमता प्रदर्शित करते हैं। इसका कारण बाह्य प्रभावी शैक्षिक वातावरण भी है, क्योंकि शिक्षा की प्रक्रिया कक्षा में शिक्षण-अधिगम परिस्थितियों पर केंद्रित होती है।

‘The Curriculum for ten year school. A frame work – NCERT’ के अनुसार—

विद्यालय-संगठन का उद्देश्य 'विद्यालय में वांछित वातावरण का निर्माण करना है तथा राज्य द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम में स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन कर उसे समायोजित करना है ... आकर्षक विद्यालय वातावरण के निर्माण में प्रधानाध्यापक की प्रमुख भूमिका होती है। इस वातावरण के दो पक्ष हैं-

1. भौतिक वातावरण (Physical Environment)

2. मनोवैज्ञानिक वातावरण (Psychological Environment)

भौतिक वातावरण के अंतर्गत विद्यालय-भवन की स्वच्छता, स्वास्थ्य सेवाएँ, निर्देशन-सेवा तथा न्यूनतम उपकरण एवं अन्य भौतिक साधनों का प्रावधान किया जाता है।

भौतिक वातावरण से तात्पर्य विद्यालय के प्रधान, अध्यापक, विद्यार्थी एवं अभिभावकों में परस्पर सद्भाव एवं सहयोग की भावना का विकास करना है। विद्यालय में इस प्रकार के वातावरण का निर्माण किया जाना अच्छे संगठन एवं प्रशासन से ही संभव होता है।

भारत में विद्यालय वातावरण के क्षेत्र में 1960 के बाद अध्यापन आरंभ हुआ। विभिन्न प्रकार के सर्वे एवं अध्यापकों से यह ज्ञात हुआ कि विद्यालय-वातावरण प्रत्येक प्रकार से बच्चों के विकास पर अथवा संप्रत्यय-निर्माण की प्रक्रिया पर प्रभाव डालता है।

कोठारी शिक्षा आयोग (1964) के अनुसार- 'भारत के भाग्य का निर्माण उसकी कक्षाओं में ही रहा है।'

कोठारी शिक्षा आयोग के इन शब्दों में देश के भावी नागरिकों के निर्माण में शिक्षण-संस्थाओं के कुशल प्रबंध या संगठन का महत्व स्वीकार किया है, जिसके द्वारा विद्यालयों में अनुकूल वातावरण निर्मित कर शैक्षिक उद्देश्यों को उपलब्ध करने में सहायता मिलती है।

कई सर्वेक्षणों व अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ है कि विद्यालय अपने अनुभवों के आधार पर अंतर रखते हैं। वर्तमान समय में हर अभिभावक अपने बच्चों को ऐसे स्कूल में प्रवेश दिलाना चाहते हैं, जहाँ उनके बच्चों के बौद्धिक व नैतिक विकास-हेतु सामग्री व वातावरण उपलब्ध हो।

ऐसी परिस्थिति में यह समझना आवश्यक हो जाता है कि क्या विद्यालय के वातावरण से जुड़ी हर कड़ी अपने दायित्वों को निभा रही है?

विद्यालय में रहते हुए बच्चों के बौद्धिक व नैतिक विकास में क्या कठिनाइयाँ आ रही हैं?

इन कठिनाइयों का निराकरण विद्यालय द्वारा कैसे किया जा रहा है?

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में कुछ प्राथमिक विद्यालयों को लेकर यह अध्ययन प्रस्तुत किया है।

परिकल्पना :

प्रस्तुत अध्ययन में निम्नलिखित शून्य परिकल्पनाओं का निर्माण किया गया है।

1. संप्रत्यय-निर्माण में विद्यालय के वातावरण का कोई सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता।
2. हिंदी माध्यम व अँग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों के संप्रत्यय-निर्माण

में कोई सार्थक अंतर नहीं होता है।

3. हिंदी माध्यम के विद्यालयों के वातावरण का विद्यार्थियों के संप्रत्यय निर्माण पर कोई सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता।
4. अँग्रेजी माध्यम के विद्यालयों के वातावरण का विद्यार्थियों के संप्रत्यय निर्माण पर कोई सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता।

अध्ययन के चर :

1. संप्रत्यय-निर्माण— यह एक आश्रित चर है, जो कि विद्यालय-वातावरण पर आश्रित है।
2. विद्यालय-वातावरण—यह एक स्वतंत्र चर है।

अध्ययन की परिसीमाएँ :

1. प्रस्तुत अध्ययन में विद्यालय-वातावरण के अतिरिक्त उन चरों को शामिल नहीं किया जाएगा, जो संप्रत्यय-निर्माण पर प्रभाव डालते हैं।
2. प्रस्तुत अध्ययन में झाँसी शहर के चार विद्यालयों, जिनमें दो हिंदी माध्यम व दो अँग्रेजी माध्यम विद्यालयों का चयन किया जाएगा।

अध्ययन की विधि :

प्रस्तुत अध्ययन हेतु 'सर्वेक्षण विधि' (Survey Method) का चयन किया गया है।

प्रतिदर्श चयन :

प्रस्तुत अध्ययन हेतु विद्यालयों तथा विद्यार्थियों का चयन असंभाव्यता प्रकार के सोद्देश्य असंभाव्यता न्यादर्शन (Purposive Non Probability Sampling) द्वारा किया गया है।

प्रतिदर्श का आकार (Sample Size) :

प्रस्तुत शोध में संप्रत्यय निर्माण पर विद्यालय वातावरण के प्रभाव का अध्ययन किया जा रहा है, जिसमें दो हिंदी माध्यम विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर रहे 25-25 विद्यार्थियों को तथा दो अँग्रेजी माध्यम विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर रहे 25-25 विद्यार्थियों को चयनित किया है।

प्रस्तुत अध्ययन के लिए निम्नलिखित उपकरणों का चयन किया गया है—

1. विद्यालय वातावरण परिसूची (स्वनिर्मित)
2. Concept Achievement (formation) Test (Dr. M. Raja Manickam) Chennai
निष्कर्ष— तालिका नं. 1 का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि t का परिगणित मान 3.44 है जोकि df 98 के लिए 0.01 स्तर पर सारणीमान 2.63 से अधिक है। अतः टी-मान 0.01 स्तर पर सार्थक पाया गया, इसलिए 0.01 स्तर पर शून्य परिकल्पना निरस्त होती है। इसका तात्पर्य यह है कि दोनों समूहों के प्राप्तांकों में सार्थक अंतर है। जिससे यह पता चलता है कि संप्रत्यय-निर्माण पर विद्यालय के वातावरण का प्रभाव पड़ता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि एक विद्यार्थी का बौद्धिक विकास उसके आस-पास के वातावरण पर निर्भर

करता है, क्योंकि एक विद्यार्थी के रूप में एक बालक का बहुत अधिक समय विद्यालय में व्यतीत होता है इसलिए यह माना जा सकता है कि विद्यालय-वातावरण, संप्रत्यय-निर्माण को प्रभावित करता है।

तालिका नं. 2 के अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि t का परिगणित मान 0.52 है जो कि df 98 के लिए 0.01 स्तर पर सारणीमान 2.63 से कम है। इसका तात्पर्य यह है कि दोनों समूहों के प्राप्तांकों में सार्थक अंतर नहीं है।

प्रस्तुत अध्ययन में प्रदत्तों का विश्लेषण करने पर पाया गया कि हिंदी माध्यम विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियों के संप्रत्यय-निर्माण परीक्षण से प्राप्त प्राप्तांकों के मध्यमान तथा अँग्रेजी माध्यम विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियों के संप्रत्यय-निर्माण परीक्षण से प्राप्त प्राप्तांकों के मध्यमान में ज्यादा अंतर नहीं है, जिसके आधार पर परिगणित टी-मान निर्धारित सार्थकता स्तर के सारणीमान से काफी कम है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विद्यार्थियों के संप्रत्यय-निर्माण में उनके विद्यालय के माध्यम का कोई सार्थक प्रभाव नहीं पाया जाता। क्योंकि संप्रत्यय-निर्माण की प्रक्रिया को एक विद्यालय का वातावरण प्रभावित कर सकता है न कि उसका माध्यम।

तालिका नं. 3 का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि t का परिगणित मान 0.602 है जोकि df 98 के लिए 0.01 स्तर पर सारणीमान 2.63 से कम है। साथ ही साथ 0.05 स्तर पर भी सारणीमान 1.98 से भी कम है। अतः टी-मान 0.01 स्तर तथा 0.05 स्तर दोनों की स्तरों पर सार्थक नहीं पाया गया, इसलिए 0.01 स्तर तथा 0.05 स्तर पर शून्य परिकल्पना स्वीकार होती है, इसका तात्पर्य यह है कि दोनों समूहों के प्राप्तांकों में सार्थक अंतर नहीं है।

जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हिंदी माध्यम विद्यालय में शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों के संप्रत्यय-निर्माण पर उनके विद्यालय के वातावरण का ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ता। इसका कारण यही समझ में आया कि हिंदी माध्यम विद्यालयों में वातावरण के जो आयाम हैं जैसे भौतिक वातावरण तथा मनोवैज्ञानिक वातावरण इनकी व्यवस्था में कहीं-न-कहीं कमी पाई जाती है, जोकि विद्यार्थियों के संप्रत्यय-निर्माण की प्रक्रिया को प्रभावित करने में ज्यादा सार्थक नहीं हो पाता।

तालिका नं. 4 का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि t का परिगणित मान 4.35 है जो कि df 98 के लिए 0.01 स्तर पर सारणीमान 2.63 से अधिक है। अतः टी-मान 0.01 स्तर पर सार्थक पाया गया, इसलिए 0.01 स्तर पर शून्य परिकल्पना निरस्त होती है। इसका तात्पर्य यह है कि दोनों समूहों के प्राप्तांकों में सार्थक अंतर है। अँग्रेजी माध्यम विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों के संप्रत्यय निर्माण पर उनके विद्यालय के वातावरण का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

ऐसा होने का कारण यह हो सकता है कि अँग्रेजी माध्यम विद्यालयों में जो वातावरण बनाया जाता है, वह चाहे भौतिक वातावरण हो या मनोवैज्ञानिक वातावरण, दोनों पर ही पूरा ध्यान दिया जाता है। इसके अलावा इन विद्यालयों में समय-समय पर कई पाठ्य सहगामी क्रियाएँ कराई जाती हैं और इनका स्वरूप हर स्तर के विद्यार्थियों को ध्यान में रखकर बनाया जाता है, जिससे हर उम्र के विद्यार्थी का बौद्धिक विकास प्रभावित होता है।

तालिका नं. 5 का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि विद्यालय-वातावरण तथा संप्रत्यय-निर्माण के बीच का परिगणित सहसंबंध गुणांक का मान +0.46 प्राप्त हुआ कि एक निम्न धनात्मक सहसंबंध को प्रदर्शित करता है। अतः हिंदी माध्यम अँग्रेजी माध्यम विद्यालयों के वातावरण तथा संप्रत्यय-निर्माण के बीच निम्न धनात्मक सहसंबंध है।

प्रस्तुत अध्ययन में दोनों चरों अर्थात् विद्यालय-वातावरण तथा संप्रत्यय-निर्माण के बीच के सहसंबंध को भी जानने की कोशिश की गई, जिसके परिणामस्वरूप दोनों चरों के बीच निम्न कोटि का धनात्मक सहसंबंध पाया गया।

निम्न कोटि के धनात्मक सहसंबंध से यह अभिप्राय है कि संप्रत्यय-निर्माण व विद्यालय-वातावरण एक-दूसरे से इस प्रकार संबंधित हैं कि एक चर में परिवर्तन करने पर दूसरे में भी उसी आधार पर परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन एक ही दिशा में होता है। चूँकि इन चरों के बीच का सहसंबंध निम्न है। इसका मतलब है कि विद्यालय-वातावरण का संप्रत्यय-निर्माण पर जो प्रभाव पड़ता है, वह पूर्ण न होकर आंशिक होता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि विद्यालय में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के संप्रत्यय-निर्माण पर उनके विद्यालय के वातावरण के अतिरिक्त उनके पारिवारिक वातावरण, उनके घर के आस-पास का वातावरण तथा उनमें पाई जानेवाली वैयक्तिक भिन्नता आदि भी उनके संप्रत्यय-निर्माण की प्रक्रिया को प्रभावित कर सकता है।

इसलिए यह कह देना कि संप्रत्यय-निर्माण को पूरी तरह से विद्यालय-वातावरण ही प्रभावित करता है, यह ठीक नहीं होगा लेकिन इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि एक बालक का बौद्धिक विकास उसके विद्यालय के वातावरण पर बहुत निर्भर करता है।

इस अध्ययन में संप्रत्यय-निर्माण व विद्यालय-वातावरण इन दो चरों को लिया गया है। अध्ययन में अँग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्राप्त कर रहे बच्चों व हिंदी माध्यम से शिक्षा प्राप्त कर रहे बच्चों को शामिल किया गया है। संप्रत्यय-निर्माण अपने आपमें विशेष शैक्षिक महत्त्व रखता है, इसीलिए कहा गया है कि संप्रत्यय वह नींव के पत्थर होते हैं, जिन पर बालक अपने विचारों का महल खड़ा करते हैं। बालक के दिन का अधिकांशतः समय विद्यालय में ही बीतता है, इसलिए विद्यालय वातावरण का महत्त्वपूर्ण कारक है, जो बालक के संप्रत्यय-निर्माण या बालक के सर्वांगीण विकास पर विशेष प्रभाव डालता है।

तालिका नं. 1

दो विद्यालयों (हिंदी माध्यम व अँग्रेजी माध्यम विद्यालय) की वातावरण परिसूची तथा संप्रत्यय निर्माण परीक्षण के प्राप्तांकों की तुलना।

अध्ययन के चर	N	M	S.D.	sD	t	सार्थकता स्तर
विद्यालय वातावरण	100	48.19	4.83	1.07	3.44	0.01 स्तर
संप्रत्यय निर्माण	100	44.50	9.61			

तालिका नं. 2

हिंदी माध्यम व अँग्रेजी माध्यमों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के संप्रत्यय निर्माण परीक्षण के प्राप्तांकों की तुलना।

अध्ययन के चर	N	M	S.D.	sD	t	सार्थकता स्तर
विद्यालय वातावरण	50	45	9.21	1.01	.52	0.01 स्तर
संप्रत्यय निर्माण	50	44	9.95			0.05 स्तर

0.01 स्तर पर सार्थक नहीं

0.05 स्तर पर सार्थक नहीं

तालिका नं. 3

हिंदी माध्यम विद्यालयों का वातावरण परिसूची तथा संप्रत्यय निर्माण परीक्षण के प्राप्तांकों की तुलना।

अध्ययन के चर	N	M	S.D.	sD	t	सार्थकता स्तर
विद्यालय वातावरण	50	45.88	4.72	1.46	0.602	0.01 स्तर
संप्रत्यय निर्माण	50	45	9.21			0.05 स्तर

0.01 स्तर पर सार्थक नहीं

0.05 स्तर पर सार्थक नहीं

तालिका नं. 4

अँग्रेजी माध्यम के विद्यालयों का वातावरण परिसूची तथा संप्रत्यय निर्माण परीक्षण को प्राप्तांकों की तुलना।

अध्ययन के चर	N	M	S.D.	sD	t	सार्थकता स्तर
विद्यालय वातावरण	50	50.44	8.35	1.48	4.35	0.01 स्तर
संप्रत्यय निर्माण	50	44	9.95			

0.01 स्तर पर सार्थक

तालिका नं. 5

हिंदी माध्यम व अँग्रेजी माध्यम के विद्यालयों के वातावरण तथा संप्रत्यय निर्माण के

बीच का सहसंबंध गुणांक

अध्ययन के चर	N	M	s	r
विद्यालय वातावरण	100	48.19	4.83	+0.46
संप्रत्यय निर्माण	100	44.50	9.61	

संदर्भ

1. जी०के० अग्रवाल, सामाजिक सर्वेक्षण एवं सांख्यिकी, आगरा : आगरा बुक स्टोर प्रकाशन, 1995
2. लोकेश कौल, शैक्षिक अनुसंधान की कार्यप्रणाली, नई दिल्ली : विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा० लि०, 2005
3. अरुणकुमार सिंह, शिक्षा एवं मनोविज्ञान में अनुसंधान, पटना : मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन, 2006
4. पारसनाथ राय, अनुसंधान परिचय, आगरा : लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशन, 2002
5. आर०ए० शर्मा, शिक्षा अनुसंधान, मेरठ : लॉयल बुक डिपो, 2000
6. जॉन डब्लू बेस्ट, रिसर्च इन एजुकेशन, नई दिल्ली : प्रिंटिस हाल आफ इंडिया, 1963
7. के०पी० पांडेय, शैक्षिक अनुसंधान, वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2000
8. हेनरी ई० गैरेट, शिक्षा मनोविज्ञान में सांख्यिकी के प्रयोग, मुम्बई : वकीलफेयर एंड सीमन्स प्रा० लि०, 1981
9. रमनबिहारी लाल, शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धांत, रस्तौगी पब्लिकेशन्स, मेरठ

महाकवि प्रसाद की मूल्यचेतना एवं समन्वय-दृष्टि

डॉ० मिथलेश दीक्षित एवं श्रीमती ज्योत्सना सिंह

मूल्यों का मानव-जीवन से घनिष्ठ संबंध है। मूल्य मानव-जीवन के अस्तित्व तथा आध्यात्मिक-आदर्शात्मक-सांस्कृतिक आयामों से उद्भूत होते हैं। मानव-जीवन मूल्यों से ही नियंत्रित होता है। मूल्यों का महत्त्व सापेक्षिक होता है तथा इनका संबंध मानवीय चेतना से होता है। मानवीय मूल्यों में जीवन की सार्वभौम संवेदना और प्रयोजनशीलता को स्वीकार किया जाता है, ये जीवनमूल्य साहित्य में सौंदर्य, शिवत्व एवं सत्य के रूप में अभिव्यक्ति पाते हैं। मूल्यपरक होने के कारण ही साहित्य समाज का दर्पण कहलाता है। साहित्य की मूल्यवत्ता उसके स्वरूप के साथ-साथ उसके व्यापक प्रयोजन में निहित होती है। साहित्य की कोई भी प्रवृत्ति या कोई भी कृति अपने में निरपेक्ष या असंपृक्त प्रवृत्ति या कृति नहीं होती। उसके पीछे एक लंबी साहित्य-परंपरा होती है। वह क्षण या अवधि, जिसमें वह कृति रची गई, उस लंबी परंपरा की ही एक संबद्ध कड़ी है और वह कृतिकार उसी समूह की एक इकाई है, फिर भी किसी विशिष्ट अनुभूति-प्रक्रिया और रचना-प्रणाली के बल पर सृजन का वह क्षण समस्त परंपरागत इतिहास से अधिक सजीव और मर्मस्पर्शी बन जाता है। इस क्षण में उसके द्वारा अनुभूत भावसत्य केवल उसका और उस क्षण का ही न रहकर साधारणीकृत और स्थाई हो जाता है। मूल्याधिष्ठित साहित्य शाश्वतता को प्राप्त होता है।

छायावाद के सुप्रसिद्ध रचनाकार जयशंकर प्रसार की कृति 'कामायनी' का इसीलिए शाश्वत महत्त्व है। रचनाकार का व्यक्तित्व और उसका जीवनदर्शन जितना उदात्त, उदार और परिष्कृत होगा, उसकी रचनाधर्मिता भी तदनु रूप ही होती है। चिंतन का व्यापक क्षितिज उसे व्यापक भावबोध और जीवनमूल्यों के प्रति प्रेरित करता है। हिंदी के छायावादी काव्य की मूल प्रवृत्ति मूल्यपरक रही है। छायावाद के प्रायः सभी कवियों ने भी प्रकारांतर से यह बात स्वीकार की है। सुमित्रानंदन पंत जी का कहना है, छायावाद की मुख्य तथा मध्यवर्तिनी धारा राष्ट्रीय अंतर्जागरण की चेतन तथा वैश्वविकास के नए मूल्य के रूप-स्पर्श को वाणी देने की ओर गतिशील रही है।¹ उन्होंने छायावाद का मूल प्रयोजन बताया— जिस प्रकार वैज्ञानिक विचारधारा ने बाह्य जीवन के प्रति एक ऐतिहासिक-भौतिक दृष्टि दी है, उसी प्रकार छायावाद भी मनुष्य के अंतर्जीवन के विकास तथा विश्व-संयोजन के लिए नवीन चेतनात्मक ऐतिहासिक अनुभूति से अनुप्राणित किया है।² प्रसाद ने छायावाद का संबंध स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति से माना³ तथा महादेवी वर्मा ने छायावादी काव्य को हृदय की अभिव्यक्ति माना है।⁴ डॉ० रामकुमार वर्मा ने छायावाद को हृदय की एक अनुभूति बताया। वह भौतिक संसार

में अनंत जीवन के तत्त्व ग्रहण करता है और उसे हमारे वास्तविक जीवन से जोड़कर हृदय में जीवन के प्रति एक गहरी संवेदना और आशावाद प्रदान करता है।⁵

छायावाद की एक स्वस्थ एवं दार्शनिक पीठिका थी, जो भारत की प्राचीन संस्कृति और उसके वाङ्मय से परिपुष्ट थी, साथ ही उस पर युगीन चेतना का अत्यधिक प्रभाव रहा। सांस्कृतिक चेतना, सर्वात्मवाद, अध्यात्मवाद तथा लोकमंगल की भावना छायावाद के समष्टिबोध के परिचायक बने। छायावाद पर 'रोमांटिसिज़्म' का प्रभाव रहा, परंतु उसे भारतीय संस्कृति और परिवेश के आलोक में ही ग्रहण किया गया था। संसार में ईश्वर की व्यापकता, कण-कण में चेतना का अस्तित्व, आत्मबोध, आस्थावादिता आदि से संबंधित श्री अरविंद और स्वामी विवेकानंद की धारणाओं का छायावादी कवियों पर अधिक प्रभाव पड़ा। गांधी जी के सत्य, अहिंसा, सेवा, करुणा, सर्वोदय, प्रेम, समता आदि का भी उन पर प्रभाव पड़ा। प्रसाद पर शैवदर्शन के प्रत्यभिज्ञा-चिंतन का तथा अद्वैतवेदांत और बौद्धदर्शन का प्रभाव रहा। महादेवी पर वेदांत और गीता का, पंत पर श्री अरविंद एवं गांधी जी का तथा निराला पर कवींद्र एवं विवेकानंद का सर्वोपरि प्रभाव रहा। समष्टि-प्रभाव की दृष्टि से छायावाद का कथ्य अत्यंत संवेदनशील तथा सीमा अत्यंत विराट् है।

छायावाद के कवियों की दृष्टि मूल्यकेंद्रित रही है। पंत जी ने माना कि छायावाद ने सामूहिक जीवन-संचरण को बहिर्मुखी अर्थ में न ग्रहण कर उसे उसके वैश्विक मूल्य या अंतर्मूल्य के अर्थ में ग्रहण किया। स्वानुभूति उसके लिए विश्वात्मा या विश्व-जीवन का पर्याय बन गई। इन कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से व्यष्टिचेतना से व्यापक चेतना की एकता स्थापित की। छायावादी कवियों का काव्य प्रेम, आशा, आस्था और विश्वास का काव्य है। उनके काव्य में सत्य सौंदर्य के रूप में मूर्तित हुआ है, मंगलमय प्रयोजन को अपने साथ लेकर अभिव्यक्त हुआ है। छायावाद, वस्तुतः एक सर्वग्राही अंतर्दृष्टि है, जो सत्य का अन्वेषण करती है। इन कवियों ने प्रेम को भी आध्यात्मिक धरातल पर पहुँचा दिया है। 'महादेवी ने इस आध्यात्मिकता को करुणा की आत्मा में खोजा है। पंत ने सर्वात्मवादी चेतना में इसे ढूँढा है। प्रसाद ने आनंदवादी उदात्तधारा में उसे पाया है और निराला को वह मिला है—सांस्कृतिक चेतना में, जो शक्ति और सोऽहम्-बोध में सन्निहित है।' ⁶

वर्तमान समय में पूरा विश्व अपसंस्कृति के दौर से गुज़र रहा है। अब 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की बात स्वप्न-सी लग रही है। भौतिक रूप से जितनी सुख-सामग्री बढ़ती जा रही है, उतनी ही लालसाएँ बढ़ती जा रही हैं, उतनी ही अतृप्ति बढ़ती जा रही है और उतने ही दुःख बढ़ते जा रहे हैं। प्रसाद ने विश्व की आकुल-व्याकुल, त्रस्त मनुष्यजाति को अपने काव्य के माध्यम से चेतना, आनंद और जागरण का संदेश दिया। 'कामायनी' के मनु के द्वारा जीवन की क्षुद्रताओं से ऊपर उठने का संदेश दिया। श्रद्धा की वाणी द्वारा कर्म का संदेश दिया। उनके द्वारा रचित 'कामायनी' महाकाव्य संपूर्ण विश्व की शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक चेतना के स्फुरण के लिए विशिष्ट वरदान है। इस महाकाव्य के द्वारा प्रसाद ने निरंतर द्वयता में लगी रहनेवाली, अनजान समस्याओं में व्यस्त तथा एकता के नष्ट हो जाने के कारण अनंत कोलाहल एवं कलह में फँसी हुई संकुचित दृष्टि वाली आधुनिक युग की इस 'अभिनव मानव प्रजा-सृष्टि' को भी संदेश दिया है और बतलाया है कि दुःखों से घबराकर संसार से भागने

की आवश्यकता नहीं। यह दुःख तो ईश्वर का रहस्यमय वरदान है। मनुष्य अपनी कमियों पर विजय प्राप्त कर विजयी कहलाने का अधिकारी हो सकता है। वह अपनी अंतश्चेतना को समझकर ही शक्तिशाली हो सकता है। तभी प्रसाद कहते हैं— 'शक्तिशाली हो, विजयी बनो।' मनुष्य विधाता की इस कल्याणी सृष्टि को सफल तभी बना सकता है, जब वह कर्मशील रहकर मानवता की उन्नति में सहायक हो सकता है।

प्रसाद ने आधुनिक बुद्धिजीवी मानव की समस्याओं पर गहराई से चिंतन किया और उसके व्यक्तित्व को पूर्णत्व देने के लिए संसार की सत्यता का प्रतिपादन किया, सौंदर्य को आंतरिक चेतना से जोड़ा तथा अभेदवादी अवधारणा व श्रेष्ठकर्मों के विघटन से आनंद-प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया। संसार का प्रत्येक पदार्थ कर्मरत है। मनुष्य जब सत्कर्म और सेवा में रत होता है, तो उसके कर्म कर्तव्य बन जाते हैं। सेवा अपनी सुख-संसृति है। उन्होंने कर्म पर बल देते हुए मानव-मानव तथा ईश्वर और मानव में अभेद की स्थिति बतलाई। उन्होंने, इस प्रकार दर्शन के श्रेय को काव्य का प्रेय बना दिया। मानव का जीवन अमूल्य है। उसमें कर्म का प्रावधान अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि वह इच्छा से ज्ञान तक की सीमाओं का अतिक्रमण करता है। पाप-पुण्य का कारण बनता है तो मानव को देवत्व तक पहुँचाने का भी कारण बनाता है। संपूर्ण विश्व को उन्होंने कर्मभूमि माना है और कर्म की श्रेष्ठता को सृष्टि के स्थायित्व के लिए आवश्यक माना है—

‘यह नीड़ मनोहर कृतियों का, यह विश्व कर्म रंग-स्थल है।’

कर्म के प्रति आस्था ही जगत् के प्रति सत्य का आभास कराती है। संसार के प्रति मानव की प्रगतिपरक रुचि को दृढ़ करती है, जहाँ उसे निरंतर कर्म करते रहने पर सुख का प्रकाश दिखाई पड़ता है— ‘जीवन-धारा सुंदर प्रवाह, सत् सतत प्रकाश सुखद अथाह।’

यह संसार सुंदर है। यह जीवनधारा सुंदर है। प्रसाद जी के अनुसार कर्म का भोग और भोग का कर्म— यही जड़ का चेतन आनंद है। कर्मवीर अपने पथ और अपने गन्तव्य का चयन कर लेता है। प्रसाद की ‘प्रेमपथिक’ की पंक्तियाँ हैं—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है, श्रांत भवन में टिक रहना,
किंतु पहुँचना उस सीमा तक, जिसके आगे राह नहीं,
अथवा उस आनंदभूमि में, जिसकी सीमा कहीं नहीं।

(प्रेमपथिक)

यह आनंद चरम जीवनमूल्य है और जीवन का परम लक्ष्य है। मनुष्य का वास्तविक स्वरूप आनंदमय ही है। मनुष्य की जीवन-यात्रा इसी आनंद की प्राप्ति-हेतु अनवरत चलती रहती है। यह यात्रा आनंद से आनंद तक की यात्रा है। इसके लिए संसार के सभी मनुष्य प्रयासरत हैं। प्रसाद ने इस मानव-जीवन का महत्त्व प्रतिपादित किया है और संसार को ब्रह्म का ही विराट् स्वरूप माना है।

इस संसार में मानव-जीवन ईश्वर का वरदान है, श्रद्धा द्वारा यह तथ्य प्रतिपादित हुआ है—

जिसे तुम समझे हो अभिशाप, जगत् की ज्वालाओं का मूल।
ईश का वह रहस्य वरदान, कभी मत इसको जाओ भूल।

जीवन और जगत् से विमुख नहीं हुआ जा सकता। मानव को चाहिए कि वह जड़-चेतन सभी से समरस होकर अपने सुखों का विस्तार करे। समरसता से आनंद की स्थिति आती है।

प्रसाद की मूल्यचेतना भारतीय दर्शन, विशेषकर, प्रत्यभिज्ञादर्शन पर आधारित है। इस दर्शन के अनुसार 'शिव' ही परमतत्त्व है, जो चिन्मय सत्ता है। वे शक्ति से समन्वित हैं और विश्व के प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त हैं। चित्, आनंद, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया— ये परमशिव की पाँच शक्तियाँ हैं। 'चित् शक्ति के द्वारा वे स्वतः प्रकाशित होते हैं। आनंद शक्ति के द्वारा वे निरतिशय आनंद का साक्षात्कार करते हैं। इच्छा शक्ति के द्वारा वे जगत् के सृष्टि, स्थिति, संहार आदि कार्य करते हैं। ज्ञानशक्ति के द्वारा वे वैद्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते हैं और क्रियाशक्ति के द्वारा वे सर्व आकार धारण करने की योग्यता प्राप्त करते हैं।' सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह और तिरोधान— उनके पाँच कार्य हैं। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार परमसत्ता की इच्छा से सृष्टि उन्मीलित होती है। प्रसाद ने भी कहा है— 'उसी का उन्मीलन अभिराम, उसी में सब होते अनुरक्त।'

वह परमतत्त्व चिन्मय है, अतः प्रसाद यह मानते हैं कि यह सृष्टि भी चिन्मय है। यह चराचर सृष्टि उस परम शिव के हृदय रूपी बीज या शक्ति में इस तरह विद्यमान रहती है, जैसे वट के बीज में पूरा वृक्ष समाहित रहता है। यह सृष्टि इसी परमचेतना सत्ता का स्फुरण है, जिसके लिए प्रसाद कहते हैं— 'चेतनता एक विलसती।' प्रसाद मानते हैं कि यह संपूर्ण सृष्टि उसी की लीला है। 'जल-थल-नभ में कुहुक बन गया, जो अपनी ही लीला से।' जब इस परमतत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तभी मोक्ष की स्थिति होती है, यही प्रत्यभिज्ञादर्शन का अभेदवाद है, जिसे प्रसाद ने अपने काव्य द्वारा अभिव्यंजित किया है।

परम सत्ता को 'सच्चिदानंद स्वरूप' कहा जाता है। प्रसाद ने भी उसे सत्, चित् और आनंदस्वरूप माना है, साथ ही समग्र सृष्टि को सत्य, चिरंतन और आनंदमय माना है। 'विशाख' में उन्होंने कहा है—

यही सत्य, यही स्वर्ग, यही पुण्य पोष है। (पृ० 31) तथा

वह और कुछ नहीं, विशाल विश्वरूप है। (पृ० 31)

यह प्रकृति उसी चित् का चेतन रूप है। जिस समय जीव को यह ज्ञान हो जाता है कि सर्वशुद्ध चेतन ही है, जड़ में भी वही चेतन है तथा अखिल विश्व एक अखंड सत्ता है, उसी समय उसे अनुभव होने लगता है कि वह सबका है, और सर्वस्व उसी का है। उसे उसके आनंदस्वरूप का बोध हो जाता है। वह क्रियाशील प्रकृति की क्रीड़ा के चेतन रहस्य को समझने लगता है। उसे विश्व और विश्वात्मारूप ईश्वर और सृष्टि में अभिन्नता दिखाई देने लगती है। वह विश्वात्मा के साथ विश्व में खेल खेलने लगता है। वह सर्वात्मा के स्वर में, आत्मसमर्पण के प्रत्येक ताल में, अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को विस्मृत कर देता है। उसका चैतन्य सागर-निस्तरंग हो जाता है। उसकी ज्ञानज्योति निर्मल हो जाती है और वह संसार के बंधनों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार प्रसाद ने प्रत्यभिज्ञादर्शन के अभेदवाद को समत्व के लिए आवश्यक समझकर अपनी अनेक कृतियों के माध्यम से मानवता को मूल्यपरक संदेश दिया। इस 'अभेद बुद्धि से विराट् विश्व और विश्वात्मा, ईश्वर और सृष्टि,

जीव और जगत् ... सभी की अभिन्नता एवं समरसता का बोध होता है। इसी से पारस्परिक द्वेष मिटकर मानवता का विकास हो सकता है और इसी से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना का प्रसार होकर विश्व-बंधुत्व के साथ-साथ विश्वभर में एक कुटुम्ब की स्थापना हो सकती है। इतना ही नहीं, इसी दार्शनिक विचारधारा को अपनाकर जीव संपूर्ण जड़-चेतन पदार्थों को सत्य मानकर उन्हें, 'शिवमय' देखता हुआ, इसी जीवन में अपने को भी 'चिरानंदमयी' सत्ता का रूप मानता हुआ, अखंड आनंद को अनुभव कर सकता है।⁷

परमतत्त्व की भाँति जीव भी शुद्ध, चित्‌रूप, आनंदस्वरूप है, परंतु 'नियति-कंचुक' जीव की व्यापकता को संकुचित करके सीमित बना देता है। यह नियति ईश्वर की नियामिका शक्ति है। जीवन को अज्ञान या अविज्ञा में डालने वाले आवरण या कंचुक पाँच हैं— कला, विद्या, राग, काल और नियति। इनमें से नियति पाँचवा कंचुक है। प्रसाद ने अनेक स्थलों पर इसी 'नियति' का वर्णन किया है। प्रसाद ने 'कामायनी' के रहस्य सर्ग में 'नियति' के बारे में कहा है— 'नियति चलाती कर्मचक्र यह।'

सृष्टि का समस्त क्रिया-व्यापार नियति के अधीन है। नियति एवं भाग्यवादिता में अंतर है। भाग्यवादी निष्क्रिय हो सकता है। नियतिवादी क्रियाशील रहता है। प्रसाद के अनुसार यह नियति ही सृष्टि की समरसता और आनंद-प्राप्ति में सहायता करती है। इस समरसता का मूलाधार श्रद्धा है। श्रद्धा मानसिक जगत् की विषमता को दूर करती है। यह ऐसी सात्त्विक वृत्ति है, जो मन को उच्चतम भावभूमि पर ले जाती है।

उपनिषदों के अद्वैतवाद तथा शैवदर्शन के समरसता के सिद्धांत को प्रसाद ने आत्मसात् किया तथा अपने काव्य में उच्च मानवीय मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में उन्हें प्रस्तुत किया। शैवदर्शन के समरसता के सैद्धांतिक स्वरूप को उन्होंने मानव-जीवन के हितार्थ व्यावहारिक रूप दिया। इस प्रकार प्रसाद की समरसता-दृष्टि में व्यक्ति के अंतर्तम से लेकर विश्व तक के संघर्ष को समाप्त करने का प्रयास है। समरसता के कारण न कोई अधिकारी रहता है और न कोई अधिकार का भाव रहता है— 'समरसता ही संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की।'

द्वयता की स्थिति से ही जीवन में दुःख आते हैं। मनुष्य जब तक संसार को अपने से पृथक् देखता है, तब तक वह भ्रम, भय, शंका, संघर्ष, दुःख में निमग्न रहता है, जब वह संसार का ही स्वयं का एक अंग मान लेता है, तो उसमें भेद-बुद्धि नहीं रहती और उसे आनंद की अनुभूति होती है। इसके लिए प्रसाद ने मूलमंत्र दिया है—

'चिति का विराट् वपु मंगल।' तथा

'कर रही लीलामय आनंद, महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त।

उसी का उन्मीलन अभिराम, उसी में सब होते अनुरक्त।'

प्रसाद ने 'समरसता' के दार्शनिक सिद्धांत का सरलीकरण कर दिया है। उनकी समरसता की व्यावहारिक दृष्टि भी एकांगी नहीं है। उन्होंने समरसता की स्थिति में ही सभी पदार्थों की विद्यमानता सिद्ध की है। धर्म, दर्शन, विज्ञान और साहित्य में, व्यक्ति और समाज में, व्यक्ति एवं राष्ट्र में, राष्ट्र एवं विश्व में, जड़ एवं चेतन में व्याप्त या आरोपित विषमता को अपने इस व्यावहारिक मूल्यपरक दृष्टिकोण द्वारा दूर करने का प्रयास किया है।

प्रसाद की भावधारा में सभी जीवनमूल्य समाहित हुए हैं। उन्होंने विभिन्न दार्शनिक

विचारधाराओं, प्राचीन भारतीय वाङ्मय के अमूल्य एवं उपयोगी अंशों को स्वीकृत कर आत्मसात् किया और अपने काव्य में स्थान दिया। उनके द्वारा मानव को कर्म के प्रवृत्ति-मार्ग पर चलने का संदेश दिया गया। श्रद्धा के माध्यम से प्रसाद ने कहलवाया कि 'काम' मंगल से मंडित है, अतः श्रेयस्कर है। यह संसार भी तो उस परमसत्ता की इच्छा का परिणाम है। काम जब शाश्वत सुख की अनुभूति बन जाता है, तब उसे प्रेम कहा जाता है। प्रेम और अद्वैत अभेद की स्थिति में मनुष्य को पहुँचाता है। प्रेम का एक शाश्वत जीवनमूल्य है, जो सभी प्राणियों को एक सूत्र में बाँधता है। मानवता की स्थिति एवं विकास प्रेम के कारण है। वैश्विक एकात्मबोध प्रेम की व्यापकता का परिणाम है। प्रकृति-प्रेम और मानव-प्रेम दोनों की अभिव्यक्ति चरम जीवनमूल्य के रूप में प्रसाद के काव्य में हुई है। प्रेम, आनंद एवं करुणा चिरंतन जीवनमूल्य हैं, जिनका व्यापक दृष्टि से चित्रण प्रसाद के साहित्य में मिलता है। इन शाश्वत मूल्यों के अंतर्गत ही सभी जीवनमूल्य समाविष्ट हो जाते हैं। परमसत्ता ने ये जीवनमूल्य केवल मानव को प्रदान किए हैं, ताकि वह अन्य में स्वयं की स्थिति समझे, सबसे प्रेम करके आनंदित हो, ईश्वर से प्रेम करके आनंद की अनुभूति करे।

प्रसाद का काव्य समष्टिबोध का काव्य है। उनका मूल्यपरक मानवतावादी चिंतन उनके काव्य में सर्वत्र परिलक्षित होता है। प्रसाद की रचनाधर्मिता की प्रतिबद्धता मानव-जीवन के समत्वपूर्ण विकास के प्रति रही। सौंदर्य-चेतना में ही सत्य समाहित है, शिवत्व समाहित है। सौंदर्य चेतना से पृथक् नहीं है। सत्य चेतना से पृथक् नहीं है। जहाँ पर सत्य, शिव और सुंदर है— वहीं आनंद की स्थिति है। प्रसाद का जीवन-दर्शन इन दो पंक्तियों में गागर में सागर की तरह समाहित है—

चिति का विराट् वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुंदर।

(कामायनी)

सौंदर्य चेतना से अलग नहीं है। चेतना सत्य से अलग नहीं। जहाँ सत्य, शिव, सुंदर है— वहीं आनंद है। प्रसाद ने सर्वत्र विराट् के दर्शन किए, इसलिए उनका जीवन-दर्शन भी विराट् है। जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति भी विराट् है।

प्रेम उदात्त मानवीय जीवनमूल्य है। प्रसाद प्रेम के गायक हैं। प्रेम का भी सत्य, शिव, सुंदर से संबंध है। जिसके हृदय में आनंद निवास करता है, उसी के हृदय में प्रेम निवास करता है।

प्रसाद ने श्रद्धा के रूप में आदर्श भारतीय नारी के त्यागमय स्वरूप का चित्रण कर उदात्त प्रेम की प्रस्तुति की है। उसका हृदय, दया, माया, ममता, मधुरिमा, अगाध विश्वास से परिपूर्ण है। प्रेम में विश्वास और त्याग आवश्यक है। यह प्रसाद का चिंतन है। प्रसाद का प्रेमभाव व्यक्ति से लेकर राष्ट्र और विश्व तथा पूरी मानवता के लिए है। 'कामायनी' में श्रद्धा का प्रेम तथा कार्नेलिया का भारत-प्रेम वस्तुतः प्रसाद के भावबोध के दो अंग हैं। कार्नेलिया द्वारा राष्ट्र-प्रेम व्यक्त करती हैं पंक्तियाँ—

अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरु शिखा मनोहर,
छिटका जीवन-हरियाली पर मंगल-कुमकुम सारा।

प्रसाद के लिए भारतवर्ष केवल एक भूखंड नहीं है। यह उनके लिए एक विराट् दिव्यबोध है, जो ईश्वर के वरदान सदृश है। भारतवासियों को उन्होंने अपनी प्रत्येक रचना में जागृति का संदेश दिया है। उनका उद्बोधन-गीत आज भी 'चरैवेति-चरैवेति' का स्मरण कराता है—

हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती,
अमर्त्य वीर पुत्र हो-दूढ़प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बड़े चलो, बड़े चलो।

रचनाकार समय और देश की परिस्थितियों से तटस्थ नहीं रह पाता। प्रसाद की दृष्टि सामयिक भी थी और शाश्वत भी। उन्होंने मशीनी युग की सभ्यता पर भी दृष्टिपात किया और तथाकथित सभ्य मानव को इसके दुष्परिणामों से कविता के माध्यम से सचेत भी किया। नए-नए वैज्ञानिक आविष्कार हो रहे हैं। अणुशक्ति पर अधिक बल दिया जा रहा है। परमाणु-हथियारों की होड़ चल रही है। सर्वत्र विनाश की, युद्ध की बात सोची जा रही है। प्रसाद ने अपनी रचनाओं के माध्यम से निर्माण की बात की है। संघर्षों से उबरने की बात की है। मानवता के विजयी होने की बात की है। किसी व्यक्ति या जाति या देश को नष्ट कर जीतने की बात नहीं की। मानव, चाहे वह कहीं का हो, उसमें मानवता के सभी मूल्यों का समावेश हो और वह मानवता के हित के लिए ही चिंतन-मनन और कार्य करे। 'कामायनी' में उन्होंने मानवता को सशक्त और समृद्ध बनाने के लिए संदेश दिया। आज मनुष्य के पास जितने साधन हैं, क्षणिक सुख-प्राप्ति के साधन हैं। प्रसाद ने चिरंतन आनंद की बात की है। प्रसाद ने आधुनिक बुद्धिजीवी 'मानव' की समस्याओं पर गहनता से विचार किया तथा उसके आंतरिक और बाह्य व्यक्तित्व के निर्माण के लिए एक ओर तो संसार की सत्यता का प्रतिपादन किया, जिससे कि कोरे अध्यात्म का सहारा लेकर वह संसार से विमुख न हो जाए। इसीलिए उन्होंने कर्म का संदेश दिया। संसार का प्रत्येक पदार्थ कर्मरत है। मानव जब सत्कर्म करता है और सेवा में रत होता है, तो वही उसके लिए कर्तव्य बन जाता है। उन्होंने कहा—

सबकी सेवा न पराई
वह अपनी सुख-संसृति है।

(कामायनी)

उन्होंने ईश्वर तथा मानव में अभेद की स्थिति बताई, ताकि मानव स्वयं पर गर्व कर सके और अपने व्यक्तित्व द्वारा श्रेयस्कर कार्य कर सके। इस प्रकार वह अभेदवादी विचारों और श्रेष्ठ कर्मों के द्वारा आनंद को प्राप्त कर सके।

दर्शनदृष्टि और अध्यात्मवादिता मानव के लिए अत्यंत उपयोगी हैं, तभी मनुष्य, विषमता की पीड़ा से बच सकता है और जीवन का सहज और वास्तविक मूल्य आनंद प्राप्त कर सकता है। प्रसाद ने प्रसिद्ध दार्शनिक सिद्धांतों, शैवागमों की कतिपय प्रमुख प्रवृत्तियों को आत्मसात् कर आधुनिक मानव के लिए व्यावहारिक और उपयोगी समझकर कविता के

माध्यम से प्रस्तुत किया है, जिससे कि आज का बुद्धिवादी मनुष्य संसार की ओर स्वयं की वास्तविकता समझ ले और क्षणिक सुखों के लिए, स्वार्थ के लिए संसार का और स्वयं का विनाश न कर सके।

जो आनंद मानव को स्वतः प्राप्त है, उसे विस्मृत कर अन्य सुलभ और क्षणिक पदार्थों की तलाश में भटकना उसके लिए हितकर नहीं है, उसी आनंद में स्थित होना और सृष्टि के रहस्य को, अपनी वास्तविकता को अपने स्वरूप को समझ लेना, उसके लिए नितांत आवश्यक है। प्रसाद ने इसीलिए जीव और ब्रह्मा, ब्रह्म और जगत्, जीव और जगत् की अभेदता का समर्थन किया है। संपूर्ण संसार में 'महाचिति सजग हुई सी व्यक्त' है। वही चेतन में है। वही जड़ में है अतः जड़-चेतन का भेद भी उचित नहीं। प्रसाद की दृष्टि कितनी विशाल है कि वे समस्त जड़-चेतन में एक ही सत्ता का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, मानव-मानव में अंतर करना तो निर्मूल ही सिद्ध हो जाता है। भारतीय अध्यात्म में यही एकत्व, यही समत्व है और यही समरसता है, जिसकी प्रसाद जी ने प्रस्तुति की है। 'कामायनी' उनके समस्त चिंतन की निचोड़ है।

यह अनेक रूपात्मक जगत् महाचिति का ही विराट् शरीर है। जीवन भी चेतन पुरुष है। यह चेतन पुरुष जब आत्मसाक्षात्कार कर लेता है, तो अपनी शक्तिरूपिणी लहरों से आनंद-सागर में निरंतर तरंगायित रहता है। आनंद-प्राप्ति की इतनी सरल अवधारणा संसार के किसी काव्यकार ने प्रस्तुत नहीं की है। प्रसाद के चिंतन का यह नवीन प्रयोग है।

प्रसाद ने मस्तिष्क अथवा तर्कज्ञान का, हृदय अथवा श्रद्धाभाव का जो समन्वय चित्रित किया है, वह वर्तमान विश्वमानवता के लिए वरदान है। कोरी बुद्धिवादिता मानव के लिए हानिकारक है और कोरी भावुकता भी उसके लिए हानिकारक है। दोनों का संतुलित समन्वय ही मानव-कल्याण में सहायक होगा। चेतना या मन और भौतिक जड़ पदार्थ अर्थात् 'माइंड' और 'मैटर' के समन्वय द्वारा उन्होंने वैज्ञानिकों को भी सचेष्ट कर दिया है कि दोनों का समन्वय और संतुलन मानवता के लिए अपरिहार्य है। इस प्रकार प्रसाद का चिंतन उनकी परंपरा से तथ्यों की ग्रहणशीलता, उनका विज्ञानसम्मत व्यावहारिक दृष्टिकोण प्रशंसनीय है। वस्तुतः उनका काव्य मानवता के लिए एक आचार-संहिता है, जो अत्यंत सरल, सुलझी हुई और व्यावहारिक है।

प्रसाद के काव्य में सामंजस्य एवं समन्वय की प्रवृत्ति मिलती है, विशेष रूप से 'कामायनी' में उनका चिंतन अत्यंत पुष्ट एवं परिमार्जित रूप में मिलता है। विपरीत शक्तियों को केंद्रित कर, उनमें सम्मिलन स्थापित करना प्रसाद का प्रयोजन रहा है। सर्वत्र जड़-चेतन का द्वंद्व और स्त्री-पुरुष का द्वंद्व परिलक्षित होता है। प्रसाद ने द्वंद्व के मूलाधार को ही समाप्त कर दिया। 'यही जड़ का चेतन आनंद' कहकर तथा मनु को पहले 'एक पुरुष' बताकर अंत में आनंदमय दिखाकर उन्होंने इस द्वयता को ही समाप्त कर दिया। मनु को समझाया गया है— कि द्वयता ही तो विस्मृति है, तथा

तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में,
कुछ सत्ता है नारी की।
समरसता ही संबंध बनी
अधिकार और अधिकारी की।

(कामायनी)

नारी-पुरुष परस्पर सहयोगी और पूरक हैं। 'कामायनी' में इसके अतिरिक्त राजा-प्रजा, अधिकार-अधिकारी, व्यक्ति-समाज, शासक-शासित आदि के भी द्वंदों का एकीकरण किया गया है। मन-बुद्धि-भाव की भाँति ही जीवन में दुःख-सुख, रात्रि-दिन, प्रकाश-अंधकार की द्वयता बनी ही रहती है। जीवन में दोनों आवश्यक हैं। आनंद की स्थिति प्राप्त होने पर आनंद-सागर में लीन मानव को ये द्वंद लहरों की भाँति प्रतीत होने लगते हैं और वह इनसे प्रभावित नहीं होता है।

प्रसाद ने दर्शन, धर्म एवं अध्यात्म के तत्त्व-चिंतन को आत्मसात् कर अपने काव्य में रूपायित कर सरल और सुगम बना दिया। भारतीय जगजीवन के समीप लाकर उन्होंने दर्शन की जटिलता को बोधगम्य बना दिया। उनकी कल्पना भी संकल्प पर आधृत रही। उन्होंने एक 'विचार' देना चाहा, उसे समग्रता से पूरे रूपक के माध्यम से प्रस्तुत कर दिया।

प्रसाद के काव्य में वैश्विक एकता, समष्टिगत समरसता विद्यमान है। प्रसाद को संपूर्ण सृष्टि अपने ही साथ जुड़ी जान पड़ती है—

हम अन्य न और कुटुंबी, हम केवल एक हमीं हैं।
तुम सब मेरे अवयव हो, जिसमें कुछ नहीं कमी है।

(कामायनी)

'कामायनी' में विश्व-नीड़ की कल्पना साकार हो उठी है। अतः यह लोकमंगल का काव्य है—

सब भेद-भाव भुलवाकर,
दुख-सुख को दृश्य बनाता।
मानव, कह रे, यह मैं हूँ,
यह विश्व नीड़ बन जाता।

(कामायनी)

प्रसाद की गहन अनुभूति ने वेदना या पीड़ा को भी एक चेतना के रूप में स्वीकार किया है। वेदना की ज्वाला कभी शमित नहीं होती।

मणिदीप विश्व मंदिर की
पहने किरणों की माला,
तुम एक अकेली तब भी
जलती हो मेरी ज्वाला।

(आँसू)

'आँसू' में भी इसी वेदना और उससे उत्पन्न ज्वाला का चित्रण हुआ है।

शीतल ज्वाला जलती है,
ईंधन होता दृग-जल का।
यह व्यर्थ श्वास चलचल कर,
करती है काम अनिल का।

(आँसू)

परंतु अवसान मानो सुख का अपार वैभव लुटा जाता है—

शशिमुख पर घूँघट डाले,
अंचल में दीप छिपाए।
जीवन की गोधूली में,
कौतूहल से तुम आए।

(आँसू)

प्रसाद ने 'कामायनी' में भी स्वीकार किया—

दुःख की रजनी बीच
विकसता सुख का नवल प्रभात।

(कामायनी)

प्रसाद जी की दृष्टि आशावादी एवं आस्थावादी है। प्रेम, आशा, विश्वास, आस्था, करुणा आदि ऐसे जीवनमूल्य हैं, जिन्हें प्रसाद ने कहीं विस्मृत नहीं किया और मानव के उत्तरोत्तर विकास के लिए इनका अपनी काव्यकृतियों में स्थान-स्थान पर मूर्त्तिकरण किया है।

जैसा उनका उदार व्यक्तित्व था, वैसा ही उनका उदार और व्यापक जीवनबोध था। महादेवी ने उन्हें 'एक ऊँचा सीधा देवदारु' की संज्ञा दी थी। डॉ० पूरनचंद्र टंडन ने उन्हें दिव्यदृष्टा समीक्षक तथा माँ सरस्वती का लाडला पुत्र कहा है। उनका कथन द्रष्टव्य है, 'भाव, विचार तथा दर्शन की चरम परिणति के इस 'ब्रह्म-शब्द-स्रष्टा' ने जीवानुभवों के समस्त सुख-दुःख के प्रसंगों से प्रेरित होकर भविष्यत् के मानवीय अस्तित्व के लिए अपने अमर संदेश को चिरंतन एवं शाश्वत मूल्यवत्ता प्रदान की। भारत के सांस्कृतिक सत्तों, नैतिक मूल्यों के ठोस निष्कर्षों और पौराणिक-ऐतिहासिक संकल्पों को मनोवैज्ञानिक अन्वेषण द्वारा अनुभूति और चिंतन का विषय बनाकर अमूल्य मंतव्य, चिरंजीवी मानदंड तथा अखंड प्रतिज्ञाओं के बृहत्तर मूल्यों से भरपूर अक्षय भंडार देनेवाली इस अपराजेय संकल्पशक्ति से भारतीय साहित्य का इतिहास कभी उन्नत नहीं हो सकता।' ⁸ प्रसाद एक सच्चे कलापारखी और तत्त्वचिंतक थे, इसलिए उनके विविध सृजन-साहित्य में वह चिंतन पूर्ण परिपाक के साथ विद्यमान है। श्रद्धा, मधूलिका, अजातशत्रु, स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त आदि के माध्यमों से उनका चिंतन सदैव मुखरित हुआ है।

संदर्भ

1. छायावाद का पुनर्मूल्यांकन, सुमित्रानंदन पंत, पृ० 34
2. छायावाद का पुनर्मूल्यांकन, सुमित्रानंदन पंत, पृ० 44
3. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, (सं० नंददुलारे बाजपेयी) पृ० 143
4. यामा (अपनी बात), महादेवी वर्मा, पृ० 56
5. छायावाद में आत्माभिव्यक्ति, डॉ० शशि मुदिराज, पृ० 80
6. प्रसाद का साहित्य : प्रेमतात्त्विक दृष्टि, प्रभाकर श्रीत्रिय, पृ० 75
7. प्रसाद के नाटकों में इतिहास, संस्कृति, धर्म, दर्शन और कला, डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना, पृ० 236
8. हिंदी अनुशीलन (संयुक्तांक 1991), लेख, डॉ० पूरनचंद्र टंडन, पृ० 116

□ सरस्वती नगर

शिकोहाबाद (फिरोजाबाद) उ०प्र०

हरिमोहन के उपन्यास 'अकेले-अकेले साथ' की औपन्यासिक संरचना

सोनिका

डॉ० हरिमोहन का समकालीन साहित्यकारों में अपना विशिष्ट स्थान है। उनका सर्वाधिक चर्चित उपन्यास 'अकेले-अकेले साथ' है। यह उपन्यास सामाजिक समस्याओं को लेकर लिखा गया है, जिसमें स्त्री-पुरुष संबंधों को नए सिरे से विश्लेषित किया गया है। इस उपन्यास में 'घर' की परंपरागत और आधुनिक अवधारणाओं का उपन्यास के पात्रों की मनःस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में यथार्थपरक चित्रण है। इसमें स्त्री-पुरुष-संबंधों को आज के समय में नए सिरे से समझने की चेष्टा की गई है। हम इस उपन्यास के उद्देश्य, वस्तु एवं शिल्प को समझने की चेष्टा करें।

1. उद्देश्य :

एक रचनाकार क्यों लिखता है? यह प्रश्न विचारणीय है। उसकी रचनाओं में उसके उद्देश्य को रेखांकित किया जा सकता है। उद्देश्य में ही संदेश भी निहित है। उपन्यास-लेखक का उद्देश्य प्रायः उसके पात्रों की मनःस्थिति के अंकन, संवादों, स्थितियों के चित्रण आदि में छिपा रहता है। उपन्यास के पात्र प्रायः लेखक के दृष्टिकोण, उसके विचार और दर्शन के प्रतिनिधि हुआ करते हैं। वह अपने मंतव्य या उद्देश्य को उन्हीं के माध्यम से व्यक्त करता है। इस उपन्यास में लेखक का जो उद्देश्य है, उसे संक्षेप में हम इन बिंदुओं में रेखांकित कर सकते हैं—

1. उपन्यास में अमृता और गुरविंदर, अरुषी और सुकांत, अमिता और दिव्यांशु तथा कविता आदि पात्रों के बहाने से स्त्री-पुरुष-संबंधों, स्त्री की पीड़ा एवं संघर्ष को उभारा गया है।

2. साथ ही प्रसंगवश युवा पीढ़ी में व्याप्त नशाखोरी जैसी सामाजिक बुराई को उजागर करते हुए, इस पीढ़ी के मन में व्याप्त निराशा, कुंठा और उसकी अकेले पड़ जाने की बेबसी को भी रेखांकित किया गया है। उसके आक्रोश को व्यक्त करते हुए इस पीढ़ी की ईमानदारी, सत्यनिष्ठा, स्पष्टवादिता, देश और समाज के प्रति उसकी चिंता को भी सामने लाया गया है। इस संदर्भ में उपन्यास में चित्रित युवा-पीढ़ी के प्रतिनिधि पात्र केतू तथा प्रमुख स्त्री-पात्र अमृता के मध्य होने वाले कुछ संवाद पठनीय हैं यथा— 'लड़के-लड़कियों का कहना है कि इनसे हमारा आत्मविश्वास बढ़ता है। आनंद आता है। कई घंटे तक हम आनंद के सागर में गोते लगाते रहते हैं। हमारे अंदर ऊर्जा भर जाती है और सारी वर्जनाएँ टूट जाती

हैं।' 'जानता हूँ आंटी। अच्छी तरह जानता हूँ। मेरे कई दोस्त बरबाद हो गए। उनमें हताशा घर कर गई है। वे आत्महत्या के कगार पर खड़े हैं। उनमें से कुछ बहुत हिंसक को गए हैं। वे साइकिक केस हैं आंटी। उन्हें देखकर तरस आता है।' ¹ लेखक ने इससे आगे अरुषी की चिंता को समाज की चिंता से जोड़ा है— 'उसे इन बच्चों पर आश्चर्य भी हुआ था और दुःख भी हुआ। इनकी अपनी जीवन-शैली है। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में यह पीढ़ी अपने जीवनमूल्यों से कटती चली जा रही है। उसमें निराशा घर करती जा रही है। इनकी अपनी समस्याएँ भी हो सकती हैं। इन सबको हम माँ-बाप को समझना चाहिए। यह पीढ़ी जैसी भी है, इसमें कुछ-न-कुछ अच्छाई है।' ² एक तरह से यह लेखक का अपना दृष्टिकोण है। उपन्यास के अंत में केतू इस 'अच्छाई' को प्रमाणित भी कर देता है। वह अमृता को छलावे में डाले हुए गुरविंदर से व्यंग्यात्मक लहजे में पूछता है— 'आप आंटी जी से शादी कब कर रहे हैं? प्रश्न सुनकर गुरविंदर परेशान हो जाता है और भन्ना जाता है। इसी क्रम में केतू कहता है— 'अंकल आप इतने बड़े हैं। विद्वान हैं। सयाने हैं। गुरु हैं। गुरुद्वारे में प्रवचन करते हैं। उपदेश करते हैं। लोगों को शिक्षा देते हैं और आपने एक स्त्री को छलावे में डाला हुआ है।' इससे आगे का कथन लेखक के मंतव्य को भी सामने ले आता है— 'आप पुरानी पीढ़ी के लोग हमें बुरा-भला कहते हैं। अरे, हम जो करते हैं वह ओपनली करते हैं। एकदम साफ़। जो अंदर हैं, वही बाहर से भी हैं। जो स्टैंड लेते हैं, लेते हैं और आप लोग छल करते हैं। अपने साथ भी, और तमाम लोगों के साथ भी। जो आदमी अपने सबसे करीबी दोस्त को धोखा दे सकता है, उसके साथ झूठ-फरेब कर सकता है, वह कुछ भी कर सकता है। देश की हालत छोड़िए। वे सब आप जैसे लोग हैं। आप की पीढ़ी के ही लोग हैं जिन्होंने करप्शन फैलाया हुआ है। देश और समाज को बरबाद करके रख दिया है। आपने एक स्त्री को बरबाद करके रख दिया है। शोषण किया है उसका। आप सबको धोखा दे रहे हैं। एक आदर्श का मायाजाल अपने चारों ओर फैला रखा है आपने। खोखले हैं आपके आदर्श और वैसा ही समाज है। क्योंकि इसमें आपके जैसे लोगों की तादाद ज्यादा है। आपने आटी की मजबूरी और शराफत का फायदा उठाया है।' ³

3. उपन्यास में विवाह-संस्था पर प्रश्नचिह्न भी लगाया गया है। संभवतः लेखक का उद्देश्य विवाह-संस्था के बदलते हुए खोखले रूप पर पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित करना है। उपन्यास के लगभग सभी स्त्री-पुरुष पात्रों के बीच यही कशमकश चलती दिखाई देती है। लेखक की आत्मा अरुषी और सुकांत के संबंधों में वास कर रही लगती है। सुकांत का अरुषी के साथ विवाहेतर संबंध परंपरागत विवाह-संस्था के ढोए चले जाने की सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लगाता है और अपने दृष्टिकोण को अरुषी के माध्यम से एक कविता के रूप में कहता है— 'साथ-साथ अकेले चलने से अच्छा है, अकेले-अकेले साथ चलो। दूर ही सही, साथ तो है।' ⁴ निश्चय ही इस पर बहस हो सकती है। लेकिन जैसी स्थितियाँ उपन्यास में चित्रित की गई हैं, उनमें यही आदर्श स्थिति मानी जा सकती है।

2. कथावस्तु का स्रोत :

हरिमोहन ने अपने उपन्यास 'अकेले-अकेले साथ' की कथावस्तु सामाजिक संदर्भों से ग्रहण की है। जैसा कि हम उपन्यास के उद्देश्य से प्रसंग में देख आए हैं, इस उपन्यास में

स्त्री-पुरुष-संबंधों के विविध आयामों को आधुनिक संदर्भों में देखा गया है। युवा पीढ़ी की समस्याओं को भी समझने की चेष्टा की गई है। उपन्यास पढ़ने हुए ऐसा लगता है कि उपन्यासकार ने अपने संपर्क में आए स्त्री-पुरुषों, युवाओं और मित्रों आदि के जीवन के प्रसंगों से इस उपन्यास का ताना-बाना बुना है।

इस उपन्यास की समीक्षा करते हुए एक समीक्षक ने लिखा है, 'इस उपन्यास की स्त्रियों के जीवन में सपने लिए प्रेयसी की भूमिका और 'वन टू वन' संबंध के व्यक्तिनिष्ठ चुनाव का दायित्व सचमुच चुनौतीपूर्ण है। घर, परिवार, संबंध, सुरक्षा आदि में बहुत कुछ ऐसा दिखाई देता है, जो उनकी आकांक्षा का विषय तो है, पर जिसे उन्होंने अपने दायित्व के चलते निभाने का और कभी-कभी नकारने का भी महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। अस्तित्वगत छटपटाहट इन सभी की व्यथा है। इस उपन्यास के महिला-पात्र हमारे ही इर्द-गिर्द दिखाई पड़ते हैं। इसलिए इस उपन्यास के प्रसंग हर उस युग के नारी के पात्रों की कथा है, सामाजिक व्यवस्था और वर्तमान स्थितियों से विवश तथा परास्त होने के कारण अपने लक्ष्य से भटकने को अभिशप्त हैं। इस उपन्यास में हर नारी की अधूरी और यातनापूर्ण जिंदगी का लेखक ने पूरी ईमानदारी से उन्हीं के बीच बैठकर संवेदना के साथ चित्रण किया है।'

पात्र एवं चरित्र-चित्रण :

हम हरिमोहन के उपन्यास 'अकेले-अकेले साथ' के पात्रों को देखें तो पाएँगे कि ये पात्र लेखक के जीवन से ही हैं। लेखक ने उन्हें अपने आसपास से ही चुना है। किंतु कोई भी एक पात्र ऐसा नहीं है, जो अपने वास्तविक रूप में ज्यों-का-त्यों हो। उसके व्यक्तित्व और चरित्र में लेखक ने अपनी ओर से कुछ-न-कुछ जोड़ दिया है अथवा कुछ-न-कुछ छोड़ दिया है। उदाहरण के लिए उपन्यास की केंद्रीय पात्र अरु भी ऐसी महत्त्वपूर्ण सृष्टि है। इसी तरह संभवतः लेखक का प्रतिनिधित्व कर रहा सुकांत है। अमृता और गुरविंदर के चरित्र भी ऐसे ही हैं। अन्य सभी पात्रों में कल्पना का बहुत बड़ा योग है। विशेष रूप से कॉलेज के लड़के-लड़कियों के चरित्रों के निर्माण में गतिशील पात्र वे हैं, जो परिस्थितियों और वातावरण के प्रभाव से बदल जाते हैं। वे उपन्यास में आदि से अंत तक एक जैसे नहीं रहते। साथ ही इनमें कथा को मोड़ने, दूसरे चरित्रों को बदलने या प्रभावित करने, कथा-सूत्र को तेजी से आगे बढ़ाने की क्षमता होती है। इस उपन्यास के गतिशील पात्रों की श्रेणी में अरुषी, सुकांत, केतू, कविता तथा युवा छात्र-छात्राएँ तथा 'कहानी' आते हैं।

गतिशील पात्रों से भिन्न स्थिर पात्र वे पात्र हैं, जो शुरू से अंत तक स्थिर बने रहते हैं। परिस्थितियों और वातावरण का इनके चरित्र पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इनके कार्यकलाप प्रायः स्थिरता लिए हुए होते हैं। इनमें कथा को बदलने अथवा अन्य किसी पात्र को प्रभावित करने की क्षमता नहीं होती। 'अकेले-अकेले साथ' उपन्यास में इस श्रेणी के पात्रों में अमृता, गुरविंदर, अभिजीत, दिव्यांशु और स्वयं लेखक (नैरेटर) लिए जा सकते हैं।

पात्रों का दूसरा वर्गीकरण 'वर्ग पात्र' और 'व्यक्ति पात्र' के रूप में किया जा सकता है।

'अकेले-अकेले साथ' उपन्यास की विषयवस्तु सामाजिक है। इसलिए स्वाभाविक है कि इसमें 'वर्ग पात्र' अधिक हैं, 'व्यक्ति पात्र' बहुत कम। बल्कि यह कहना उचित रहेगा कि

हरिमोहन ने अपने इस उपन्यास में 'वर्गीय पात्रों' को भी अपने दृष्टिकोण से अलंकृत कर 'व्यक्ति पात्रों' से मंडित कर दिया है। उनके चरित्र में आया यह वैशिष्ट्य उन्हें नवता प्रदान करता है। यही कारण है कि उनके पात्रों का व्यक्तित्व पाठक को प्रभावित किए बिना नहीं रहता।

पात्रों का प्रस्तुतीकरण :

पात्रों को सजीव और सशक्त बनाने के लिए उपन्यासकार उनको प्रस्तुत करने के लिए विविध विधियों का प्रयोग करते हैं। इनमें से कुछ विधियाँ ऐसी हैं, जिनका प्रयोग आरंभ से ही होता चला आ रहा है। ऐसी विधियों में विश्लेषणात्मक और अभिनयात्मक विधियाँ उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और विधियाँ भी प्रचलित हैं जिनकी गणना उपर्युक्त दोनों विधियों के अंतर्गत की जा सकती है। ऐसी विधियों में उद्धरणात्मक विधि, वर्णनात्मक विधि, चित्रात्मक विधि और आत्माभिव्यक्ति विधि को लिया जा सकता है।

हरिमोहन ने अपने उपन्यास में अभिनयात्मक विधि की तुलना में वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक विधि का उपयोग अधिक किया है। इस कारण उनके उपन्यास का फलक अधिक विस्तृत बन पड़ा है तथा सभी पात्र अपने पूरे परिवेश के साथ जीवंत होकर उपस्थित हैं। साथ ही उल्लेखनीय है कि अभिनयात्मक विधि का भी उन्होंने कहीं-कहीं कुशलता के साथ उपयोग किया है। जहाँ उन्होंने अभिनयात्मक विधि को अपनाया है, वहाँ पाठक को नाटक अथवा चलचित्र जैसा आनंद मिलता है। यों, उपन्यास की समग्र प्रस्तुति नाटकीयता लिए है। इसलिए इस उपन्यास में फ़िल्म और टेलीविजन के धारावाहिक-निर्माण की संभावनाएँ बहुत प्रबल हैं।

पात्रों के प्रस्तुतीकरण की वर्णनात्मक विधि का एक उदाहरण इन पंक्तियों में पठनीय है— 'अमृता की आँखों में नींद नहीं है। आँसू हैं। ... अविरल और असमाप्त। आसपास के फ़्लैट्स सो चुके हैं। साथ सोए उसके दोनों बच्चे न जाने किन सपनों में खेल रहे होंगे। वह नहीं चाहती कि उनके सपने बिखरें। इसलिए उन्हें छूती नहीं, सिर्फ़ देखती है। एक दूरी से। चुपचाप रोती है। भीतर-ही-भीतर। निःशब्द। आज उसने फिर नए सिर से सोचना शुरू किया। क्यों अलग हुई वह अभिजीत से? बच्चों की खातिर सबकुछ सहती रहती। पड़ी रहती उसके घर। अस्तित्वहीन। पीती रहती अपमान के घूँट। रही आती सुलगती लकड़ी की तरह। और भी तो स्त्रियाँ रहती हैं अपने आप को मिटाकर। लेकिन भीतर से तर्क सिर उठता, 'कब तक? और क्यों? क्या मैं मानवी नहीं? मुझमें क्या कमी है?? यही कि मैं सोच सकती हूँ। सही-ग़लत पर बहस कर सकती हूँ।' 5

इस उद्धरण में अमृता के चरित्र का वर्णनात्मक ढंग से प्रकटीकरण है। उसके विगत जीवन को वर्तमान जीवन की परिस्थितियों के साथ जोड़ा गया है। धीरे-धीरे आगे चलकर उसके चरित्र का विकास कथा के माध्यम से होता गया है। वह दुःखी है, परित्यक्ता है, किंतु उसने अकेले रहने का निर्णय लिया है। इसलिए परिस्थितियों से जूझती और संघर्ष करती है।

हरिमोहन ने अमृता तथा अन्य पात्रों की केवल बाह्यशारीरिक विशेषताओं को ही नहीं उद्घाटित किया, अपितु वे उनके अंतर्मन को भी सामने ले आए हैं। इसके लिए आवश्यकतानुसार उन्होंने चित्रों की योजना की है। इससे पात्रों के चरित्र में नई दीप्ति आ गई

है। उनका प्रभाव भी बढ़ गया है। इस संदर्भ में एक उदाहरण और देखें—

‘पति क्रूरता के साथ मुस्कुराता रहता था। एक बार फिर यह दृश्य उसकी आँखों में आँसुओं के बीच उभरा। इस दृश्य में वह निरीह बनी हुई थी, अभिजीत था तना हुआ। दृढ़ पत्थर। एक स्त्री अपने आपको पूरी तरह मिटा देती हुई। अबला बनी। अपमानिता। दरकते आधार पर टिके थे जिसके पैर। निर्वासित बनाई जाती हुई। अकेली। असहाय।’⁶

उन्होंने अपने पात्रों के हाव-भावों के वर्णन के साथ ही उनके वस्त्राभूषणों तथा क्रियाकलापों का भी वर्णन किया है। साथ ही पात्रों को इस ढंग से प्रस्तुत किया है कि वे भीड़ में अलग से पहचाने जा सकें। उदाहरण के लिए उपन्यास का यह अंश देखें—

‘मुस्कुराती वह और भी सुंदर फीरोजी रंग की रेशम की साड़ी। एकदम खिला हुआ गोरा रंग। बड़ी-बड़ी काली आँखें। कटारी की तेज धार की तरह तराशी हुई पतली-पतली भौंहें। घनी पलकें। दमकते हीरे के कर्ण फूल। खालिस सफ़ेद मोतियों की माला। एक पतली चूड़ी बाँए हाथ में। दाँए हाथ में सोने की चैन वाली ख़ूबसूरत रिस्टवाच। बेजोड़ भव्यता; जो उसके चेहरे को अनूठी गरिमा दे रही थी।’⁷

इस उद्धरण में कविता के सौंदर्य, उसके तथा अरुषी आदि पात्रों के हाव-भाव उनके चरित्र को बहुत ही भावपूर्ण ढंग से सामने ले आते हैं।

इस उपन्यास में अभिनयात्मक विधि से पात्रों का प्रस्तुतीकरण भी देखने-योग्य है। इस विधि को अपनाने हुए उपन्यासकार ने पात्रों के अंतर्मन की भाव-दशा को क्रियाओं के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। यहाँ उन्होंने बहुत ही सार्थक संवादों की सृष्टि की है, जो पात्र का समूचा चरित्र खोल देने के लिए पर्याप्त हैं। ध्यान रहे कि ये संवाद बहुत ही छोटे, अर्थपूर्ण, सांकेतिक और कथा-सूत्र को गति देनेवाले हैं। उदाहरण के लिए हम एक स्थल को उद्धृत करते हैं—

‘कब आई?’ आँसू पोंछते हुए, भरे कंठ से अरुषी ने पूछा।

‘कल रात।’

‘फ़ोन क्यों नहीं किया?’

‘सोचा, अचानक घर पहुँचकर सरप्राइज़ दूँगी।’

‘घर आ जाती। आई क्यों नहीं?’⁸

इन छोटे-छोटे संवादों में कविता, अरुषी और अमिता के चरित्र सामने आ रहे हैं। उनकी आत्मीयता, अपनत्व, मैत्री आदि के स्तर खुल रहे हैं। साथ ही अंतिम वाक्य में ‘दिखने’ और ‘होने’ में अंतर को बहुत ही सांकेतिक भाषा में उभारा गया है। यह आवश्यक नहीं कि जो सुंदर दिख रही हो, वह वास्तव में अपने जीवन में भी खुश हो! यह बोध हमें अंदर तक हिला देता है और प्रभावित करता है।

पात्रों की मनोदशा आदि का अंकन भी संवादों के माध्यम से बखूबी हुआ है। इस दृष्टि से कॉलेज कैम्पस का यह दृश्य और वातावरण में तैरने वाले संवाद पठनीय हैं—

‘आज अमृता किसी काम से कॉलेज आई थी। वह अपने विचारों में खोई चुपचाप उधर से जा रही थी, जिधर कुछ लड़के झुंड बनाए खड़े थे। जब वह आगे बढ़ी तो उसकी बातचीत के कुछ टुकड़े उस तक तैरते हुए आए। ‘अरे यार देख, एकदम टंच सिक्का!’ ‘हाँ

यार दीख तो नया ही रहा है, लेकिन लगता है अभी टुटरूँ-टूँ है।' 'तभी तो सोलो है। बिल्कुल कैटवाक स्टाइल में जा रहा है।' ... 'क्या यार, ये तो पीछे से पर्सनैलिटी आगे से म्यूनिसपैलिटी निकली।'⁹

इस उपन्यास के सभी पात्र स्वाभाविक, सजीव, हमारे आसपास के और मौलिक हैं। उनमें मानवीय संवेदनाएँ, आशा-आकांक्षाएँ और घटनाओं के प्रति स्वाभाविक प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करने की क्षमता दर्शाई गई है। साथ ही पात्रांकन में स्वाभाविकता लाने के लिए लेखक ने समसामयिक घटनाओं का भरपूर उपयोग किया है।

4. वातावरण और परिप्रेक्ष्य-चित्रण :

उपन्यास 'अकेले-अकेले साथ' में वातावरण और परिप्रेक्ष्य-चित्रण को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। इसका कारण इन उपन्यासों का वर्ण्य विषय है, जिसमें वे समकालीन समाज और संस्कृति से अपने कथानक का चुनाव करते हैं। वातावरण और परिप्रेक्ष्य के अंकन से कथानक और चरित्र दोनों को बल मिला है। सच तो यह है कि इस उपन्यास की सफलता का श्रेय बहुत कुछ इसमें चित्रित वातावरण एवं परिप्रेक्ष्य-चित्रण को जाता है। वस्तुतः परिप्रेक्ष्य वह धरातल है, जिसमें पात्र जन्म लेते हैं, वह वातावरण है जिसमें वे साँस लेते हैं, वह माध्यम है जो उन्हें जीवित रखता है, उन्हें आच्छादित करता है।

कथानक-विन्यास में परिप्रेक्ष्य-चित्रण से आई सहजता, स्वाभाविकता और विश्वसनीयता को देखने के लिए हम यहाँ इस उपन्यास से एक उदाहरण लेते हैं—

'इस गुलाबी नगर की पुरानी इमारतों में अदृश्य इतिहास संगीत की तरह बजता है। हम चाहें न चाहें, वे इमारतें हमें सहज ही उस इतिहास की वादियों में लिए चलती हैं। राजाओं के पौरुष को प्रदर्शित करते तरह-तरह के हथियार, भारी भरकम तलवारें, तोपें और जिरहबख्तर, वैसे ही वस्त्राभूषण। रानियों के निजी कक्षा। रंग-बिरंगे रेशमी और कलात्मक परिधान। आभूषण और शृंगार प्रसाधन। ... इनको देखते हुए आज अचरज और आतंक अधिक होता है। यहाँ तक कि केलि प्रसंगों की कल्पना करते हुए भी एक कौतूहल, वीरता और कुछ-कुछ आतंक का-सा भाव उदित होने लगता है। ... यही भाव सुकांत और अरुषी के भीतर उठे थे। अरुषी संभवतः इसलिए सिहरकर सुकांत के और निकट आ खड़ी हुई थी। जिसे सुकांत ने स्नेह के साथ गह लिया था। ...'¹⁰

इस परिप्रेक्ष्य/वातावरण से अरुषी और सुकांत की मनोस्थिति, उस क्षण में उनके मन में उठ रहे विचारों और मनोभावों को एक नई दीप्ति मिली है। कथानक को एक विश्वसनीय भावभूमि प्राप्त हुई है। लेखक की ललित कल्पना से गल्प को यथार्थ का आधार भी मिल गया है।

कथानक के भीतर वातावरण की यह उपस्थिति कभी विवरणात्मक विधि से की गई है, कभी विवेचनात्मक विधि से और कभी संवाद के द्वारा। उद्देश्य एक ही रहा है— वातावरण का सजीव अंकन। और इस वातावरण अथवा परिप्रेक्ष्य के अंकन से कथानक को एक नई ऊँचाई सौंपना। इस संदर्भ में हम एक उदाहरण और लेते हैं। पढ़कर देखें—

'कमरे की दीवारों अमृता को घेरे हैं और उसे यों बैठे अतीत में टहलने की सुविधा दे रही हैं। लगता है दीवारों के कान ही नहीं, आँखें भी होती हैं। इसलिए टहलते देख भी रही

हैं। अमृता पता नहीं कब दीवारों के घेरे से बाहर निकल गई है। अपनी देह को दीवारों के घेरे में पड़े सोफे पर यों ही रखी छोड़कर भटक रही है। हाँ, केतू जब उसके कमरे में आया तो यही स्थिति थी। 'आंटी जी क्या बात है? अकेले-अकेले जी नहीं घबराता आपका?' कहते हुए उसने अमृता को वापस अपने शरीर में लौटा दिया। ...'¹¹

अस्तु, रिमोहन ने अपने इस उपन्यास में परिप्रेक्ष्य अथवा वातावरण के अंकन से पात्रों को सजीव भावभूमि प्रदान की है। अमृता और केतू दोनों के चरित्र को एक नया आधार मिल गया है। उनकी मनःस्थिति वातावरण से जुड़कर और भी प्रभावपूर्ण ढंग से सामने आई है। ऐसे स्थल इस उपन्यास में कई जगह हैं।

5. देशकाल और स्थान-चित्रण :

हमें यह देखना होता है कि उपन्यास का कथानक किस स्थान और किस समय से संबंधित है। घटनास्थल के अंतर्गत स्थान-विशेष के साथ वहाँ के सांस्कृतिक जीवन का भी उल्लेख होता है। इसी प्रकार घटना काल के अंतर्गत युग विशेषकर समाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक परिस्थितियों एवं रीति-रिवाज तथा आचार-विचार का चित्रण किया जाता है। ऐतिहासिक-सांस्कृतिक उपन्यासों में इन तत्त्वों का विशेष महत्त्व है। फिर भी इतना अवश्य है कि उपन्यास की कथावस्तु का संबंध किसी-न-किसी रूप में किसी स्थान-विशेष के साथ होता है। उपन्यासकार उस स्थान-विशेष के चित्रण-द्वारा कथानक को सजीव तथा आकस्मिक बनाने का उपक्रम करता है। इस कारण उपन्यासों में स्थान-चित्रण, स्थान-विशेष की भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के लिए पर्याप्त अवकाश मिल जाता है। उपन्यासकार किसी भी विषय और किसी भी घटना को अपने उपन्यास में ढाल सकता है। पाठक को किसी भी भौगोलिक परिवेश की यात्रा करा सकता है। शर्त यही है कि वह स्थान तथा काल के अनुरूप हो, तभी उसमें विश्वसनीयता आती है। (अतिकाल्पनिक अथवा अतिथार्थवादी उपन्यासों की बात दूसरी है। उनमें 'लीलाभाव' इस शर्त का बंधन स्वीकार नहीं करता। उत्तर आधुनिकतावादी रचनाओं में ऐसे प्रयोग मिल सकते हैं। स्वयं ऐसा प्रयोग हरिमोहन ने अपने उपन्यास 'एकदा' में किया है।) जहाँ तक 'अकेले-अकेले साथ' उपन्यास की बात है, इसमें देशकाल और स्थान-चित्रण विश्वसनीयता के साथ किया गया है। कोई भी स्थल अपने पूरे परिवेश के साथ उपस्थित हुआ है। चाहे वह जयपुर हो या फिर दिल्ली का महानगरीय जीवन, जिसमें अमृता, अरुषी, कविता आदि अपना जीवन-यापन कर रही हैं। महानगरों के कुछ कॉलेजों में युवाओं-द्वारा नशाखोरी का जो 'खेल' देखने को मिलता है, उसका सजीव चित्रण इस उपन्यास को एक नवीन भूमि प्रदान करता है। इस उपन्यास के कई समीक्षकों ने इस चित्रण की नवीनता और प्रभावशीलता की प्रशंसा की है। उपन्यासकार के दार्शनिक चिंतन को एक समीक्षक ने सुप्रसिद्ध उत्तर आधुनिकतावादी चिंतक देरिदा के चिंतन से जोड़ते हुए लिखा है— 'इसी उड़ान की आकांक्षा उन नवयुवकों और नवयुवतियों में भी है जो कॉलेज में पढ़ने आए हैं। इसी का अभाव उन्हें ड्रग्स की दुनिया की ओर उन्मुख करता है।'¹²

समग्रतः हरिमोहन के इस उपन्यास में देशकाल का बहुत ही सटीक, यथावश्यक और संवेदनापूर्ण चित्रण है। इस चित्रण में लेखक के दृष्टिकोण की छवियाँ भी जगह-जगह

उभरकर आई हैं।

शैली और भाषा-शिल्पजहाँ तक 'अकेले-अकेले साथ' उपन्यास की शैली की बात है, इस उपन्यास में कई शैलियों का प्रयोग मिलता है। नाटकीयता और रोचकता की सृष्टि के लिए सबसे पहले लेखक ने एक अदृश्य पात्र 'कहानी' और स्वयं के संवादों को पिरोकर आत्मकथात्मक शैली का प्रयोग किया है। आत्मकथात्मक शैली का केंद्रबिंदु 'मैं' होता है। कथानक का विकास इसी 'मैं' के माध्यम से होता है। इस उपन्यास में आरंभ में और बीच-बीच में कहानी के साथ 'मैं' के रूप में लेखक ने अपने-आपको प्रस्तुत किया है। 'कहानी' कहानी कहती है और लेखक सुनता है। कहानी के माध्यम से उपन्यास की कथा आगे बढ़ती है। इससे पूरा कथानक संगठित होकर एकसूत्र में बँधता चला गया है। आत्मकथात्मक शैली के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में हम उपन्यास के इस अंश को पढ़ सकते हैं—

'आप मुझे थोड़ा-सा समय देंगे?' कहानी ने मुझसे पूछा था। मैं मुस्कराया था और मैंने 'हाँ' में सिर हिलाया था। वह बेहद खुश हो गई थी। बोली, 'आज के समय में किसी के पास किसी की बात सुनने का समय नहीं है। 'नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं है। मैं आपको सुनूँगा। आप कहिए।' मैंने उसे आश्वस्त किया था।¹³

हरिमोहन ने आत्मकथात्मक शैली के साथ ही चित्रात्मक शैली का प्रयोग किया है। कथ्य को जीवंत बनाने के लिए उन्होंने इस शैली का प्रयोग किया है। प्रभावपूर्ण प्राकृतिक दृश्यावलि, पात्रों की गतिविधियाँ, नगरीय-महानगरीय परिवेश, पात्रों के व्यक्तित्व को उजागर करनेवाली उन्हीं के लहजे में की गई बातचीत, इमारतें, आकाश के रंग आदि का अंकन करते हुए उन्होंने उपन्यास को सजीवता प्रदान की है। इस अंश में चित्रात्मक शैली का एक उदाहरण देखें, जिससे उपन्यास शुरू होता है—

'शाम थी और दिनों की शाम की तरह ही थी। सूरज जैसे नित्य डूबता है, वैसे ही डूबने को था। कुछ देर ठहरकर, जाने से पहले अपनी छोड़ी हुई सृष्टि को देखता हुआ, जाता। मैं भी इसी सृष्टि में था और वह पार्क भी; जो शहर के बाहर था और जिसमें मैं घूमने चला आया था। वह मुझे वहीं बेंच पर बैठी मिली थी। पता नहीं कबसे बैठी थी और किसकी प्रतीक्षा कर रही थी। शाम के जोगिया रंग में डूबी भीड़ नहीं थी। बस मैं था और वह थी या फिर हवा थी। कुछ चिड़ियाएँ थीं। पेड़-पौधे थे। तितलियाँ थीं और शायद भौरें भी थे।'¹⁴

आत्मकथात्मक और चित्रात्मक शैली के साथ ही इस उपन्यास में सर्वाधिक प्रभावशाली शैली है— मनोविश्लेषणात्मक शैली। पात्रों की मनःस्थिति स्पष्ट करने के लिए हरिमोहन जी ने मनोविज्ञान का सहारा लिया है। उनका अभीष्ट है पात्रों के अंतर्मन में प्रविष्ट होकर उन भावनाओं का स्पर्श करना, जिनसे प्रभावित होकर व्यक्ति अपने क्रिया-कलाप करता है और सामाजिक भूमिका निभाता है। लेकिन उन्होंने यह ध्यान रखा है कि पात्रों के मनोविश्लेषण में अधिक तल्लीन न हो जाएँ, अन्यथा कथा-प्रवाह में बाधा आ जाती है। इस शैली के सफल निर्वाह के लिए— पूर्वदीप्ति (Flash Back) तथा चेतनाप्रवाह (Stream of Consciousness) पद्धति का प्रयोग दिखाई देता है। इस पद्धति में अतीत वर्णनात्मक रूप में न आकर स्मृति-तरंगों के रूप में प्रतिफलित हुआ है। समस्त घटनाएँ बाह्य संसार से हटकर

मानसिक संसार में अवतरित हुई हैं। इसलिए ऐसे स्थलों पर स्वाभाविक सूक्ष्मता तथा प्रभावपूर्णता है। यह शैली सिनेमा-जैसी है। इस टेक्नीक द्वारा लेखक ने एक ही घटना के पात्र-विशेष पर दोहरे मनोभावों का प्रभाव सरलतापूर्वक दर्शाया है। इस पद्धति के कुशल प्रयोग का एक अच्छा उदाहरण इस अंश में देखा जा सकता है—

‘वह चुपचाप उसे देखती हुई कॉफी पीती रही। उसे देखते-ही-देखते दूसरे देश-काल में चली गई। कविता के साथ भी ऐसा ही होता है। कविता के साथ भी तो ऐसा ही कुछ घटा था। वह कविता के प्रसंग को याद नहीं करना चाहती थी। लेकिन अपनी बालसखियों से मिलने पर सभी को कविता का ध्यान हो आता था। ...’¹⁵

इन शैलियों के अतिरिक्त कहीं-कहीं पर उन्होंने हास्य-व्यंग्य शैली का भी प्रयोग किया है, लेकिन कम। फिर भी वह जितना है, अच्छा प्रभाव पैदा करता है। विशेष रूप से ऐसे स्थलों पर जहाँ वे पात्रों के कथन में अपना विचार या मंतव्य पिरो रहे होते हैं। यथा एक इस अंश में व्यंग्य-शैली का प्रयोग देखें— ‘उसकी सारी बात सुनकर अरुषी को बहुत दुःख हुआ था। उसकी और भी साथिनें थीं, जिनके साथ ऐसा ही या इससे मिलती-जुलती स्थितियाँ घटित हो चुकी थीं। कुछ इन सबको झेलतमी हुई अपने पतियों के ‘मकानों’ में बंद थीं, कुछ इन सबके पार निकल गई थीं। हँसती-मुस्कुराती अपने माता-पिता को अपने ‘सुखी’ होने का अहसास कराती रहती थीं।’¹⁶

हास्य-व्यंग्य शैली का प्रयोग इस उपन्यास में पृष्ठ 21 से 31 तक के अंश में देखा जा सकता है, जहाँ कॉलेज के छात्र-छात्राएँ ड्रग्स की चर्चा अपनी विशिष्ट शब्दावली और हाव-भाव के साथ करते हैं। यह अंश गंभीर प्रश्न भी उठाता है।

कथोपकथन की भाषा के कई स्तर होते हैं। यदि पात्र अशिक्षित होते हैं, तो उनकी भाषा परिवेशगत अर्थात् आंचलिक होती है और शिक्षित होते हैं तो उनकी भाषा संयमित तथा व्याकरण-नियंत्रित। कभी-कभी शिक्षित पात्रों की भाषा में भी आंचलिकता मिल जाती है। इसका कारण पात्रों की मनोवृत्ति है। ‘अकेले-अकेले साथ’ उपन्यास में लेखक ने भाषा को नवीनता देने, उसे समृद्ध करने, पात्रों की मनोवृत्ति दर्शाने, उनके व्यक्तित्व को जीवंत रूप में सामने लाने आदि उद्देश्यों से कई प्रयोग किए हैं। उनके पात्र शिक्षित वर्ग के हैं। इसलिए आंचलिकता की गुंजाइश कम ही थी, किंतु कुछ पात्र पंजाबी पृष्ठभूमि के होने के कारण उनकी वाक्य-रचना पंजाबीपन लिए हुए है। वैसी ही शब्दावली सहज रूप में आ गई है। इस उपन्यास में संवादों की भाषा का वैशिष्ट्य देखने के लिए हम कुछ उदाहरण देखें—

‘हाय तानिया! हैलो संध्या! क्या लफ़ड़ा है?’ पिंटी पूछती है।

‘कुछ नहीं यार, संध्या फ्रस्टाचार में है। इस बेचारी का सारा खेल खच्चड़ हो गया।’ जवाब तानिया देती है।

‘पर हुआ क्या?’

‘कुछ नहीं, इसका सामुराई अंटी हो गया।’

‘वो कडंगा? वो तो है ही जादूगर।’¹⁷

इन संवादों में भाषा का एक बिल्कुल नया रूप मिलता है। कुछ महानगरों में आज की युवा पीढ़ी में, विशेष रूप से विश्वविद्यालयों-कॉलेजों में इस तरह की बातचीत सुनने को

मिल सकती है। लेखक ने इस नई भाषा का प्रयोग कर उपन्यास की भाषा को एक नई दीप्ति, एक नई रचनाशीलता और नई शक्ति दी है।

उपन्यास के संवाद पात्रों के व्यक्तित्व का सजीव चित्र प्रस्तुत कर देते हैं। उनकी सहजता, उनकी लापरवाही, उनकी मस्ती, उनकी चिंता, उनका दुःख, उनका हर्ष, उनका चिंतन, समाज और जीवन के प्रति उनकी अवधारणा सबकुछ सामने आ जाता है। यथा—

‘अच्छा अंकल, एक बात बताएँ। जैसे तो मुझे कोई हक़ नहीं बनता कुछ पूछने का या कहने का, लेकिन जितना मैं जानता हूँ पूछना चाहूँगा।’ ‘पूछो जी, तुस्सी भी पूछो ...’; कहने में लापरवाही थी और अपने ज्ञानी होने का गौरव भरा अहं। ‘आप आंटी जी से शादी कब कर रहे हैं?’ (उम्मीद से बाहर का प्रश्न था। अकल्पित। सीधा और चुभनेवाला।) ‘क्या मतलब? (जानते हुए भी अनजान बनने का असफल और बेमतलब प्रयास। अपने आपको साफ़ बचा सकने की कोशिश) ‘मतलब? आप भी जानते हैं और मैं भी। मैं पूछ रहा हूँ, आप ऋचा की मम्मी से जी शादी कब कर रहे हैं?’ (नाप-नापकर बोला गया दृढ़ और संयत कथन।) ¹⁸

सच्चाई यह है कि उपन्यास की भाषा लेखक की अपनी भाषा होती है। चाहे वह परिमार्जित हो, अलग तरह की हो या आंचलिकता लिए हो। पात्रों के अनुरूप उसका स्वरूप बने इस कारण उपन्यासकार उसमें परिवर्तन कर देता है। इससे पात्रांकन में सजीवता और परिवेश-चित्रण में स्वाभाविकता आ जाती है।

संस्कृत की नवीन शब्दावली का प्रयोग कई स्थलों पर है। लगता है कि लेखक अपने पांडित्य-प्रदर्शन से अधिक भाषा को नई ऊर्जास्विता देना चाहता है। सांकेतिकता के समावेश और शब्दों की मितव्ययता के लिए उसने कई बार बहुत ही विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं तो यह प्रयोग इतना सफल बन पड़ा है कि एक शब्द पूरे वाक्य का काम कर रहा है और भाषा की यह नवता उपन्यास को नया भाषिक आयाम सौंपती देती है। कुछ उदाहरण देखें—

‘सिर्फ़ वे थे दोनों। निपट वर्तमान में बैठे। फुर्सत से। निःचिंता। प्रफुल्ल। मुक्त और परितृप्त।’ (पृ० 70)

इससे उसे वह सबकुछ मिलता है, जो उसे आज तक किसी से नहीं मिला। एक संतुष्टि। निजता। गहनता और विस्तार।’ (पृ० 71-72)

संस्कृतनिष्ठ शब्दावली के साथ ही यथास्थान सहज भाव से अँग्रेज़ी और अरबी-फ़ारसी या उर्दू के शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इनका प्रयोग प्रायः संवादों में ही हुआ है, वर्णन में बहुत कम।

हरिमोहन के इस उपन्यास की भाषा की एक सबसे बड़ी विशेषता— काव्यात्मकता और प्रतीकात्मकता। वे मूलतः कवि हैं, इसलिए जहाँ भी अवसर मिला है, उनकी काव्य-प्रतिभा ने अपना काम करना शुरू कर दिया है। उपन्यास में ऐसे अनेक प्रसंग अनुस्यूत हैं, जिनमें अलंकारपूर्ण काव्यात्मकता और प्रतीकात्मकता का सुंदर समावेश है। सूक्ष्म संवेदनात्मकता को उभारने और पात्रों की मनःस्थिति के साथ ही वातावरण के प्रेरक, उद्दीपक तथा जीवंत चित्रण के लिए ऐसी भाषा बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। भाषा की रचनात्मक शक्ति का पता ऐसे स्थलों को पढ़कर सहज ही लगाया जा सकता है। कुछ उदाहरण देखें—

‘होटल के कमरे में लौटे तो अरुषी भरी-भरी थी। किसी दूसरे देश-काल में जीती। देह और मन दोनों के स्तर पर वह कांत के साथ है। इस दिव्य दिक्काल में न उसके निकट घर है, न ऑफिस, न उसकी सखी-सहेलियाँ। न ही चाहती कांत इनमें से किसी की चर्चा करे। वह सिर्फ कांत से जुड़ी रहकर अपने आपको, कांत को और इस दिव्य दिक्काल को जीना चाहती है। पूरमपूर। वह कांत के और निकट आ जाती है। निकट, निकटतर, निकटतम। निकटतम के भी निकटतम। इस गहनता को कांत भी पहचानता है। देना और पाना चाहता है। ‘अरु, मेरे भीतर उतर जाओ।’ बहुत प्यासा स्वर। अरुषी उसके मुँह में साँस फूँकती है। ... ‘और ... और ... और ... गहरे तक’¹⁷

अंत में हम ‘अकेले-अकेले साथ’ उपन्यास के भाषा-शिल्प का एक और महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य देखें। यह वैशिष्ट्य है सूक्तियों का प्रयोग। हरिमोहन ने बहुत ही विचारपूर्ण सूक्तियों की सर्जना की है। ये सूक्तियाँ कथा के परिवेश और लेखकीय अनुभव से जन्म लेती हैं। पात्रों का जीवनानुभव यहाँ लेखक के जीवनानुभव से मिलकर बहुत ही अर्थगर्हित सूक्तियों को जन्म देता लगता है। ये सूक्तियाँ लेखक की दार्शनिक चेतना और जीवन-जगत् के प्रति उनके दृष्टिकोण की परिचायक हैं। उदाहरण के लिए हम कुछ सूक्तियाँ उद्धृत कर रहे हैं

सुरक्षा धीरे-धीरे परावलंबी बना देती है। (पृ० 11) साथ-साथ अकेले चलने से अच्छा है, अकेले-अकेले साथ चलो। (पृ० 33) ये कैसा प्यार है? पुरुष अपनी सुविधा देखता है, स्त्री अपनी। दोनों अपने आपको सही मानते हैं। लेकिन एक-दूसरे के लिए ग्लत हो जाते हैं। (पृ० 45) प्यार में देना ही देना है। दोगे तभी कुछ पाओगे। पाने की उम्मीद में दोगे तो निराशा ही हाथ लगेगी। (पृ० 45) प्यार अपने आप एक अहसास की तरह अचानक दिल के अतल में पैदा होता है। (पृ० 45) स्त्री दुःखों के बीच से निकलकर बहुत समझदार हो जाती है। बाहर हम जो करते हैं, वह स्वप्न है। (पृ० 81) स्त्री सुरक्षा भी चाहती है, स्वतंत्रता भी। ये दोनों एकसाथ कैसे मिलेंगे? (पृ० 100) मुक्ति तक संसार हैं ज्यों ही मुक्ति का आरंभ होता है, संसार समाप्त हो जाता है। (पृ० 100) यह विश्वास ही है, जिस पर सारी दुनिया के संबंध चलते हैं। (पृ० 100)

इस प्रकार हम पाते हैं कि हरिमोहन के उपन्यास ‘अकेले-अकेले साथ’ का कथा-विन्यास और शिल्प समकालीन हिंदी कथा-साहित्य के नवीनतम प्रतिमानों को लेकर चला है, जो जीवन के संघर्षों और उतार-चढ़ाव के साथ ही नारी-मन की तमाम पतों को धीरे-धीरे अनावृत्त करता है। इसका शिल्प प्रशंसनीय है।

संदर्भ

1. हरिमोहन, अकेले-अकेले साथ, समानांतर प्रकाशन, 7/7 दरियागंज, नई दिल्ली, 2000, पृ० 28-29
2. वही, पृ० 30,
3. वही, पृ० 96
4. वही, पृ० 33

5. अकेले-अकेले साथ, पृ० 15-16
6. वही, पृ० 16
7. वही, पृ० 55
8. वही, पृ० 54
9. वही, पृ० 25
10. वही, पृ० 69-70
11. वही, पृ० 90
12. देखें- रामप्रकाश द्विवेदी की समीक्षा, गगनांचल, वर्ष 23, अंक-2, अप्रैल-जून, 2000, पृ० 250
13. अकेले-अकेले साथ, पृ० 9
14. वही, पृ० 9
15. वही, पृ० 32-33
16. वही, पृ० 19
17. वही, पृ० 21
18. वही, पृ० 94-95
19. वही, पृ० 70

□ द्वारा दर्शनसिंह एंड संस, मकान नं. 2538,
बंगाली मोहल्ला
अंबाला कैट (हरियाणा)

‘वन्स मोर’— वीर अभिमन्यु!

डॉ० अशोक उपाध्याय

जय जगणनायक, गणपति, जय गजवदन गणेश।
जय गौरीपति, जगत्पति, मंगलकरन महेश।
जय जगदीश दयानिधे, विश्वंभर अखिलेश।
जय गुरुदेव कृपायतन, इष्टदेव हृदयेश।¹

यह पंक्तियाँ हैं, पंडित राधेश्याम कथावाचक द्वारा रचित प्रसिद्ध नाटक ‘वीर अभिमन्यु’ की। तत्कालीन संयुक्त प्रांत के शिक्षा-विभाग द्वारा वर्नाक्युलर तथा ऐंग्लोवर्नाक्युलर स्कूलों में इनाम देने एवं पुस्तकालयों में पढ़े जाने के लिए स्वीकृत बंबई के ‘न्यू अल्फ्रेड’ नाटक मंडली के सर्वप्रिय एवं लोकप्रसिद्ध इस नाटक की रचना पंडित जी ने संभवतः सन् 1911 ई० से 1914 ई० तक परिश्रम करके ‘न्यू अल्बर्ट’ के मालिक नानकचंद खत्री की प्रेरणा से की थी। इसके लिए उन्होंने श्री मैथिलीशरण गुप्त जी का ‘जयद्रथवध’ तथा मुरादाबाद के लाला शालग्रामजी का ‘वीर अभिमन्यु’ खूब गौर से पढ़े। इलाहाबाद के इंडियन प्रेस से द्विवेदी जी द्वारा अनूदित महाभारत और ‘चक्रव्यूह’ के कथानक को दृष्टि-बिंदु बनाकर पारसी रंगमंच की माँग के अनुसार ‘वीर अभिमन्यु’ की रचना की। इस समय तक विक्टोरिया ‘थियेट्रिकल कंपनी’, ‘न्यू अल्बर्ट’ इत्यादि पारसी नाटक मंडलियों के माध्यम से धार्मिक नाटकों का शुभारंभ हो चुका था। ‘न्यू अल्फ्रेड’ ने भी उनका अनुकरण प्रारंभ किया। धीरे-धीरे नानकचंद जी अस्वस्थ होते चल गए और रुग्णावस्था से परेशान होने के कारण उन्होंने इस नाटक को ‘न्यू अल्फ्रेड’ को सौंपने की सहर्ष अनुमति दे दी। पूर्वाभ्यास और प्रदर्शन से पूर्व नाटक को भली-प्रकार सभी दृष्टियों से जाँच-परख लेना पारसी रंगमंच की अनिवार्य परंपरा थी, जिसे पूरा करने में कभी-कभी एक वर्ष की अवधि भी कम पड़ती थी। यही कारण है कि उस युग की प्रस्तुति में जो समग्रता और पूर्णता परिलक्षित होती है, वैसी आज के अव्यावसायिक रंगमंच की प्रस्तुतियों में बहुत कम दिखाई देती है। ‘नाटक-रचना के उपरांत भूमिका-वितरण तथा संवाद-वाचन से लेकर संपूर्ण वाचिक, आंगिक तथा आहार्य अभिनय तक सभी कुछ पर पूर्वाभ्यास के मध्य अंतिम रूप से मालिक-निर्देशक की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक रहता था। तभी कलाकारों के संवादों पर तालियों की गड़गड़ाहट और गानों पर ‘वन्समोर’ की धूम मच जाया करती थी। सामाजिकों का यह संरक्षण ही तत्कालीन नाटक-मंडलियों की शक्ति रहा है।² काफ़ी मेहनत-मशक्कत के बाद ‘वीर अभिमन्यु’ नाटक खेलने का दिन मुहूर्त निकलवाकर चुना गया— 4 फरवरी 1916 ई० शनिवार। इसी दिन बनारस हिंदू विश्वविद्यालय का शिलान्यास हुआ था। नाटक के विज्ञापन हेतु पोस्टर इत्यादि लिखने का काम भी पंडित

जी को सौंपा गया था। नाटक खेलने का स्थान था दिल्ली का संगम थियेटर। पंडित जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि, 'अच्छा ही हुआ कि मैंने यह काम अपने हाथों में लिया अन्यथा कंपनी में तो यह हाल था कि पहले ही दिन दरवाजे के बोर्ड पर 'अभिमन्यु' की जगह 'अभिमन्याँ' लिखा था।— बोर्ड भी मैंने ही ठीक कराए। इन कामों में मुझे ढाई मास देहली रहना पड़ा, मेरी दो बड़ी-बड़ी कथाएँ मारी गईं— नुकसान हुआ हो— 'नाटक तो अच्छा खिला।' ³

दो फरवरी की रात को नाटक का 'ग्रांड रिहर्सल' हुआ। 'न्यू अल्फ्रेड' में कलाकारों की वेषभूषा तथा सीन-सीनरियों की साज-सज्जा के साथ नाटक का समग्र स्वरूप इसमें प्रस्तुत होता था। अशुद्धियाँ सामने बैठे नाटक-लेखक, निर्देशक इत्यादि लिखते जाते थे और अभिनय समाप्त होने पर उन्हें बताया जाता था। नाटक के प्रारंभ में ही पंडित जी ने सूत्रधार नट के माध्यम से इसकी पूर्व सूचना दी है, 'यह हिंदू नाटक है, इसमें हिंदीभाषा ही प्रधान है। पात्रों को समझा देना हाव-भाव में और उच्चारण में हिंदी और हिंदू-जाति की प्रतिष्ठा का ध्यान रहे।' ⁴ यह 'ग्रांड रिहर्सल' साढ़े नौ बजे रात को प्रारंभ हुआ और लगभग तीन बजे समाप्त हुआ। पंडित जी ने निर्णय लिया कि नाटक को काट-छाँटकर छोटा किया जाए। कंपनी के स्वामी माणिक जी जीवन जी मास्टर इसे देखकर निराशा में डूब गए। उन्होंने माना कि नाटक पूरी तरह फेल हो जाएगा और जो रुपया इसमें लगाया गया है, वह बेकार हो गया है। उनके द्वारा नाटक के 'डाइरेक्टर' सोराब जी से यह भी पूछा गया कि इतनी अधिक हिंदी शब्दावली से परिपूर्ण संवादों को क्या पब्लिक ठीक से समझ सकेगी। अगले दिन नाटक के काट-छाँट के संदर्भ में जब हिंदी की बात चली तो सोराब जी ने स्पष्ट किया कि हम अधिक हिंदी 'स्टेज' पर प्रस्तुत करके परीक्षण कर रहे हैं, जोकि हमारी समझ से अच्छा ही है, इसका प्रतिफल भगवान ही जानता है। चार फरवरी की रात को याद करते हुए पंडित जी ने लिखा है, 'ठीक पौने दस बजे 'ड्राप' उठा। प्रार्थना के बाद पहले ही गाने, 'भारत वीरों की याद में' आदि की क्रमशः तीन 'वंस मोरें' हुई। पहला 'ड्राप' गिरने के बाद मैं सीट पर से उठा और थियेटर के बाहर गया। लोग नाटक की तरीफ़ कर रहे थे, 'कोई श्रीकृष्ण की, कोई अर्जुन की, कोई उत्तरा की, सोराब जी (राजा बहादुर) की तो सभी के मुख पर प्रशंसा थी। दूसरा 'ड्राप' गिरने के बाद जब मैं बाहर गया तो जनता यही कह रही थी, 'ऐसा नाटक नहीं देखा।' ⁵

पाँच फरवरी को रविवार था। अन्य नाटक कंपनियों की तरह 'न्यू अल्फ्रेड' का यह नियम था कि रविवार को दिन में ही नाटक खेला जाए— तीसरे पहर से कुछ रात तक। वास्तविकता यह थी कि एक ही रात में नाटक की प्रसिद्धि इतनी ज्यादा हुई कि देहली के सभी 'रईस' उस दिन 'वीर अभिमन्यु' देखने को लालायित थे। अगले सप्ताह के 'रिजर्वेशन' भी उसी दिन प्रारंभ कर दिए गए। नाटक को छोटा करने का विचार भी किया गया। सभी सीनों की प्रशंसा और 'वंस मोर' यह समझने में बाधक थी कि नाटक का कौनसा अंश काट दिया जाए। कुछ गाने काटे गए और कुछ सीनों को काटकर छोटा करने के बाद यह नाटक चार घंटे में पूरा करने लायक बना, लेकिन 'वंस मोर' का 'टाइम' इसमें भी बढ़ा। कुछ लोगों ने इस नाटक को कई बार देखा। उनका कहना था कि कुछ सीनों के गाने और संवाद कम करके जो नाटक दिखाया गया, उसकी कसक जीवन-भर उनके हृदय में रहेगी। समूचा नाटक

अभिनीत होना ही ठीक था। भले ही नाटक 'सुबह का चाँदना' होने तक खेला जाता। धीरे-धीरे यह नाटक ऐसा लोकप्रिय हुआ कि दर्शक समूचे नाटक को ही कई बार देखने के लिए 'वन्स मोर वीर अभिमन्यु' के नारे लगाने लगे। बरेली और उसके आस-पास के शहरों और कस्बों में स्कूल-कालेजों के 'ब्लैक बोर्ड' तथा गलियों तक में 'वन्स मोर वीर अभिमन्यु' लिखा मिलता था। ज्ञातव्य है कि 'पारसी रंगमंच के नाटकों के मंचन में 'वन्स मोर' का विशेष स्थान था। जो भी संवाद, नृत्य या गीत प्रेक्षकों को अभिभूत करता था, उस पर गड़गड़ाहट से तालियाँ पीटी जाती थीं और 'वन्स मोर' की आवाज़ें गूँज उठती थीं। फिर अभिनेता के लिए यह अनिवार्य बन जाता था कि वह प्रेक्षकों की इच्छापूर्ति करे। पूर्वाभ्यास के समय ही निर्देशक को इसका अंदाज़ा लग जाता था कि किन-किन स्थानों पर 'वन्स मोर' की माँग होगी। अभिनेता भी 'वन्स मोर' लेने के लिए अभिनय-कला के प्रदर्शन में अपनी पूरी ताकत लगा देता था।'⁶ 'वीर अभिमन्यु' इस दृष्टि से पारसी रंगमंच के सफलतम नाटकों में से एक है। इसकी अपार सफलता ने हिंदी नाटक-लेखकों में नए प्रकार का उत्साह भर दिया और पंजाब, दिल्ली, मेरठ, प्रयाग और काशी के लेखकों ने पौराणिक नाटकों के क्षेत्र में पदार्पण करके हिंदीभाषा को समृद्ध बनाने का प्रयास किया। उस ज़माने के प्रसिद्ध पत्रों की समालोचनाएँ भी नाटक की प्रशंसा से भरी रहती थीं। 'भारत मित्र' में 'वीर अभिमन्यु' को हिंदू आदर्श को सामने उपस्थित करनेवाला नाटक बताया गया।⁷ 'आज' के अनुसार इसमें अपने पुरुषों के गौरव तथा कर्तव्यपरायणता का चित्र उचित रीति से खींचा गया है।⁸ 'सनातन धर्म पताका' ने स्पष्ट किया कि 'इसके पुरातन भाव और नई पद्य-रचना से हिंदी साहित्य के प्रेमियों को अवश्य ही यथेष्ट लाभ पहुँचेगा।'⁹ 'ब्रह्मचारी' के अनुसार इसमें रोचकता और रस-परिपोष का यह हाल है कि पढ़ते-पढ़ते छोड़ देना किसी विरले ही पुरुष-पुंगव का काम होगा।¹⁰ पहली बार 'वीर अभिमन्यु' लक्ष्मीनारायण प्रेस, मुरादाबाद से 2000 की संख्या में छपा। इसके बाद 5000 और फिर 3000 की संख्या में छपा नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से। कुल मिलाकर अब तक इसके सोलह-सत्रह संस्करण छप चुके हैं और अब इसके प्रकाशन का अधिकार श्री राधेश्याम पुस्तकालय बरेली के पास है। इस समय इसमें तीन अंक हैं। पहले अंक के प्रारंभ में 'मंगलाचरण' है, जिसे नाटक की प्रस्तावना कहा गया है। इसमें सात सीन हैं। पहले सीन का स्थान 'पांडव शिविर' है। दूसरे सीन में 'कौरव शिविर' है। तीसरे सीन में पुनः 'पांडव शिविर' है, जिसमें धर्मराज युधिष्ठिर भीम, सहदेव और अभिमन्यु इत्यादि के साथ वार्तालाप करते हैं। चौथा सीन 'युद्धस्थल का मार्ग' है। पाँचवें सीन में जनाने डरे और उद्यान हैं। छटा सीन 'कौमिक' का है। इसका स्थान राजा बहादुर का गृह है। सातवें सीन का स्थान 'चक्रव्यूह' है। इसमें सप्तमहारथियों द्वारा अभिमन्यु का वध किया जाता है। पंडित जी को इस सीन का अंतिम भाग बहुत पसंद आया। इसकी खूब 'वन्स मोर' हुई। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, 'वास्तव में मुझ पर भी 'चक्रव्यूह' सीन का बहुत ही प्रभाव पड़ा। ऐसा सीन तो मैंने भी किसी नाटक में नहीं देखा था। अभिमन्यु के निधन पर जब ऊपर से देवताओं ने विमान से कुछ नीचे उतरकर पुष्पवर्षा की है— जो जनता ने बार-बार 'द्राप' उठवाकर अपनी तृप्ति की और मैं आँखें मूँदकर थोड़ी देर के लिए खो सा गया।'¹¹ दूसरे अंक के पहले सीन में संसप्तकों पर विजय प्राप्त करके अर्जुन का आगमन है। दूसरे सीन का स्थान उत्तरा का शयन-मंदिर है।

इसमें उत्तरा स्वप्न में सप्तमहारथियों द्वारा अभिमन्यु का मारा जाना और विमान पर बैठकर उसका चंद्रलोक जाना देखकर चौंक जाती है। तीसरे सीन का स्थान पांडवों का शिविर है। इसमें अभिमन्यु वध के कारण पांडवगण शोक-सागर में निमग्न हैं। अर्जुन प्रतिज्ञा करते हैं कि वह कल के युद्ध में जयद्रथ का सिर काटकर अभिमन्यु की मृत्यु का प्रतिशोध लेंगे। चौथा सीन श्रीकृष्ण का आवास है। इसमें श्रीकृष्ण योगमाया को कल के युद्ध में सायंकाल से पूर्व माया का बादल आच्छादित करने का आदेश देते हैं, जिससे उनके प्रिय भक्त और सखा अर्जुन की प्रतिज्ञा पूर्ण हो। इसके उपरांत वह अर्जुन को लेकर गरुड़ पर सवार होकर कैलाश की ओर प्रस्थान करते हैं। पाँचवाँ सीन कैलाश पर्वत का है। इसमें भगवान शंकर अर्जुन को पाशुपत बाण प्रदान करते हुए आशीर्वाद देते हैं—

कहाँ है हार उस जन की सखा जिसका दयामय हो।
इसी से हम यह कहते हैं धनंजय तू भी निर्भय हो।
तेरी युक्ती, तेरी शक्ती, तेरी पदवी भी अतिशय हो
जनार्दन के सुजन अर्जुन तेरी इस युद्ध में जय हो।¹²

छठा सीन 'कॉमिक' का है। सातवाँ सीन श्मशान के समान रणस्थल है। इसके अंत में श्रीकृष्ण समाचार देते हैं कि उत्तरा के गर्भ का बालक चक्रवर्ती राजा बनेगा। तीसरे अंक के पहले सीन का स्थान है कौरव शिविर। इसमें जयद्रथ आनेवाले कल के युद्ध में अपनी मृत्यु से चिंतित है। दूसरा सीन रणस्थल में जाने के मार्ग पर खुलता है। तीसरे सीन में भीम धृतराष्ट्र के पुत्रों का संहार करता है। चौथा सीन 'कॉमिक' का है। पाँचवें सीन का स्थान श्मशान है। इसमें अर्जुन चितारोहण करने के स्थान पर जयद्रथ का वध करता है। सभी श्रीकृष्णचंद्र महाराज की जय बोलते हैं। उपसंहार के विशेष दृश्य में परीक्षित का राज्याभिषेक होता है। बीसवीं शताब्दी के पारसी रंगमंच के नाटकों की एक और विशेषता है— हास्यरस की सफल अवधारणा। 'उन्नीसवीं शताब्दी के पारसी नाटकों में स्थान-स्थान पर कुछ भद्दे और अश्लील हास्य-स्थल मिल जाया करते थे, परंतु हास्यात्मक दृश्यों की समुचित आयोजना पहले-पहल आगाहश्र कश्मीरी ने की। उन पर शेक्सपीयर का बहुत प्रभाव पड़ा। परंतु शेक्सपीयर के विपरीत आगाहश्र ने अपने नाटकों में दो स्वतंत्र कथानकों की आयोजना की, जिसमें एक तो गंभीर होता, दूसरा होस्योत्पादक जनता प्रायः गंभीर कथानक से अधिक हास्यमय कथानक को ही पसंद करती। धीरे-धीरे प्रत्येक नाटक में हास्यमय कथानक रखने का नियम ही चल पड़ा।'¹² 'वीर अभिमन्यु' में 'कॉमिक' (हास्यमय कथानक) काफी अच्छा है। इसके राजा बहादुर की जितनी तारीफ़ की जाए उतनी कम है। इनकी 'तरीफ़ तो यही है' कि पहले दिन से ही दर्शक 'वन्स मोर', 'वन्स मोर' कहकर इनकी फ़रमायश करने लगे थे। इनका परिचय इस प्रकार है—

बिजली जब कहीं चमकती है, तो हम कमरे में छिपते हैं।
बिल्ली जब म्याऊँ करती है, तब अपने प्राण निकलते हैं।
चूहे जब खटपट करते हैं, तो हम मुँह ढाँके रहते हैं।
चारों हम ऐसे नाजुक हैं, और लोग बहादुर कहते हैं।
तारीफ़ तो यही है।¹³

बंगलौर के प्रो० जंबूनाथन ने तो इस समूचे हास्य-कथानक को अलग से रंगमंच पर प्रस्तुत किया और 'बहादुर सुंदरी' के नाम से प्रकाशित भी कराया। उस जमाने की पारसी नाटक कंपनियों में शिक्षित पारसी और गुजराती व्यक्ति वैतनिक अभिनेता के रूप में काम करते थे। उनके द्वारा 'निश्चय ही इनका प्रारंभ कलात्मक अभिनय के उद्देश्य से किया गया होगा, किंतु बाद में यह उद्देश्य व्यावसायिक साधन बनकर धन कमाने के तरीके के रूप में प्रचलित हो गया। धन जनता या सामान्यदर्शक से ही प्राप्त हो सकता था, इसलिए जनरुचि को अधिक महत्त्व दिया गया। इसी क्रम में इन नाटकों में अश्लीलता, भद्दापन और आत्महीन अनुकृतियों का प्राधान्य हो गया और रंगमंच की सज्जा और तड़क-भड़क वाले पर्दे इसके साधन हो गए।' श्री राधेश्याम जी इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे। इसीलिए उन्होंने 'वीर अभिमन्यु' के मंगलाचरण में नारी के माध्यम से स्पष्टीकरण दिया है कि 'सच तो यह है कि अश्लील नाटकों ने नाटक के मुख्य तत्त्व को नष्ट कर दिया है, दर्शकों के विनोद-स्थान को भ्रष्ट कर दिया है। नाट्य विद्या आर्य-जाति की प्रचीन विद्या है। कभी समयानुसार मनुष्यों के आचरणों में कुछ दोष आता है, तो नाटक द्वारा भी कुछ अंशों में लोकसुधार आता है, क्योंकि जो प्रभाव व्याख्यान से नहीं पड़ता, गान से नहीं पड़ता, अभिनय द्वारा पड़ सकता है।'¹⁵ सिनेमा अथवा बाइस्कोप के प्रभाव से पारसी नाटकों में रोमांचकारी दृश्यों का अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में प्रचलन हुआ। जनता सामान्य पारसी और गुजराती अभिनेताओं में फिल्मी चमत्कार-प्रदर्शक अभिनेता-अभिनेत्रियों तथा रोमांचकारी करतब दिखाने वाले निर्देशकों को तलाशने लगी। 'मेरी पिकफोर्ड' का सौंदर्य 'डगलसफेयर वैक्स' के रोमांचक कारनामे और प्रणय-दृश्य तथा 'चाली चैपलिन' का हास्य उसे सबसे ज्यादा प्रभावकारी और आनंददायक प्रतीत होते थे। वास्तविकता यह थी कि 'नगर की जनता क्रमशः इन चमत्कारपूर्ण रोमांचकारी दृश्यों के पीछे पागल होने लगी थी और नाटकों में भी ऐसे दृश्यों की खोज करती थी। कंपनी के मालिक और नाटककार जनता की इस रुचि की अवहेलना न कर सके और धीरे-धीरे नाटकों में भी ऐसे दृश्यों की अवतारणा होने लगी।'¹⁶

'वीर अभिमन्यु' नाटक में ऐसे रोमांचक अथवा आश्चर्यचकित करने वाले दृश्य हैं—चक्रव्यूह, अभिमन्यु वध के अवसर पर देवताओं द्वारा की गई पुष्प-वर्षा, कैलाश पर्वत तक जाने के लिए श्रीकृष्ण और अर्जुन का गरुड़ पर आसीन होना, कैलाश पर पाशुपत का प्रकट होना, भगवान श्रीकृष्ण का उत्तरा को आशीर्वाद देने के साथ ही स्वर्ग में अभिमन्यु का दिखाई देना और कहना कि तुम दुनिया में जियो, अपने लिए नहीं तो उसके बच्चे के लिए जियो। श्रीकृष्ण की माया से सूर्य का अस्त होना और पुनः उदय होना। जयद्रथ-वध के साथ ही उसके कटे हुए शीश का तपस्या करते हुए पिता वृद्ध छत्र की गोद में पहुँचना और उसके शीश का भी टुकड़े होकर कटना इत्यादि। पंडित जी ने नाटक की चमक-दमक के विषय में स्पष्ट किया है कि 'न्यू अल्फ्रेड' का कायदा था कि प्रत्येक नए नाटक की पूरी सीनरी और पूरी ड्रेसें (जूते तक) नवीन बनें। 'ड्रेस मास्टर' (बड़ा दर्जी) बहुत होशियार था, बारहमासी नौकर था, लखनऊ का मोहम्मद अली। 'वीर अभिमन्यु' नाटक की ड्रेसें इसने इतनी शानदार और तड़क-भड़क वाली बनाई थीं कि लोगों की राय थी—आज तक ऐसी देखी ही नहीं।'¹⁷ पंडित जी ने नाटक के कथोपकथन काफ़ी परिश्रम करके तैयार किए थे। इस मामले में

कंपनी के 'डायरेक्टर' की राय 'फ़ाइनल' मानी जाती थी। यहाँ उनके निम्न कथोपकथन की चर्चा करना भी समीचीन प्रतीत होता है, जिसे उनके 'डायरेक्टर' सोराब जी ने सोलह-सत्रह बार लिखवाया और मुंशी सैय्यद मेहँदी हसन 'अहसन' तथा आगाहश्र कश्मीरी जी इत्यादि के परामर्श के उपरांत सत्ताइसवीं बार इस रूप में स्वीकार किया—

विपरीत समय का मीठापन, विष का सा भय दिखलाता है।
मीठे वचनों के कारण से तोता पिंजड़े में आता है।
जो ज्यादा मीठा होता है, वह अपना नाश कराता है।
मीठे गन्ने को देखो तो कोल्हू में पेला जाता है ¹⁸

श्री राधेश्याम जी मूलतः कथावाचक थे। उनका काम था धार्मिक कथाओं के माध्यम से जनता को धर्म और सदाचरण का उपदेश देना। अच्छे-बुरे का ज्ञान कराना और भारतीय रीति-नीति के संदर्भों को उजागर करना। 'वीर अभिमन्यु' के संवादों में उनका यह उपदेशकरूप खूब प्रकट हुआ है। श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हैं—

तुम सच्चे बनो कर्मयोगी, निष्काम करो कर्तव्य सदा।
निज ज्ञानानल में भस्म करो, होतव्य और भक्तिव्य सदा।
अपने-अपने कर्मानुसार, सब प्राणी सुख-दुख भरते हैं।
तुम नहीं किसी को मार रहे, नर स्वयं मृत्यु से मरते हैं। ¹⁹

इस नाटक का आदर्श अत्यंत शिक्षाप्रद और अनुकरणीय है। अन्याय और पाप का अंत करके न्याय तथा धर्म की स्थापना इसका उद्देश्य है। मनोरंजन के साथ-साथ देश और समाज का उपकार करना भी नाटककार का कर्तव्य है। इससे नवयुवकों को आत्मत्याग और बलिदान की प्रेरणा मिलेगी। पंडितजी ने लिखा है— 'यदि हमारे वीर-बलवान का गुणगान सुनकर श्रोताओं में वीररस झलक आए और यह रसिक समाज वीर समाज होकर अपनी भारत सरकार की ओर से भारत के शत्रुओं का मुँह तोड़ने के लिए 'वैटिल फ़ील्ड' में पहुँच जाए ...।' ²⁰ नाटक में एक अन्य स्थान पर उन्होंने स्पष्ट किया है—

कर्मवीर वही है, जो कर्म निष्काम करे।
युद्धवीर वही है, जो काल से डरे नहीं।
दानवीर वही है, जो देह का न लोभ करे।
वचनवीर वही है जो वाक्य से फिरे नहीं।
शूरवीर वही है, जो शीश का न मोह करे।
धर्मवीर वही, जो सुमार्ग से गिरे नहीं।
सत्यवीर वही जो मान-मर्यादा रखे।
प्राण जाए, जान जाए, आन से टरे नहीं। ²¹

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'वीर अभिमन्यु' पारसी रंगमंच के प्रसिद्ध हिंदी नाटकों में अत्यंत उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित है। इसमें करुण और वीररस के साथ-साथ हास्यरस का भी मजेदार रूप देखने को मिलता है। इसका गीत और संगीत का मिश्रण अत्यंत प्रशंसनीय है। हमेशा 'वन्स मोर' के लायक है। भाषा भी प्रायः साफ़-सुथरी और भावाभिव्यंजक है। तत्कालीन जनता की अभिरुचि को ध्यान में रखकर जिन नाटकों को खेला जा रहा था,

उनकी पूर्ण उपलब्धि और पराकाष्ठा 'वीर अभिमन्यु' में हुई। 'न्यू अल्फ्रेड' के 'डाइरेक्टर' और 'एक्टर' इत्यादि भी इसके लिए प्रशंसा के पात्र थे। 'भारतेंदु हरिश्चंद्र' जिस संस्कारहीनता के प्रति विद्रोह करने के लिए विवश हुए थे, उसने इन व्यावसायिक रंगमंचों को भी प्रभावित कर दिया था, एकदम से राष्ट्रीय और सांस्कृतिक आकांक्षा से प्रेरित होकर ऐश्वर्यनारायण सिंह द्वारा लिखित 'जानकी-मंगल' नाटक बनारस में भारतेंदु हरिश्चंद्र के प्रोत्साहन से खेला गया था। वह सन् 1914 ई० में राधेश्याम कथावाचक जैसे व्यक्ति को व्यावसायिक रंगमंच पर स्थान दिला सका।²² उस ज़माने में 'माधुरी' के संपादक प्रसिद्ध कथाकार मुंशी प्रेमचंद जी ने इसके वर्ष आठ, संख्या छह के अंक में लिखा कि 'इसके पहले इतने हिंदीत्व का कोई नाटक पारसी कंपनियों के स्टेज पर नहीं आया। इस नाटक का हास्यवाला भाग (कॉमिक) भी बड़ा शिक्षाप्रद और अश्लीलता से रहित था। यह उस ज़माने में पहली बार स्टेज पर आया, जिस ज़माने में कितने ही उर्दू के नाटककारों ने, ऐसे-ऐसे गंदे कॉमिक स्टेज पर पहुँचाए थे कि माताओं और बहनों को थियेटर में ले जाते हुए भी लज्जा आती थी। माता को स्त्री और स्त्री को माता कहलाना तो उन दिनों के कुछ उर्दू नाटककारों का मानो धर्म हो रहा था। ख़ैर, 'वीर अभिमन्यु' को पूर्ण सफलता मिली, महामना मालवीय जी तक ने इसे देखा और प्रशंसा की।'²³ सामान्य और विशेष, ग़रीब तथा रईस सभी प्रकार के दर्शकों ने इसे जीभर कर देखा और सराहना की, आदर-सम्मान दिया और बार-बार कहा, 'वन्स मोर वीर अभिमन्यु'।

संदर्भ

1. पंडित राधेश्याम कथावाचक, वीर अभिमन्यु, पृ० 7, श्री राधेश्याम पुस्तकालय बरेली, सोलहवाँ संस्करण।
2. डॉ० अज्ञात, संपादक, रंगभारती, पृ० 66 वर्ष सात, अंक सात, जनवरी 1980, महासचिव नक्षत्र अंतर्राष्ट्रीय, चौक, लखनऊ।
3. पंडित राधेश्याम कथावाचक, मेरा नाटक काल, पृ० 58, श्री राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, प्रथम संस्करण।
4. पंडित राधेश्याम कथावाचक, वीर अभिमन्यु, पृ० 10
5. पंडित राधेश्याम कथावाचक, मेरा नाटककाल, पृ० 63
6. डॉ० चंदूलाल दुबे, रंग भारती, पृ० 68, वर्ष सात, अंक सात, जनवरी 1980, महासचिव नक्षत्र अंतर्राष्ट्रीय, चौक, लखनऊ।
7. पंडित राधेश्याम कथावाचक, मेरा नाटककाल, पृ० 71 से उद्धृत
8. वही, पृ० 72, से उद्धृत,
9. वही, पृ० 72, से उद्धृत,
10. वही, पृ० 72, से उद्धृत,
11. वही, पृ० 63-64
12. डॉ० श्रीकृष्ण लाल, आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास, पृ० 212 हिंदी परिषद, विश्वविद्यालय, प्रयाग, 1942 ई०
13. पंडित राधेश्याम कथावाचक, वीर अभिमन्यु, पृ० 47

14. डॉ० सरला धीर, भारतेंदुयुगीन नाटक, पृष्ठ 187, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, प्रथम संस्करण
15. पंडित राधेश्याम कथावाचक, वीर अभिमन्यु, पृ० 8
16. डॉ० श्रीकृष्ण लाल, आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास, पृ० 210
17. पंडित राधेश्याम कथावाचक, मेरा नाटककाल, पृ० 155
18. पंडित राधेश्याम कथावाचक, वीर अभिमन्यु, पृ० 26
19. वही, पृ० 15
20. वही, पृ० 9
21. वही, पृ० 10
22. श्री लक्ष्मीकांत वर्मा, हिंदी रंगमंच, हिंदी साहित्य, तृतीय खंड, पृ० 1668, भारतीय हिंदी परिषद् प्रयाग, प्रथम संस्करण
23. मुंशी प्रेमचंद, हिंदी रंगमंच, मेरा नाटककाल, पृ० 146-147, पंडित राधेश्याम कथावाचक, श्री राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, प्रथम संस्करण से उद्धृत

□ 6/7 खन्ना बिल्डिंग्स
सुभाषनगर, बरेली (उ०प्र०)

हिंदी-साहित्य में रेखाचित्र का तत्त्व-निरूपण

राजेशकुमार यादव

शोध छात्र

वीर बहादुरसिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर (उ०प्र०)

रेखाचित्र हिंदी की एक सर्वथा नवीन विधा है, हिंदी में रेखाचित्र कम ही लिखे गए हैं। इसलिए अभी तक कुछ छुट-पुट प्रयासों के अतिरिक्त रेखाचित्र का शास्त्रीय विवेचन करने की ओर विद्वानों का अधिक ध्यान नहीं गया है। इसलिए हमें रेखाचित्र के प्रमुख तत्त्वों का ही स्वतः विवेचन करने के लिए अग्रसर होना पड़ेगा। ऐसा करने के लिए पहले हम हिंदी के दो प्रमुख रेखाचित्रकारों सुश्री महादेवी वर्मा तथा रामवृक्ष बेनीपुरी के रेखाचित्र-संबंधी दो वक्तव्यों को उद्धृत करना आवश्यक समझता हूँ।

महादेवी वर्मा ने 'अतीत के चलचित्र' नामक अपने संग्रह की 'अपनी बात' में लिखा है, 'इन स्मृति-चित्रों में मेरा जीवन भी आ गया है, यह स्वाभाविक भी था। अँधेरे की वस्तुओं को हम अपने प्रकाश की धुँधली या उजली परिधि में लाकर ही देख पाते हैं। उनके बाहर तो वे अत्यंत अंधकार के अंश हैं। मेरे जीवन की परिधि के भीतर खड़े होकर चरित्र जैसा परिचय दे पाते हैं, वह बाहर रूपांतरित हो जाएगा। फिर जिस परिचय के लिए कहानीकार अपने कल्पित पात्रों को वास्तविकता से सजाकर निकट लाता है, उसी परिचय के लिए मैं अपने पथ के साथियों को कल्पना का परिधान पहनाकर दूर की सृष्टि क्यों करती? परंतु मेरा निकटताजनित आत्म-विज्ञापन उस राख से अधिक महत्त्व नहीं रखता, जो आग को बहुत समय तक सजीव रखने के लिए ही अंगारों को घेरे रहती है। जो उसके पार नहीं देख सकता, वह इन चित्रों के हृदय तक नहीं पहुँचा सकता।'

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने अपने रेखाचित्र-संग्रह 'माटी की मूर्तें' की भूमिका में लिखा है, 'हजारीबाग की सेंट्रल जेल के एकांत जीवन में अचानक मेरे गाँव और मेरे ननिहाल के कुछ ऐसे लोगों की मूर्तें मेरी आँखों के सामने आकर नाचने और मेरी कलम से चित्रण की याचना करने लगे। उनकी इस याचना में कुछ ऐसा भाव था कि अंततः यह 'माटी की मूर्तें' तैयार होकर रही।'

उपर्युक्त दोनों वक्तव्यों से रेखाचित्र के दो प्रधान लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं। पहला यह है कि रेखाचित्र काल्पनिक न होकर पूरी तरह वास्तविक और यथार्थ होता है। दूसरा यह कि रेखाचित्र की याचना का मूल प्रेरक-बिंदु वर्णित व्यक्ति या वस्तु के प्रति लेखक का किसी-न-किसी प्रकार का घनिष्ठ रागात्मक संबंध, गहरा लगाव ही होता है। अतः रेखाचित्र के दो लक्षण निर्धारित होते हैं— 1. वास्तविकता, 2. वर्णित व्यक्ति या वस्तु के प्रति लेखक या घनिष्ठ रागात्मक संबंध।

हम किसी भी व्यक्ति का सफल रेखाचित्र तभी प्रस्तुत कर सकते हैं, जब हमने

वर्ण्य-विषय का अत्यंत अंतरंगता के साथ सूक्ष्म और गहरा अध्ययन कर रखा हो तथा उस व्यक्ति के संबंध में सुनी-सुनाई बातों के आधार पर उसका रेखाचित्र प्रस्तुत करना संभव न होगा। जब हम किसी व्यक्ति या वस्तु से घनिष्ठ रूप से परिचित हो जाते हैं, तब उससे हमारा रागात्मक संबंध जुड़ जाता है। वह व्यक्ति हमें किसी-न-किसी रूप में बहुत प्रभावित करता है और उसकी स्मृति हमारे मानस-पटल पर स्थाई रूप से अंकित हो जाती है, तो वह 'रेखाचित्र' कहलाने लगती है।

विभिन्न लेखकों द्वारा लिखे गए रेखाचित्रों को देखकर रेखाचित्र की एक और विशेषता का उद्घाटन होता है, इसमें मुक्तक के गीत की-सी एकलयता रहती है। विषयों का वैविध्य वहाँ अपेक्षित नहीं होता। लेखक केवल एक ही व्यक्ति को अपना एकांत लक्ष्य बना, उसी की विविध चारित्रिक रेखाओं का पूर्ण संवेदनशीलता के साथ चित्रण करता चला जाता है। घटनाओं और परिस्थितियों का वह उतना ही योग स्वीकार करता है, जिससे पात्र की चारित्रिक रेखाओं को उभारने में सहायता मिलती हो।

व्यक्ति-विशेष की चारित्रिक विशेषताओं का उभार :

जब हम ऐसे व्यक्तियों के संपर्क में आते हैं, जो अपनी चारित्रिक विशेषताओं की एक गहरी छाप हमारे मन पर छोड़ जाते हैं, तो कालांतर में हमारा भावुक कलाकार कभी-कभी उन व्यक्तियों की स्मृति आने पर उन्हें अभिव्यक्त करने को व्याकुल हो उठता है। तभी रेखाचित्रों का जन्म होता है। अतः व्यक्ति-विशेष की चारित्रिक विशेषताओं के उभार को रेखाचित्र की एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता समझना चाहिए। चारित्रिक विशेषताओं के उद्घाटन के अभाव में उस रचना को रेखाचित्र नहीं माना जा सकता। रेखाचित्र का मूल उद्देश्य ही व्यक्ति के चरित्र के विभिन्न कोणों को संवेदनात्मक रूप से हमारे सम्मुख करता रहता है, ऐसा होना तभी संभव है, जब हमने वर्णित व्यक्ति के व्यक्तित्व का गहरा अध्ययन किया हो, उसके चित्रण की एक-एक विशेषता को गहराई से देखा और अनुभव किया हो।

दो पद्धतियाँ :

चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन दो प्रकार से किया जाता है— 1. वर्णित व्यक्ति की रूपरेखा, वेशभूषा तथा चाल-ढाल द्वारा, तथा 2. विभिन्न परिस्थितियों में, भावावेगमय क्षेत्रों में, उसकी विभिन्न प्रकार की मुद्राओं, चेष्टाओं एवं अंगों की संचालन-विधियों द्वारा। जिस प्रकार कुशल अभिनेता अपने अभिनय से भाव-भंगिमा को प्रदर्शित करता है उसी प्रकार कुशल रेखाचित्रकार अपने रेखाचित्र के माध्यम से नायक की विशिष्ट भाव-भंगिमाओं का कलात्मक चित्रण कर व्यक्ति के संपूर्ण चरित्र को स्पष्ट कर देता है। ये विशिष्ट भाव-भंगिमा उसकी विशिष्ट चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन करने वाली होती है। रेखाचित्रकार का प्रधान कार्य यही है इससे इस तथ्य का उद्घाटन होता है कि साधारणतः जिन सामान्यजनों में हम उनकी उन चारित्रिक विशेषताओं का आभास नहीं पाते, जो विशिष्ट भावपूर्ण क्षणों में अभिव्यक्त हो उठती हैं, रेखाचित्रकार हमारे सम्मुख उन्हीं अज्ञात-सी साधारण से प्रतीत होने वाले महान मानवीय गुण अथवा अवगुणों को प्रकट कर देता है। महादेवी वर्मा का एक-एक पात्र हमारे इर कथन की संपुष्टि में प्रस्तुत किया जा सकता है।

रेखाचित्र लिखते समय लेखक का मन-मस्तिष्क वर्णित पात्र के प्रति विभिन्न प्रकार के संवेदनात्मक भावों से ओत-प्रोत रहता है। वह अपने इस अंकन द्वारा पाठकों के हृदय में भी उन्हीं भावों को जाग्रत करने के लिए कृतसंकल्प रहता है। अतः पाठकों में अपने ही अनुरूप

भावानुकूल संवेदना को जाग्रत करना रेखाचित्रकार का एक प्रमुख उद्देश्य माना जा सकता है।

रेखाचित्र की शैली :

जिस प्रकार सामान्य रेखाओं द्वारा बनाए गए एक छोटे-से चित्र में चित्रकार संबंधित वस्तु या व्यक्ति का पूर्ण चित्र और चरित्र प्रस्तुत कर देता है, उसी प्रकार रेखाचित्रकार उसके चरित्र की व्याख्या न कर, विभिन्न प्रकार के संवेदनात्मक वर्णनों द्वारा उसकी संपूर्ण चारित्रिक रेखाओं को, विशेषताओं को उभार देता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति में शैली का अत्यंत महत्त्वपूर्ण योग रहता है। लेखक वर्णित व्यक्ति के चरित्र के खंड-चित्रों को चित्रात्मक शैली में प्रस्तुत करता है। इस शैली में तीन प्रधान विशेषताएँ रहती हैं— 1. चित्रात्मकता, 2. भावात्मकता, 3. सांकेतिकता एवं संक्षिप्तता। ऐसी शैली स्वतः संक्षिप्त और पैनी बन जाती है।

अपनी इस संक्षिप्त शैली द्वारा रेखाचित्रकार अपने वास्तविक उद्देश्य को कलात्मक रूप से अभिव्यक्त करने में पूर्ण सफल होता और वह उद्देश्य है— वर्णित पात्र के प्रति पाठकों के हृदय में संवेदना और सहानुभूति जाग्रत करना।

संक्षेप में, हम रेखाचित्र के प्रमुख तत्त्वों को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

1. यथातथ्य वास्तविक चित्रण— जिसमें कल्पना का अधिक योग अपेक्षित नहीं होता।
2. एकात्मक रूप— जिसमें एक ही लक्ष्य के प्रति संपूर्ण दृष्टि केंद्रित रहती है तथा विषयों की विविधता नहीं आने पाती।
3. वर्णित पात्र की चारित्रिक विशेषताओं को उभारना।
4. अपने पात्रों के प्रति लेखक में भावानुकूल संवेदना की अनिवार्य स्थिति।
5. चित्रात्मक, भावात्मक, सांकेतिक एवं संक्षिप्त शैली।
6. पाठकों में वर्णित व्यक्ति या वस्तु के प्रति सहानुभूति संवेदना एवं सहानुभूति की जागृति करना—प्रधान उद्देश्य।

रेखाचित्र का शिल्प-विधान :

विभिन्न साहित्यिक विधानों के स्वरूप-विधान में पर्याप्त भिन्नता रहती है और इस भिन्नता का प्रधान कारण शैली और वाह्य रूप माना जाता है। विशिष्ट प्रकार की शैलियाँ रचनाओं में अंतर उत्पन्न को स्पष्ट कर देती हैं। प्रायः हम बात को भिन्न-भिन्न प्रकार से कहते हैं। यही कहना 'शैली' कहलाती है। हिंदी-रेखाचित्रकारों में भी हमें अपनी बात को भिन्न-भिन्न प्रकार से कहने की यही प्रवृत्ति मिलती है। श्री कृपाशंकर सिंह ने हिंदी-रेखाचित्रों को निम्नलिखित शैलियों के अंतर्गत वर्गीकृत किया है—

1. कथात्मक शैली, 2. निबंध शैली, 3. तरंग शैली, 4. वर्णनात्मक शैली, 5. संवाद शैली, 6. सूक्ति शैली, 7. डायरी शैली, 8. संबोधन शैली, 9. आत्मकथात्मक शैली।

यहाँ हम हिंदी-रेखाचित्रों की उपर्युक्त विभिन्न शैलियों पर संक्षिप्त प्रकाश डालते हुए उनके प्रमुख लेखकों का विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे यथा—

1. कथात्मक शैली :

रेखाचित्र में कथा होती अवश्य है, चाहे अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, परंतु उसमें घटनाओं के उतार-चढ़ाव के लिए अवकाश नहीं रहता। घटनाओं का सूक्ष्म सहारा लेकर रेखाचित्र आगे

बढ़ता है, भले ही उन घटनाओं का परस्पर कोई घनिष्ठ संबंध न रहा हो। हिंदी-रेखाचित्रकारों ने इसी कारण कथात्मक शैली का खूब प्रयोग किया है। महादेवी वर्मा ने तो प्रायः इसी शैली को अपनाया है। इस शैली में व्यंग्य, हास्य, मार्मिकता, संवेदनशीलता आदि गुण प्रधान और प्रचुर मात्रा में रहते हैं। महादेवी वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, बनारसीदास चतुर्वेदी, श्रीराम शर्मा आदि के रेखाचित्रों में इस शैली का खूब प्रयोग हुआ मिलता है। इस शैली का मूलतः एक ही उदाहरण इसकी विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त होगा— ‘वह (भक्तिन) ऐतिहासिक झूँसी में गाँव-प्रसिद्ध एक अहीर सूरमा की इकलौती बेटी ही नहीं, विडंबना की किंवदंती बन जानेवाली ममता की छाया में भी पली है। पाँच वर्ष की आयु में उसे हंडिया ग्राम के एक संपन्न गोपालक की सबसे छोटी पुत्रवधू बनाकर पिता ने शास्त्र से एक पग आगे रहने की ख्याति कमाई और नौ वर्षीय युवती का गौना देकर विमाता के बिना माँगे पराए धन को लौटानेवाले महाजन का पुण्य लूटा।’

2. निबंधात्मक शैली :

इस शैली के रेखाचित्रों में प्रायः इतिवृत्तात्मक तथा भावात्मक और आलंकारिक शैली के निबंधों की पद्धति अपनाई जाती है। इतिवृत्तात्मक शैली में दृश्यों, घटनाओं आदि का अंकन किया जाता है तथा भावात्मक रेखाचित्र आलंकारिक शैली को लेकर ही चलते हैं। एक उदाहरण दृष्टव्य है, ‘दूसरे इतवार को सब जैसे-के-तैसे ही सामने थे, केवल कुछ गंगाजी में मुँह इस तरह धो आए थे कि शेष मलिन शरीरी के साथ वे अलग से जोड़े हुए से लगते थे ...।’

3. तरंग शैली :

इस शैली में भावुकता का प्राधान्य रहने से गद्य-काव्य का सौंदर्य उत्पन्न हो जाता है। भाव संबद्ध या असंबद्ध रूप से एक-दूसरे के उपरांत निरंतर आते चले जाते हैं। देवेंद्र सत्यार्थी तथा रामवृक्ष बेनीपुरी के रेखाचित्रों में इस शैली के सुंदर रूप मिलते हैं।

4. वर्णनात्मक शैली :

इस शैली में किसी प्राकृतिक दृश्य, समाज और देश की स्थिति आदि का वर्णन किया जाता है। इस शैली के दर्शन प्रायः सभी रेखाचित्रों में मिल जाते हैं। यह बहुप्रचलित और सामान्य शैली है।

5. संवाद शैली :

इस शैली में पात्रों के मध्य वार्तालाप कराया जाता है, परंतु इस शैली में भावात्मकता का अपेक्षाकृत अभाव रहने के कारण हिंदी के रेखाचित्रकारों ने इसे बहुत कम अपनाया है। बेनीपुरी ने कहीं-कहीं इस शैली का अवश्य प्रयोग किया है। दरअसल, यह शैली रेखाचित्र के लिए उपयुक्त नहीं प्रतीत होती, क्योंकि संवादों का आश्रय वहीं अधिक लिया जाता है, जहाँ लेखक स्वयं अधिक कहने में असमर्थ रहता है। रेखाचित्र में लेखक के ऊपर ऐसा कोई बंधन नहीं रहता।

6. सूक्ति शैली :

इसमें लेखक विभिन्न विषयों के संदर्भ में सूक्तियाँ कहता चलता है, परंतु रेखाचित्र के लिए यह शैली नितांत अनुपयोगी है, क्योंकि इसे ग्रहण करने पर लेखक अपने मूल उद्देश्य-पात्र की चारित्रिक रेखाओं को उभारकर उसके प्रति पाठकों की संवेदना और सहानुभूति जाग्रत करने

से भटक जाता है। इसलिए लेखकों ने इस शैली को बहुत ही कम अपनाया है। केवल बेनीपुरी में कहीं-कहीं इसके दर्शन हो जाते हैं।

7. डायरी शैली :

इस शैली में डायरी के अनुसार छोटे-छोटे से रेखाचित्र प्रस्तुत किए जाते हैं, जिनमें असंबद्धता अधिक रहती है। इस शैली का प्रयोग हिंदी-रेखाचित्रकारों ने बहुत कम किया है। प्रकाशचंद्र गुप्त तथा बनारसीदास चतुर्वेदी के कुछ रेखाचित्रों में कहीं-कहीं इसकी झलक मिल जाती है।

8. संबोधन शैली :

इसमें किसी व्यक्ति या वस्तु को संबोधित कर लेखक अपने भावों को व्यक्त करता है। यह भी भावात्मक शैली का ही एक रूप है। प्रकाशचंद्र गुप्त और बेनीपुरी ने इस शैली का प्रायः प्रयोग किया है।

9. आत्मकथात्मक शैली :

इस शैली में वर्णित व्यक्ति व वस्तु प्रथम पुरुष में अपनी आत्मकथा कहते हैं। जैसे— प्रकाशचंद्र गुप्त का 'खंडहर' अपनी आत्मकथा कहता है— 'मैं पुराने साम्राज्य-प्रसाद का खंडहर इस बीहड़ में सदा निर्निमेष जीवन की गति देखता हूँ।'

संक्षेप में, रेखाचित्रकारों ने न्यूनाधिक रूप में उपर्युक्त शैलियों को ही अपनाया है, जिसमें से कथात्मक, निबंधात्मक एवं वर्णनात्मक शैलियों की ही प्रधानता रही है। शेष अन्य शैलियों का कम उपयोग किया गया है।

भाषा :

रेखाचित्रों में प्रयुक्त भाषा में वे सारी विशेषताएँ होनी चाहिए, जो कथा-साहित्य के लिए अनिवार्य हैं। भाषा के गुण, शब्द-शक्ति, अलंकार, मुहावरे, कहावतें, प्रसंगानुकूल भाषा के परिवर्तित होते हुए विविध रूप आदि भाषा की संपूर्ण विशेषताएँ रेखाचित्रकार के लिए भी उसी प्रकार अपेक्षित हैं, जिस प्रकार साहित्य की अन्य विधाओं के लेखकों के लिए। इसलिए रेखाचित्र की भाषा के संबंध में कोई निश्चित बंधन नहीं लगाए जा सकते। इसमें वर्णनात्मक, व्यंग्यात्मक, हास्यरस मिश्रित, भावावेशमयी आदि सभी प्रकार की शैलियों में प्रयुक्त भाषा के विभिन्न रूपों के दर्शन हो जाते हैं। परंतु एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। रेखाचित्र में लेखक की सहानुभूति की तीव्र व्यंजना रहती है, इसलिए उसकी भाषा में आसपास ही कविता का-सा सौंदर्य आ जाता है। विचार की अपेक्षा भावावेश अधिक रहने के कारण रेखाचित्र की भाषा में प्रायः संपन्न भाषा की बोझिलता, क्लिष्टता और दुरूहता नहीं आ पाती। कहीं हमें हास्य-व्यंग्यमयी सरस-सहज मनोरंजक भाषा का रूप मिलता है, कहीं गद्यकाव्य की भावावेगमयी काव्यमयी भाषा का, कहीं करुणा से ओत-प्रोत मन को विचलित कर देने वाली सहज द्रवणशील भाषा का तथा कहीं सहज वर्णनात्मक सरल, प्रवाहमयी और जन-साधारण की भाषा का।

सहज-सरल भाषा :

इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि रेखाचित्रों के अधिकांश पात्र हमारे समाज के साधारण जीवन में मिलने वाले ही होते हैं, जो अपने चरित्र की कतिपाय सहज विशिष्टताओं द्वारा

हमारे मन पर अपनी एक गहरी छाप छोड़ जाते हैं। प्रायः साधारण जनों का चित्र होने के कारण भाषा भी जनसाधारण की ही प्रयुक्त होती है। हम एक उदाहरण द्वारा इस बात को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। महादेवी वर्मा छायावाद की प्रमुख कवयित्री हैं। उन्होंने यत्र-तत्र काव्य-संबंधी अनेक निबंध भी लिखे हैं। उनकी कविता और निबंधों की भाषा ऐसी नहीं, जिसे साधारण पाठक भली प्रकार समझकर उसमें व्याप्त रसानंद की अनुभूति कर सके। इसका कारण यह है कि महादेवी वर्मा ने अपने काव्य में अपने हृदय की भावानुकूल रहस्यात्मक अनुभूतियों को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है, और निबंधों में काव्य की गहन समस्याओं का विवेचन। इस कारण उनका काव्य जनसाधारण के लिए दुर्बोध बन गया है तथा निबंध-साहित्य विचार-बोझिल होने के कारण सहज बोधगम्य और ससंवेद्य नहीं रहा है।

इसलिए जब हम उनके रेखाचित्रों को देखते हैं, तो सहज ही इस बात का विश्वास नहीं हो पाता कि ये महादेवी वर्मा की लेखनी से ही प्रस्तुत रचनाएँ हैं। इनमें सहज-सरल भाषा का वह प्यारा रूप मिलता है, जिसे जनसाधारण समझकर और उसमें व्याप्त अनुभूति का रसास्वादन कर आनंद में डूब जाता है। यद्यपि महादेवी का भावानुकूल कवि यहाँ भी अलक्षित नहीं रहने पाता, परंतु दलितजनों के प्रति महादेवी का करुणाभाव अपनी अभिव्यक्ति को दुर्बोध बनने से पूरी तरह बचा ले जाता है। इसका कारण यह है कि अपने रेखाचित्रों में महादेवी समाज के उन उपेक्षित, दीन-दलित पात्रों को अपने हृदय की संपूर्ण संवेदना, सहानुभूति और प्रेम देकर चलती हैं, जिनके चरित्र या जीवन में कहीं भी अस्पष्टता या दुरुहता नहीं रहती है। उन्हें सहज-जीवन का चित्रण करना होता है, इसलिए वे उसके लिए भाषा के सहज रूप को ही अपनाकर चलती हैं। फिर भी यह भाषा अपनी सहज कलात्मकता द्वारा मन को बाँध लेती है। हिंदी के रेखाचित्रकारों ने भाषा के इसी सहज रूप को अपनाया है। प्रसाद की 'पुरस्कार' कहानी की भाषा रेखाचित्रों के लिए उपयुक्त माध्यम नहीं बन सकती है। इसके लिए तो वही भाषा अपेक्षित होती है, जो हमें प्रसाद के 'कंकाल' एवं 'तितली' नामक उपन्यासों में मिलती है। अतः रेखाचित्रों की भाषा में निम्नलिखित गुण अपेक्षित हैं—चित्रात्मकता, सहजता, सरलता, सर्वसाधारण में प्रचलित देशी-विदेशी शब्दों, कहावतों, मुहावरों, स्थानीय भाषा के अपेक्षाकृत सरल शब्दों एवं वाक्यों का सहज बोधगम्य प्रयोग। समष्टि रूप से रेखाचित्रों की भाषा ऐसी होनी चाहिए, जिसे साधारण स्तर का पाठक भी समझ ले। शैली की दृष्टि से उपर्युक्त शब्द-चयन, छोटे-छोटे वाक्य, कहीं-कहीं स्वाभाविक संवाद, भावावेशमय सहज-सरल चित्रण आदि इसके लिए अनिवार्य शर्तें हैं। विचार-बोझिल या गद्यकाव्य की-सी अत्यधिक भावावेशमयी भाषा रेखाचित्र के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है।

हमें शैली तथा भाषा की उपर्युक्त संपूर्ण विशेषताएँ महादेवी वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, शिकार-साहित्य के प्रणेता श्रीराम शर्मा आदि के रेखाचित्रों में प्रभूत मात्रा में मिल जाती हैं।

चंदवरदायी के काव्य में विज्ञान-सम्मत दृष्टिकोण

डॉ० रामनारायण

प्रधानाचार्य म०द०इ०का०, गोविंदपुरी, मोदीनगर (उ०प्र०)

चंदवरदायी की प्रसिद्धि और अमरता का विधायक उनका 'पृथ्वीराज रासो' प्रामाणिकता प्रश्नों से आज भी आक्रांत है, किंतु इससे उसकी उत्कृष्टता पर संदेह का प्रश्नवाचक नहीं लग सकता। डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी उन्हें 'सर्वतोमुखी प्रतिभा संपन्न, पंडित प्रवर, योद्ध एवं हिंदी के आदि कवि'¹ मानते हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी भी प्रामाणिकता के 'निरर्थक विचार-मंथन'² से परे कृति के साहित्यिक रस-ग्रहण को वरीयता देते हैं। डॉ० द्विजराज यादव के अनुसार चंदवरदायी बहुज्ञ³ थे। स्वयं कवि चंद ने स्वयं को धर्म, राजनीति, नवरस, षट्भाषा, पुराण और कुरान का ज्ञाता घोषित किया था।⁴

चंदवरदायी केवल भाट कवि नहीं था, वह एक योद्धा, शूरवीर था, जो रणभूमि में लड़ना और लड़ाना जानता था। यही कारण है कि पृथ्वीराज रासो के युद्धवर्णन, व्यूहवर्णन अत्यंत सजीव बन पड़े हैं। युद्ध और व्यूह दोनों वैज्ञानिक पद्धति पर आधृत कलाएँ हैं। युद्ध वर्णनों में अनेक बार कबंधों के उठने, नाचने और युद्ध करने का⁵ उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि राहु के अमर कबंध की अपने शत्रु (सूर्य और चंद्र) के प्रति प्रतिक्रिया ने शनैः शनैः साहित्य में नर-कबंधो द्वारा युद्ध की परंपरा डालने की प्रेरणा दी थी। साहित्यिक वर्णनों में अतिशयोक्ति की अभिव्यंजना तो स्पष्ट है ही, परंतु यह भी समझ में आता है कि रण की विषम मारकाट के बीच में परम उत्साही उद्भट वीरों के लिए कटने पर उनके कबंध अपने जीवित प्रतिपक्षी अथवा अपने वार के सम्मुख आनेवाले अन्य शत्रु आदि पर, रक्त की क्षिप्रता और पूर्व जोश आदि के कारण कुछ समय तक प्रहार करते रहे होंगे। इसकी पुष्टि के लिए गौरैया पक्षी का उदाहरण हमारे सामने है। गौरैया का सिर काट देने के उपरांत देखा गया है कि उसका धड़ काफी दूर तक उड़ता फिरता रहता है और तत्पश्चात शनैः शनैः शांत होता है। निश्चय ही चंदवरदायी के युद्ध-वर्णन वैज्ञानिक नियमों की कसौटी पर खरे उतरते हैं। कबंध-युद्ध को मात्र कवि-कल्पना या अतिशयोक्ति कह देना कदापि संगत नहीं है। ये वर्णन पूर्णतः जीव-वैज्ञानिक नियमानुकूल हैं।

चंदवरदायी के युद्ध-वर्णन को कवि-कल्पना मात्र न मानने का एक सबल कारण यह भी है कि यह किसी दरबारी कवि का जीविकोपार्जनार्थ सृजित वह काव्य नहीं है, जो विलास-वासनोपभोग हेतु आश्रयदाता को प्रसन्न करने-भर के लिए किया गया हो। निस्संदेह चंदवरदायी दरबारी कवि थे, उनका आश्रयदाता राजा था, परंतु चंद और पृथ्वीराज परममित्र भी थे। रासो के अंतः साक्ष्य के अनुसार ये दोनों मित्र एक ही दिन पैदा हुए थे⁶ और एक

ही दिन मरेंगे।⁷ पृथ्वीराज चौहान और मुहम्मद गौरी के अंतिम युद्ध में चौहान के बंदी बना लिए जाने के समाचार से अतीव खिन्न चंदवरदायी, वीरभद्र से कहते हैं कि, 'हम दोनों साथ जन्मे, एक ही स्थान पर रहे और सदैव साथ रहे। हम दोनों स्नेह के बंधन में तो बँधे ही थे, परंतु राजा की मुझसे हार्दिक प्रीति थी।⁸ महाराज पृथ्वीराज के साथ चंदवरदायी प्रायः ही युद्ध में जाते थे। उस समय वीरतापूर्ण अल्प जीवन⁹ को भीरुता पूर्ण दीर्घायु से श्रेष्ठतर माना जाता था— 'बरस अठारह छत्री जीवै, आगे जीवन को धिक्कार'। चंदवरदायी द्वारिका से लौटता हुआ पट्टनपुर पहुँचा ही था कि उसे पृथ्वीराज का पत्र मिला कि 'गज्जनेश' आ गया है। पत्र पढ़ते ही चंद कूच कर कूच बोला हुआ दिल्ली जा पहुँचा।¹⁰ कन्नौज युद्ध में बिना पृथ्वीराज की आज्ञा के ही चंद ने रणांगम में अपना अश्व कुछा दिया¹¹ और यवन सेना को तितर-बितर कर घमासान मचाकर उसे खदेड़ दिया और अपने शरीर पर एक घाव भी नहीं लगा।¹² मुहम्मद गौरी के साथ हुए अंतिम युद्ध में पृथ्वीराज को बंदी बनाकर गजनी ले जाए जाने पर चंदवरदायी नृपकार्य हेतु गजनी को प्रस्थान कर देता है। वहाँ रंगभूमि में पृथ्वीराज के शब्द-भेदी-बाण-विद्या के प्रदर्शन के समय चंद अपने वाक् चातुर्य से पृथ्वीराज को गौरी के मचान का प्रमाण (ऊँचाई) बताकर सुल्तान का अवसान करवा देता है और तत्काल ही अपनी जटाओं से छुरी निकालकर अपना शीश काट डालता है और छुरी पृथ्वीराज को दे देता है जिससे वे भी तत्क्षण अपना प्राणांत कर लें।¹³

युद्ध वर्णन के साथ व्यूहवर्णन में भी कविचंद ने यथार्थ की रक्षा की है। व्यूह-रचना कोई साधारण कार्य नहीं है। इस प्रक्रिया में वैज्ञानिक आधार सहज देखा जा सकता है। युद्धक्षेत्र में कुशल रण-संचालन के लिए 'व्यूह-रचना' की आवश्यकता निर्विवाद है। युद्ध-काव्यों में व्यूह-रचना का वर्णन विश्वसनीयता उत्पन्न करता है। महाभारत में अनेक व्यूह-रचनाओं का उल्लेख मिलता है। अभिमन्यु-वध के संदर्भ में चक्रव्यूह¹⁴ का नाम सभी जानते हैं। चक्रव्यूह के अतिरिक्त महाभारत में सूची और क्रोँचारूणव्यूह¹⁵, गरूण और अर्द्धचंद्राकार व्यूह¹⁶, मकर व्यूह¹⁷, श्येनव्यूह¹⁸, मंडल और वज्रव्यूह¹⁹, भंगात्मक व्यूह²⁰ तथा सर्वतोभद्र व्यूह²¹ इत्यादि व्यूहों का वर्णन भी प्राप्त होता है। निम्न उदाहरण में चक्रव्यूह और कुंडलव्यूह का समवेत संप्रयोग दर्शाया गया है :

इस निसिर् विर कढियसमर, काल फंद अरि कढिद।
 होत प्रभात चित्रनां प्रहु, चक्राव्यूह रचि अढिद।
 समर सिंह रावर, नारेंद्र कुंडल अरि धेरिया।²²

यहाँ शत्रु को मृत्यु के फंदों में डाले हुए उस समय क्षेत्र में वीरों की रात्रि व्यतीत हुई। प्रातःकाल होते ही चित्रक प्रभु चक्रव्यूहाकार में अपनी सेना सजाएँ सुसज्जित खड़े थे। नरेंद्र रावल सिंह ने शत्रु को कुंडलाकार व्यूह में घेर रखा था।

वस्तुतः युद्ध-कार्य की पूर्ण सफलता के लिए आवश्यक व्यूह रचना की योजनाओं में, मोर्चाबंदी आदि में राजा एवं सेनापति की कल्पनाओं, जिज्ञासाओं और प्रायोगिक परीक्षण आदि वैज्ञानिक प्रक्रियाओं का पूर्णतया समावेश हो जाता है।

चंदवरदायी ने अनेक स्थलों पर तंत्र-मंत्र-विज्ञान का भी खुलकर प्रयोग किया है। वे सिद्ध पुरुष थे। 'वरदायी' उनकी उपाधि थी, सिद्धि थी। उन्होंने अपने सिद्धिबल से अनेक

चमत्कार पूर्ण वर्णन किए हैं, ऐसा उल्लेख उन्होंने स्वयं रासो में कई स्थानों पर किया है। वास्तव में मंत्र में शक्ति निहित होती है। इस शक्ति की वैज्ञानिकता को विद्वानों ने स्वीकार किया है। डॉ० राजेंद्रकुमार पल्हन का मत है कि मंत्रोपचार सुषुम्ना के सिरे पर स्थित प्रसुप्त ऊर्जा को प्रदीप्त करता है। स्पंदनों के दौरान वह ऊपर चढ़ता है और अंत में मस्तिष्क में पहुँचकर चारों ओर प्रकाश फैलाता है।

चंदवरदायी ने श्रृंगार-प्रसाधनों का पर्याप्त वर्णन अपने काव्य में किया है। यहाँ उनके सौंदर्य-विज्ञान के साथ ही रसायन-विज्ञान की जानकारी का भी बोध होता है। इसी प्रकार वृक्षों, सब्जियों और फलों की विस्तृत सूचियों से उनके वनस्पति ज्ञान का परिचय प्राप्त होता है। सामुद्रिक शास्त्र और ज्योतिष विज्ञान का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था, यह रासों में एतद्विषयक प्रसंगों में सहज द्रष्टव्य है। ज्योनारों के वर्णन में विविध व्यंजनों के उल्लेख में जहाँ उनके पाक-विज्ञान का परिचय मिलता है, वहीं उनका आयुर्वेद-विज्ञान विषयक ज्ञान भी रासों में यत्र-तत्र सहज परिलक्षित होता है। एक स्थल पर वे लिखते हैं कि विषाक्त भोजन की सूचना हेतु राजा को निम्न पक्षियों को अपने भोजन-कक्ष या पाकशाला के पास रखना चाहिए :

कुर्कर नकुल करौंच कपि, हिरन हंस सुक मोर।
असन करत त्रप कषि ढिग, सूचक जहर चकोर।²³

चंदवरदायी का यह उपदेश आयुर्वेद ग्रंथ 'वाग्भट'²⁴ से प्रभावित प्रतीत होता है।

चंदवरदायी के वस्तु-वर्णन में जहाँ उनके भौतिक, रसायन और जीवविज्ञान संबंधी ज्ञान का संप्रयोग दृष्टिगत होता है, वहीं उनके भाव-वर्णन में उन्होंने मनोविज्ञान संबंधी अपनी अच्छी जानकारी का भी परिचय दिया है। कविचंद द्वारा महल की स्त्रियों का वर्णन सुनकर महाराजा जयचंद आश्चर्यचकित हो चंदवरदायी से पूछते हैं कि इन असूर्यपशुओं का वर्णन तुमने कैसे कर दिया? इस पर चंदवरदायी ने जो उत्तर दिया, वह उनकी प्रत्युत्पन्नमति के साथ ही मनोविज्ञान-सम्मत भी है। चंद कहते हैं कि कुछ नेत्रों के इशारों को देखकर, कुछ शब्दों को सुनकर और कुछ लक्षणों पर विचार करके मैंने उनके विषय में जान लिया था।²⁵ वास्तव में चंद कवि को अनेक बातों की जानकारी अपनी कर्नाटकी कणिका जो दूत-कार्य में चतुर, ठग विद्या में प्रवीण और गुप्त रहस्यों की ज्ञात थी, से प्राप्त होती थी। उस युग में गणिकाएँ केवल भोग-विलास की सामग्री मात्र न थीं वरन् युद्ध में भेदिए जैसे दुस्तर कार्यों में भी उनकी नियुक्ति की जाती थी।²⁶

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि चंदवरदायी ने विज्ञान की अनेक शाखाओं से संबद्ध ज्ञान का काव्यात्मक प्रयोग पृथ्वीराजरासों में किया है। वस्तुपरक वर्णनों और विवरणों में भी कवि की विज्ञान-सम्मत दृष्टि उन्मेषित होती दिखाई पड़ती है।

संदर्भ

1. विपिन बिहारी त्रिवेदी, चंदवरदायी और उनका काव्य, भूमिका, पृ० 11
2. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० 59
3. डॉ० द्विजराज यादव, पृथ्वीराज रासो : साहित्यिक मूल्यांकन, पृ० 131
4. पृथ्वीराज रासो, छंद 83, सं० 1

5. छ० 1483, समय 61, छ० 2253, 2254, 227, समय 61, छ० 2286-91, समय 61
6. छ० 557, स० 67
7. छ० 92, स० 1
8. विपिन बिहारी त्रिवेदी, चंदवरदायी और उनका काव्य, पृ० 13
9. छ० 1899, स० 61
10. छ० 85, स० 42
11. छ० 1874, स० 61
12. छ० 1897, स० 61
13. छ० 554, स० 67
14. महाभारत, द्रोणपर्व, अ० 33
15. वही, भीष्म पर्व, अ० 50-51
16. वहीं अ० 56
17. वहीं अ० 68
18. वहीं अ० 69
19. वहीं अ० 82
20. वहीं अ० 88
21. वहीं अ० 100
22. पृथ्वीराज रासो छ० 70, सं० 36
23. वही, छ० 2008, स० 66
24. वाग्भर, अध्याय 7, श्लोक 14-17
25. छ० 689, स० 67
26. डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी, चंदवरदायी और उनका काव्य, पृ० 29-30

गिरिजाकुमार माथुर की कविता में वैज्ञानिक तत्त्व

डॉ० रामनारायण

प्रधानाचार्य म०द०इ०का०, गोविंदपुरी, मोदीनर (उ०प्र०)

गिरिजाकुमार माथुर उन विकासशील कवियों में से हैं, जिन्होंने किसी वाद-विशेष की परिधि में सीमित होकर काव्य-रचना नहीं की है अपितु आधुनिक हिंदी-कविता की विभिन्न धाराओं की अतिवादी प्रकृतियों से अपने आपको अछूता रख, उनके बीच परस्पर समन्वय स्थापित किया है। उन्होंने न तो छायावाद तथा वैयक्तिक काव्यधारा की भाँति केवल व्यक्ति को महत्त्व दिया है और न प्रगतिवाद की भाँति केवल समाज को, अपितु युगीन परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति तथा समाज दोनों का समान महत्त्व अंगीकार कर दो अतिवादों में संतुलन स्थापित किया है। यही कारण है कि उनके काव्य में छायावाद का रंगीन रोमांस, बच्चन और वैयक्तिक कवियों का निश्छल सहज उच्छ्वास, प्रगतिवादी सामाजिक यथार्थ की सत्य व मानवतावादी दृष्टि और नई कविता का नया युगबोध, भावबोध एवं नवीन वैज्ञानिक चेतना एक साथ विद्यमान है।¹

नई कविता के क्षेत्र में माथुर जी की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है— नवीन वैज्ञानिक चेतना का सूत्रपात। वैज्ञानिक उपकरणों को काव्य-सामग्री के रूप में प्रस्तुत करके कवि ने अछूते क्षेत्र का उद्घाटन किया है। इसके साथ ही विज्ञान की बौद्धिकता व काव्य की भावनात्मकता में ऐक्य स्थापित किया है। वैज्ञानिक प्रगति के परिप्रेक्ष्य में मानव-विकास की संभावनाओं के प्रति आस्था व्यक्त की गई है। विज्ञान के नए उपकरणों को भी माथुर जी ने काव्य-सामग्री के रूप में प्रयुक्त किया है, क्योंकि वे वैज्ञानिक सभ्यता के विकास को मानव की शक्ति एवं साहस का प्रतीक मानते हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों को वे प्रकृति पर मानव की विजय का प्रतीक मानते हैं।

माथुर जी द्वारा प्रणीत नाट्यकाव्य 'कल्पांतर' आधुनिक युग की ऐतिहासिक चुनौतियों को अभिव्यक्ति देनेवाला पहला विज्ञान काव्य है। इसकी प्रेरणा कोई पुरा-कथा या प्रचीन चरित प्रातीक न होकर विज्ञान की प्रचुर एवं परीक्षित ज्ञान-भूमि पर अवस्थित है। निस्सीम अंतरिक्ष में फैले समस्त ग्रह-नक्षत्रों के बीच पृथ्वी के विराट् अस्तित्व और जीवन-अद्वितीयता से काव्य आरंभ होता है। मानवीय जीवन के जन्म और विकास की गाथा, आदमी की आधुनिकतम सभ्यता, समाज-व्यवस्था ... सर्वग्राही युद्ध, पर्यावरण व प्रदूषण और आणविक संहार की आसन्न भयावहता के संदर्भ में शांति की परम अनिवार्यता को काव्य के एक क्षिप्र-सूत्र में पिरोकर 'कल्पांतर' में प्रस्तुत किया गया है।²

भारत में विज्ञान का सबसे पहला आकर्षण उसके यांत्रिक उपकरण थे। जैसे—
 ड्राइंग रूम आधुनिक / बेस सोफे,
 कालीन-दीवार / चटाई रोड्स,
 फिशवाल / एक्वोसिपस की रोशनी,
 मैगजीन-पुस्तकें / कैस्टार्ड,
 एबस्ट्रैक्ट आर्ट / धातु के अनहोने पक्षी।³

‘खत’ आधुनिक युग में विचार-विनिमय का सबसे सस्ता व लोकप्रिय साधन है, घरेलू संवाददाता है। हर घर में निजी सुख-दुख की कहानी लिए आता है। मगर मन चाहता है / वह जब भी आए / हँसी लाए / खुशी लाए⁴। कवि ने इसके साथ अन्य आधुनिक संचार- माध्यमों का वर्णन भी किया है—

मैं समाचार, संचार
 सूचना के सब अधुनातन साधन
 चलचित्र, रेडियो, पत्र, प्रदर्शन, टेलीविजन
 पुस्तक, पोस्ट, ध्वनांकन
 सबको प्रचार में नाथ रहा।⁵

आधुनिक युग में कंप्यूटरचालित यंत्र-मानव (डिक्टाफोन) देश की सीमाओं पर फ़ौजी इंतजाम करते हैं—

फ़ौजी इंतजाम करते / कंप्यूटर चालित डिक्टाफोन,
 सावधान / दृष्टि जमाओ / दृष्टि जमाओ,
 राडार पट-ऑन / उपग्रह ऐंटीना-ऑन,
 परमाणु धूम के राकेट-ऑन! / तीस अंश /
 अक्षांस एक सौ आठ ... रिमोट कंट्रोल सेक्टर /
 कोट ...।⁶

विज्ञान ने जो यांत्रिक उपकरण दिए, उनसे हमारी सामर्थ्य में विलक्षणता (ऐफिशिएंसी) आई। उन यंत्रों ने मनुष्य की कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की पहुँच (एप्रोच) में वृद्धि की, हमारी एंड्रिय और आंगिक क्षमताओं का विस्तार किया। मानव की प्रकृति-विजय का सूत्रपात हुआ—

युग में दीखने लगा गैस का उजियाला,
 चल पड़े भाव से नई मशीनों के पहिए ...
 मानव की प्रकृति विजय का पहला सूत्रपात
 लोहे की विजय वनस्पति पर
 ईश्वर पर पहली विजय चिरंतन मिट्टी की।⁷

परंतु प्रकृति पर विजयी होते हुए भी मनुष्य को संतोष कहाँ। उसे तो अभी और अधिक अत्याधुनिक यंत्रों की आवश्यकता है—

अभी तुम्हारे नए चमत्कारी रूपों की बहुत जरूरत
 नित्य नए हथियार बनाने
 नए यंत्र पुरजे, भविष्य के तंत्र रचाने ...।⁸

विश्व की कुछ शीर्षस्थ स्वार्थी एवं आतंकवादी शक्तियों ने विज्ञान एवं वैज्ञानिक अन्वेषणों को भी अपनी मुट्ठी में बंद रखने का इरादा बनाया हुआ है। ये राष्ट्र, निर्धन लोगों पर, सीधी-साधी जनता पर, अपने वैज्ञानिक परीक्षण करने के आदेश भी पारित कर रहे हैं—

स्वर्ण देश के वैज्ञानिक
जितने भी खोजें नया रसायन अस्त्र-शस्त्र
विनाश की विधियाँ / नई अनजानी औषधियाँ
उनका प्रयोग इन निर्धन लोगों पर करवाओ
उन्हें परीक्षण का चूहा, खरगोश बनाओ—
जाओ घेरो इन इंसानी कीड़ों को
दुख फैलाओ / खेत, वनस्पति सभी जलाओ।⁹

कवि का विश्वास है कि इसे रोकने का एक ही उपाय है कि संसार के करोड़ों लोग शांति के पक्ष में संगठित होकर आवाज हर जगह उठाते चलें और इतना ज़बरदस्त जनमत बने, जिससे संहार की यह दौड़ और मृत्यु की उपासना हमेशा के लिए समाप्त हो जाए। जाग्रत जनता ही युद्धों तथा सामूहिक हत्या का तांडव रोक सकेगी।

निशस्त्रीकरण के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी अब विभिन्न राष्ट्रों के मध्य मतैक्य हो रहा है। कवि, घातक हथियारों को पूर्ण रूप से समाप्त करने के लिए जनता-जनार्दन का आह्वान करता है—

हैं स्वर्ण देश या लौह देश के पास
जहाँ भी जितने भी अणु, उदजन बम
रॉकेट, बममारक मिसाइलें
सागर, भूतल में जो छिपे हुए
मँडराते मृत्यु-किरण उपग्रह
उनके छूटने से पहले ही
आकाश, भूमि, सागर, पहाड़ के अड्डों पर
सब भस्म करो / सभी को नष्ट करो।¹⁰

कवि का मत है कि विज्ञान के सभी आविष्कारों, अन्वेषण विधियों तथा क्रांतिकारी विचारों का सदुपयोग जन-मंगल के लिए ही किया जाना चाहिए। कवि चेतावनी भी देता है कि यदि प्राकृतिक नियमों का पालन नहीं होगा, प्रदूषण की समस्या यथावत् बनी रहेगी तथा रेडियो रश्मियों का अतिशय प्रयोग होता तो इस पृथ्वी से जीवन-क्रम ही मिट जाएगा—

तुम आँखें मूँदे रहे प्राकृतिक नियमों से
दे चुका ज्ञान-विज्ञान तुम्हें चेतावनियाँ
हो रही रसायन-वृष्टि कुछ
है गर्म वायुमंडल होता
पृथ्वी का वातावरण आवरण
विषमय होता जाता है,
हैं बदल रही ऋतुएँ सारी

जल, धूल, धातु, पाषाण, द्रव्य
सागर, हिम, मेघ, वनस्पतियाँ, सब जीवकोश,
भू-अंबर तक
रेडियो रश्मियों से सक्रिय होते जाते
मिट जाएगा जीवन का क्रम इस धरती से।¹¹

मानव के दृढ़ संकल्प तथा कठोर श्रम द्वारा धरती को सुखमय बनाया जा सकता है।
कवि नवयुग-निर्माण का संदेश देता है—

फिर से धरती को सुफल लोक बनाओ।
फ़सलों को पकी गंध बनकर तुम छाओ।
निर्माण बीच युग के पतझर से लेकर,
तुम नवयुग का रंगोत्सव नया रचाओ।¹²

संदर्भ

1. विजयकुमारी, गिरिजाकुमार माथुर, नई कविता के परिप्रेक्ष्य में, पृ० 199
2. गिरिजाकुमार माथुर, कल्पांतर, फ्लैप नोट, पृ० 1
3. गिरिजाकुमार माथुर, जो बँध नहीं सका, पृ० 29
4. वही, शिल्पपंख चमकीले, पृ० 28
5. वही, कल्पांतर, पृ० 58
6. वही, कल्पांतर, पृ० 45
7. वही, धूप के धान, पृ० 20
8. वही, कल्पांतर, पृ० 55
9. वही, कल्पांतर, पृ० 73
10. वही, पृ० 109
11. वही, पृ० 62
12. वही, धूप के धान, पृ० 89

कालिदास की शकुंतला एवं तुलसी की सीता का सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मूल्यांकन

डॉ० श्यामधर तिवारी

प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग,
हे०न०ब० गढ़वाल विश्वविद्यालय परिसर, पौड़ी गढ़वाल (उत्तराखण्ड)

यदि कालिदास संस्कृत-साहित्य के रससिद्ध कवि हैं, तो तुलसीदास हिंदी साहित्य के। ये दोनों ही कवि प्रसादगुण-संपन्न, भावसौंदर्य की स्वाभाविक अभिव्यंजना करने में सिद्धहस्त हैं। दोनों ने पात्रों की मनोहारी वृत्तियों, सौंदर्यात्मक प्रवृत्तियों एवं उनके रूप गुण-धर्मों की मनोविश्लेषणात्मक व्याख्या की है, साथ ही युग-संस्कृति के अनुरूप उनके शील-स्वभाव एवं उनकी मर्यादा का भी चित्रण किया है। कालिदास की उपमाएँ विश्व साहित्य की अमूल्य निधि हैं। यदि उन्होंने अपने वर्णन-कौशल की क्षमता एवं भाव-प्रवण-व्यंजना शक्ति के माध्यम से युग-संदर्भ की संस्कृति को रूपायित कर दिया है, तो तुलसीदास ने भी अपनी अपूर्व भावाभिव्यंजक व्यंजना-शक्ति द्वारा युगीन संस्कृति को प्रतिबिम्बित किया है। लोकहृदय की पहचान, मनोभावों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं सूक्ष्म-पर्यवेक्षण-शक्ति के कारण दोनों ही कवि अपने युग में ही नहीं, वर्तमान समय में भी समादृत हैं। दोनों ही कवियों ने मर्यादित अवस्था में भारतीय संस्कृति की नैतिक और सांस्कृतिक अवधारणाओं का विवेचन किया है।

कालिदास के कवि की शकुंतला और तुलसी के कवि की सीता का सांस्कृतिक परिवेश एक जैसा होते हुए भी कतिपय संदर्भों में वैभिन्न्य को लिए हुए है, जिसके कारण कहीं-कहीं भाव-दशा में विरोध देखने को मिलता है। थोड़ी गंभीरता एवं सूक्ष्मता से परीक्षण करें, तो यह विरोध, युग-परिवेश के बदलते सांस्कृतिक मूल्यों एवं उनकी मान्यताओं का प्रतिफलन ही कहा जाएगा।

‘अभिज्ञानशाकुंतलम्’ की शकुंतला, नैसर्गिक वातावरण में वन्यजीवन व्यतीत करने वाली सुकुमार कन्या है, जिसके माँ-बाप (मेनका-विश्वामित्र) उसे छोड़ चुके हैं, जिसका पालन-पोषण शकुनों (शकुओं के तले पालित होने के कारण शकुंतला नाम पड़ा) के बीच हुआ है और जिसके संरक्षण का दायित्व, सामाजिक परिवेश से अलग-थलग निवास करनेवाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी, तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करने वाले, निष्काम कर्म के तपोधनी, ऋषि कण्व के कंधों पर है। ऐसी शकुंतला स्वतंत्र विचारवाली, सौम्य-साध्वी, अब्याज मनोहर वपु वाली है। वह आश्रम की कुल-रीतियों, मान्यताओं, आचार-विचार, रहन-सहन एवं बोल-चाल के सांस्कृतिक पर्यावरण में निवास करती है। वन के पेड़-पौधे ही जिसके भाई हों, माधवीलता ही जिसकी बहिन

हो, मृगशावक ही जिसके पुत्र हों, कण्व ही जिसके माता-पिता एवं गुरु हों, ऐसे वन्य-परिवेश एवं आश्रम के वातावरण में शकुंतला के मनोभावों, क्रिया-व्यापारों और उसकी जीवन-चर्या का निर्माण हुआ है।

यदि ध्यान से विचार किया जाए, तो स्पष्टतः पता चलता है कि सीता का जन्म भी अज्ञातकुल में हुआ है, जिसके पालन एवं भरण-पोषण का दायित्व, मिथिला नरेश जनक के कंधों पर है। जनक का जीवन निश्चय ही, आश्रम का जीवन व्यतीत करने वाले कण्व से भिन्न है, किंतु क्रिया-व्यापार एवं दायित्व-बोध की दृष्टि से जनक की दिनचर्या कण्व से कम नहीं है। जनक योगी और भोगी दोनों हैं। उन जैसा कर्मयोगी संसार में बिरला ही कोई होगा।

जिस प्रकार आश्रम की कुल-रीति के अनुरूप प्रत्येक आश्रमवासी की रक्षा के दायित्व के कारण कण्व अनाथ शकुंतला के जीवन-पालन के प्रति सतर्क रहे, उसी प्रकार राजसी वैभव-संपन्न जनक, राज-धर्म के प्रति निष्ठावान होकर सीता के जीवन-संस्कार के प्रति सजग रहे। यहाँ, यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिये कि राजसी परिस्थितियों में पत्नी सीता का मानसिक क्रिया-व्यापार एवं घटना-व्यापार, राजकुलोचित मर्यादाओं से अनुप्राणित है तथा नैसर्गिक वातावरण में पत्नी शकुंतला के मनोभाव, अज्ञात रूप से पग-पग पर आश्रम की मर्यादाओं से संचालित एवं अनुप्राणित हैं।

घटना-व्यापार की दृष्टि से कण्वाश्रम में एक दिन शकुंतला अपनी सखियों के साथ स्वाभाविक इच्छा से अनुप्रेरित होकर इतस्ततः भ्रमण कर रही है। ऐसे समय में रथ-चक्रों को गुंजरित करता हुआ, आखेटक, हस्तिनापुर का राजा दुष्यंत आश्रम-क्षेत्र में विनीत भाव से प्रवेश करता है। संयोगवश दुष्यंत एवं शकुंतला की आँखें चार हो जाती हैं। प्रथम दर्शन में ही दोनों के हृदय में प्रेम अंकुरित हो जाता है, किंतु दोनों ही इस तुल्यानुराग से अपरिचित हैं। दोनों ही मर्यादित सीमाओं में विचार-शंकुल हैं। दोनों के हृदय में पुनर्दर्शन एवं मिलन की व्यथा आंदोलित हो रही है। वियोगावस्था में दुष्यंत के साथी विदूषक और सारथी हैं और शकुंतला के साथी, उसकी सहेलियाँ प्रियंवदा और अनुसूया हैं, जो उसकी प्रणय-विरहानुभूति से परिचित हैं।

शकुंतला की सखियाँ 'मदनलेखा' के माध्यम से अपनी सखी के विरह-संताप को दूर करने का प्रयास करती हैं। बेचारी शकुंतला अज्ञातयौवना है, जो पीर को सहन करती हुई, वह सब कुछ मर्यादित अवस्था में करती है, जो कुछ उपाय उसकी सखियाँ उसे करने को कहती हैं। प्रतिबंधित मर्यादा के कारण शकुंतला पैर में दर्भ गड़ने के बहाने, शाखाओं में न उलझे हुए वल्कल वस्त्र को सुलझाने के बहाने, दुष्यंत के मनोहारी रूप को देखने का प्रयास करती है—

दर्भाकुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।

आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्।¹

किंतु बहाना करती हुई शकुंतला इस बात के प्रति भी सतर्क है कि कहीं उसकी सहेलियाँ, उसकी इस प्रणय-लीला को ताड़ न जायँ। निश्चय ही, यह उदात्त कोटि की मर्यादा है। सामान्यजन भी इस प्रणय-संस्कार के कारण भावों को सहज ही छिपाने का प्रयास करता है।

उधर प्रणय-शर-आहत, बेचारा दुष्यंत भी पौरववंशीय क्षत्रिय है। वह भी अपनी राजोचित एवं क्षत्रियोचित गरिमा से मंडित है। वह आश्रम के संस्कारों से परिचित है— 'विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यामि तपोवनानि'। इन सबके बावजूद उसकी अपनी कुल-मर्यादा आड़े आ रही है। ऐसे

धर्म-संकट के समय में दुष्यंत क्या करे? किसके कहे? सारथी से कहे या नहीं, उसका एकमात्र विश्वासपात्र विदूषक है, तो फिर उसी से कहे। दुष्यंत कहता तो है, किंतु वह भयभीत हो जाता है कि कहीं विदूषक भवन में जाकर कह न दे, जिससे रानियों में कोहराम मच जाए। तो क्या वह अपनी प्रणयलीला के लिए झूठ बोल दे- (Every thing is fair in love and war) बस उसने विदूषक से कहा-‘परिहास विजल्पितं सखे, परमार्थेन न गृह्यतां वचः।’ परिहास समझकर, विदूषक भी हस्तिनापुर चला जाता है।

आश्रम के शांत वातावरण में प्रविष्ट होने पर, चलायमान मन वाले दुष्यंत की दाहिनी भुजा फड़क उठती है। वह आश्चर्य करता है कि शांत आश्रम में भुजा फड़कने का फल कहाँ? -‘शांतमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य।’²

किंतु भवितव्यता का द्वार सदा खुला रहता है। जहाँ चाह है, वहाँ राह है। दुष्यंत अपने प्रेम के लिए रास्ता निकाल लेता है। वह अपने को निर्मल एवं निष्कलुष हृदयवाला मानता है। उसने अपनी अंतरात्मा की आवाज़ पर निर्णय लिया-

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमंतः करण प्रवृत्तज्ञयः।³

निःसंदेह, दुष्यंत सज्जन है, तभी तो उसने अपने अंतःकरण की प्रवृत्तियों की निश्छलता एवं निष्कलुषता पर विश्वास किया।

अब, कुछ तुलसी के सीता-राम की ओर दृष्टिपात करें। राम, विश्वामित्र के साथ निकले हुए हैं- राक्षस विध्वंस के लिए। लक्ष्य की परिसमाप्ति पर विश्वामित्र राम को ले जाते हैं- राजा जनक के यहाँ, जहाँ पर ‘शिव-धनुष-भंग’ की प्रतिज्ञा सुनाई गई है। विश्वामित्र की आज्ञा पाकर-‘लेन प्रसून चले देऊ भाई’- जनक की पुष्पवाटिका में प्रवेश करते हैं। ऐसे ही समय में सीता अपनी सखियों के साथ गौरी-पूजन हेतु आई है। इस अवसर पर राम-सीता का परस्पर दृष्टि-निक्षेप होता है। दोनों ही एक-दूसरे के प्रेम-तीर से विद्ध होते हैं। राम की स्थिति है-

देखि सीय सोभा सुखु पावा।

हृदय सराहत बचनु न आवा।⁴

और सीता की भी यही स्थिति है-

अधिक सनेह देह भै भोरी, सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी।

लोचन मग रामहिं उर आनी, दीन्हें पलक कपाट सयानी।⁵

इतना होने पर भी दोनों सांस्कृतिक गौरव एवं मनोवैज्ञानिक प्रेम-गोपन की मौन-व्यथा को सहन कर रहे हैं।

प्रथम दर्शन-मात्र से सीता प्रेम-व्यथा से पीड़ित है। वह दुविधा में है कि सखियों की उपस्थिति में वह क्या करे? क्या वह राम को देखे? हृदय-दर्शन के लिए चौकड़ी भरने लगा, किंतु मस्तिष्क ने वर्जित किया-‘नहीं’ ऐसा करने पर उसकी सखियाँ उसके प्रेम-भाव को जान जाएँगी, ऐसी विषम स्थिति में वह क्या करे? प्रबुद्ध तुलसी ने सीता की इस मनोदशा को भाँपकर सखियों द्वारा कहलवाया-

बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू।

भूप किसोर देखि किन लेहू।⁶

क्या ही मर्यादा रही सीता की? क्या ही शील-संकोच रहा सीता का, विचारणीय है कि

आखिर सीता आँख उठाकर राम को देख ही लेती तो क्या अनुचित हो जाता? हाँ, अवश्य अनुचित हो जाता। सीता, कोई आज के सांस्कृतिक परिवेश में पली हुई वाचाल नारी नहीं है, जो भरी सभा में अपने प्रेमी को देखती। वह तो अपनी तत्कालीन सांस्कृतिक मान्यताओं से संचालित है। यहाँ एक बात जरूर है कि सीता की मनोकामना अतृप्त है, जो वह अब भी राम के रूप को देखना चाहती है। शकुंतला के 'दर्भ-गड़ने' और 'वलकल वस्त्र' के उलझने का बहाना सीता के पास भी है। वह भी—

देखन मिस मृग बिहग तरू, फिरइ बहोरि-बहोरि।

निरखि-निरखि रघुवीर छवि, बाढ़इ प्रीति न थोरि।⁷

सीता-गौरी-पूजन हेतु चली जाती है, किंतु 'चली राखि उर स्यामल मूरति।

उधर राम की तत्कालीन स्थिति कुछ कम शोचनीय एवं मर्यादित नहीं है। एक ओर सीता को देखने की ललक, दूसरी ओर छोटा भाई लक्ष्मण, जो उनकी प्रत्येक गतिविधि का साक्षी है। ऐसे समय में क्या करें राम ?

छिपाने से भी लक्ष्मण उनके इस मौन-स्नेह-संभाषण से अपरिचित नहीं रह सकता? साफ-साफ बताना ही ठीक होगा। खूब सोच-विचार कर राम ने लक्ष्मण से कहा—

तात जनकतनया यह सोई, धनुष जग्य जेहि कारन होई।

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा, सहज पुनीत मोर मनु छोभा।।

सो सबु कारन जान विधाता, फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता।

रघुर्वसिन्ह कर सहज सुभाऊ, मन कुपंथ पगु धारइ न काऊ।।⁸

यहाँ ध्यातव्य है कि राम ने भी उसी मार्ग का अनुसरण किया, जिस मार्ग का अनुसरण दुष्यंत ने किया था। यदि दुष्यंत ने अपने—'अंतःकरण की पवित्रता' पर विश्वास किया था, तो राम ने अपने 'सहज पुनीत मन' पर। दुष्यंत ने सज्जनों पर 'संताहि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमंतः करणः प्रवृत्तयः' पर बात छोड़ी थी, तो राम ने अपने वंश-गौरव 'रघुर्वसिन्ह कर सहज सुभाऊ' पर बात छोड़ी। यह भी लक्ष्य करने की बात है कि दुष्यंत 'स्फुरति च बाहुः' हुए थे, तो राम भी 'फरकहिं सुभद अंग' वाले हुए। यहाँ एक बात और भी द्रष्टव्य है कि जहाँ राम की मर्यादा की रक्षा ऋषि विश्वामित्र के आशीर्वाद—'सुफल मनोरथ होहिं तिहारे' से हुई है और सीता की मर्यादा की रक्षा, 'गौरी' के आशीर्वचन—'मन जाहि राच्यो मिलहिं सो वर' से हुई है, वहीं पर दुष्यंत और शकुंतला की प्रणय-मर्यादा की रक्षा ऋषि कण्व की वैवाहिक स्वीकृति से हुई है।

उपर्युक्त घटना-क्रम की तुलना से स्पष्ट है कि दुष्यंत-शकुंतला तथा राम-सीता की मनःस्थिति और उनके संवेद्यभाव-बोध में पर्याप्त साम्य है, किंतु कुछ अन्य सांस्कृतिक वैशिष्ट्य हैं, जिनके कारण उनमें परस्पर भिन्नत्व का बोध होता है। आगे 'घटना-व्यापार एवं कथा-संगठन पर विस्तार से विचार करने पर यह वैशिष्ट्य और भी स्पष्ट हो जाएगा।

वैवाहिक संस्कार की दृष्टि से देखा जाए, तो सीता-राम और शकुंतला-दुष्यंत, दोनों के ही गांधर्व विवाह हुए हैं, किंतु भिन्नत्व को लिए हुए। शकुंतला के विवाह में कोई प्रतिज्ञा की शर्त नहीं है। केवल मन के मीत मिलने पर शकुंतला एवं दुष्यंत का विवाह हुआ। प्रेम पर टिका हुआ यह विवाह कण्व की स्वीकृति की अपेक्षा रखता है। शकुंतला के गर्भ-स्थिरण के परिज्ञान होने पर कण्व का मन हाहाकार कर उठा। क्या हो गया उनकी अनुपस्थिति में? कण्व कैसे किसी को

मुँह दिखाएगा? ऐसा अनैतिक-अमर्यादित कार्य कैसे हो गया? चतुर नाटककार कालिदास ने कण्व को उबार लिया। कण्व ने तप-बल से विचार किया—

दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता।

अर्थात् सौभाग्य से धूम्र से व्याकुल दृष्टि होने पर भी यजमान की आहुति अग्नि में ही पड़ी। तात्पर्य यह है कि काम के वशीभूत होने पर भी शकुंतला ने योग्य वर को ही प्राप्त किया। इस बात से कण्व निश्चित हो गए।

उधर सीता-स्वयंवर में सीता की शालीनता, शिष्टता एवं मर्यादा उस समय और भी अनुबंधित हो जाती है, जब राम 'शिव-धनुष' तोड़ने के लिए रंगमंच पर पहुँचते हैं। सीता जयमाला लेकर रंगभूमि में आई है। उसे सभी भूपाल देखते हैं, किंतु 'सीय चकित चित रामहिं चाहा'— भला गुरुजनों के बीच में सीता, राम को कैसे देखें? वह संकोच कर रही है। वह सखियों को देखती है। किंतु उसका मन राम की छवि-स्मृति में लीन है—

गुरुजन लाज समाजु बड़, देखि सीय सकुचानि।

लागि बिलोकन सखिन्ह तन रघुवीरहिं उर आनि।¹⁰

'धनुष-भंग' की कठोर प्रतिज्ञा और 'राम' को लेकर सीता का मन सर्शकित है। कहाँ कठोर शिव-धनुष और कहाँ सुकोमल राम? क्या राम धनुष तोड़ पाएगा? इस चिंता से सीता तिल-तिल घुट रही है, भीतर-ही-भीतर रुदन कर रही है। यदि धनुष न टूटा, तो सीता क्या करेगी? पितृ-प्रतिज्ञा भी कम दारुण नहीं है। वह व्याकुल होकर अपने संपूर्ण पुण्य-कर्मों एवं अपनी देव-पूजा को भी दाँव पर लगा देती है। वह अपनी बहुत दिनों की पूजा का फल राम और अपने विवाह के रूप में पाना चाहती है। उसकी मानसिक स्थिति संशयग्रस्त है—

प्रभुहिं चितइ पुनि चितव महि, राजत लोचन लोल।

ऐसे चिंतित समय में सीता का पल-पल, एक-एक युग-सदृश गुज़र रहा है। सीता की इस मानसिक व्यथा को कौन समझे? उसकी इस मूक हलचल को कौन देखे? मर्यादा भी, क्या अद्भुत बंधन है। जो भी हो, जैसा भी हो, राम इस मूक व्यथा के असंख्य दहाड़ की अनदेखी नहीं कर सकते। सीता का प्राणांत हो जाएगा, तो राम के लिए हाथ मलने के अलावा कोई चारा नहीं रहेगा— 'समय चुके पुनि का पछितानी'। देर करना, सामयिक फल को क्षत करना है। ऐसी स्थिति में गुरु के समीप जाकर प्रणाम करने में कहीं विलंब न हो जाय, इसलिए राम ने तत्क्षण—'गुरुहिं प्रनाम मनहिं मन कीन्हा' और 'शिव-धनुष' को भंग कर दिया।

सीता की लोकमर्यादा की रक्षा हो गई। उसका वरण किया हुआ मानसिक वर मिल गया। विवाह-प्रतिज्ञा-शर्त पूरी हो गई। यह गांधर्व विवाह की कठिन प्रतिज्ञा है। गांधर्व होने पर भी 'स्वयंवर' की आज्ञादी सीता को नहीं है, जिस आज्ञादी की प्रक्रिया से शकुंतला ने दुष्यंत को प्राप्त किया था।

वैवाहिक स्वीकृति के पश्चात् शकुंतला एवं सीता दोनों को ही उनकी ससुराल भेजा जा रहा है। चूँकि शकुंतला के सर्वस्व-माता-पिता-संरक्षक कण्व हैं, इसलिए नारी-धर्म, कुल-मर्यादा एवं गार्हस्थ्य-जीवन का गुरु-मंत्र देने का दायित्व उन्हीं का है। शकुंतला के लिए कहा गया कण्व का उपदेश किस नारी के लिए जीवन-नौका एवं उसकी मर्यादा के लिए कार्य नहीं करेगा—

शुश्रुषस्व गुरुन्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजेन,

भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मास्म प्रतीपंगमः।¹¹

सीता की विदाई के समय व्याकुल रानियाँ भी सीता को नारी-धर्म की शिक्षा देती हैं—
सासु-ससुर गुरु सेवा करहू, पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू।¹²

विदाई की दुःखानुभूति सीता-शकुंतला दोनों के लिए एक-जैसी है। सहज अनुरागी सुक-सारिका, मृग-शावक भी व्यथित हो जाते हैं। शकुंतला के गमन के विवाद से सहज विरागी वनवासी कण्व का गला रुँध जाता है, और जनक की विषादमयी स्थिति भी कम हृदय-विदारक नहीं है—

सीय विलोकि धीरता भागी, रहे कहावत परम विरागी।¹³

अपने पीहर के वियोग को ससुराल के अनुराग की ओर उन्मुख करके दोनों ही पति-गृह पहुँचती हैं।

राजभवन में शकुंतला, स्मृतिभ्रंश दुष्यंत के द्वारा न पहचाने जाने पर अत्यंत क्षुब्ध मन से लौटती है। रास्ते में एक नारी-(मेनका) ज्योति अवतरित होकर उसे मारीच आश्रम में पहुँचा देती है। वह वहाँ पर 'सर्वदमन' (भरत) जैसे पुत्र को जन्म देती है। मारीच आश्रम में बालक का लालन-पालन होने लगता है।

दशरथ-भवन में भी राम-राज्याभिषेक के अवसर पर 'राम-वन-गमन' के आदेश पर सीता राम के साथ वन में जाने के लिए तैयार है। उसकी दृष्टि में—

जिय बिनु देह नदी बिनु बारी, तैसहि नाथ पुरुष बिनु नारी।¹⁴

उसके नारीजन्य संस्कार, विवके-संपन्न होकर जाग्रत हो जाते हैं—

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू, तुमहिं उचित तप मो कहूँ भोगू।¹⁵

निश्चय ही सीता, नार्योचित मर्यादा को अपनाए हुए है। वन-गमन करते समय एक स्थान पर गाँव की भोली-भाली ग्राम वधूटियाँ उससे प्रश्न करती हैं— 'साँवरो सो सखि, रावरो को है ?' ऐसे समय में सीता की मानसिक स्थिति एवं सांस्कृतिक शील-संकोच एवं मर्यादा प्रशंसनीय है। वह वधूटियों की सरल-सुंदर एवं निश्छल वाणी को सुनकर मन में मुस्कराती है। उसके पति के विषय में इन भोली-भाली ग्राम-वधुओं ने कैसी चातुरी से पूछा है— यह साँवला, तुम्हारा कौन है? सीता कैसे बताये अपने पति के विषय में, किंतु बताना तो है ही उसे। बात कहाँ से शुरू करे वह, इसमें उसे संकोच हो रहा है। वह कभी नारियों को देखती है, तो कभी पृथ्वी को—

तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी, दुहूँ संकोच सकुचति बर बरनी।

सकुचि सप्रेम बालमृगनयनी, बोली मधुर बचन पिकबयनी।

सहज सुभाय सुभग तन गोरे, नाम लखन लघु देवर मोरे।¹⁶

किंतु सीता का यह उत्तर 'साँवरे सो सखि, रावरे को हैं?' का उत्तर नहीं है। यह तो गोरे, देवर लक्ष्मण के लिए कहा गया है। चतुर कवि तुलसी ने बड़ी सांकेतिक कलात्मकता के साथ सीता से 'साँवरे को है' का उत्तर दिलवाया—

बहुरि बदन विधु अंचल ढाँकी, पिय तन चितइ भौंह कर बाँकी।

खंजन मंजु तिरीछे नयननि, निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि।

कितनी मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता है इस सांकेतिक उत्तर में, कितना कुछ नहीं कह दिया सीता ने, 'तिरीछे नयननि' के इशारे से अपने पति राम के विषय में ।

‘वन-गमन-प्रसंग’ में शनैः-शनैः सीता, राम और लक्ष्मण चित्रकूट पहुँचते हैं। ननिहाल से लौटे हुए भरत पिता-मरण सुनकर शोकाकुल हैं। राम-वन-गमन सुनकर और भी हाहाकार कर उठते हैं तथा समस्त अयोध्यावासियों के साथ राम से मिलने के लिए चित्रकूट पहुँचते हैं। सीता वन की पीड़ा को भूल जाती है और अपने समस्त गुरुजनों और सासुओं को विनम्रतापूर्वक प्रणाम करती है। इस अवसर पर जनक और मयना भी आए हैं। अपनी पुत्री सीता के पातिव्रत धर्म और उसकी शालीनता-शिष्टता को देखकर जनक धन्य हो जाते हैं और कहते हैं—

पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ, सुजसु धवल जगु कह सब कोऊ।

पिता की स्नेहसिक्त वाणी सुनकर—‘सीय सकुच महुँ मनहुँ समानी।’

निश्चय ही, सीता अपनी प्रशंसा सुनकर संकोच की अनुभूति करती है। वन में अपने माता-पिता को पाकर सीता प्रसन्न है, किंतु वह इस बात से भी अनभिज्ञ नहीं है कि राम वन में हैं, घर में नहीं। वह, कहीं यह न सोचें कि सीता अपने माता-पिता को पाकर, भला, अब मेरा ध्यान क्यों रखे? अब उसे लौट जाना चाहिए—‘इहाँ बसब रजनी भल नाहीं’

किंतु इस बात को वह अपने माँ-बाप से कैसे कहे? ‘कहति न सीय सकुचि मन मांही’। पिता जनक सीता की दुविधाजन्य स्थिति को भाँप जाते हैं और वे उसके शील की सराहना करते हुए उसे विदा कर देते हैं।

सीता का यह सांस्कृतिक शील-संकोच और उसकी नारी-मर्यादा वहीं पर समाप्त नहीं होती। वह रावण द्वारा पंचवटी से हरण किए जाने पर, धैर्य धारण करती हुई उसे बुरा-भला कहती है, किंतु उसके स्वाभिमान, उसकी पति-भक्ति एवं पर पुरुष-तिरस्कारिणी शक्ति को देखकर, रावण जैसा दुष्ट व्यक्ति भी सीता के प्रति—‘मन महुँ चरन बंदि सुख माना’। इस प्रकार इस अवसर पर सीता ने एक आम स्त्री की ही भाँति अपने दोषों को भी स्वीकार किया है। रावण के वश में पड़ी वह अशोक वाटिका में है, किंतु उसका ध्यान एवं उसकी स्मृति राम की छवि में लीन है—

जेहि विधि कपट कुरंग संग धाइ चले श्रीराम,

सो छवि सीता राखि उर रटत रहति हरिनाम।¹⁹

इस स्थल पर सीता के दो भावों के निदर्शन होते हैं— एक तो संस्कारजन्य नारी-भावना का विशुद्ध रूप और दूसरा एक विमुक्त प्रेमिका का मनोवैज्ञानिक सत्य, जो अपने प्रेमी के हाव-भाव में सदैव लीन रहती है। सीता का मन अशोक वाटिका में हनुमान से राम-गुण-गायन सुनकर संशयग्रस्त है। सीता अविश्वासी नहीं है, किंतु विश्वास करने का कोई कारण भी तो उसे दिखाई नहीं दे रहा है। कहाँ राम मनुष्य हैं और कहाँ हनुमान बंदर? फिर सुनाने वाले के विषय में जानकारी प्राप्त कर लेने पर ही, उसके द्वारा कही गयी बातों पर विश्वास करना चाहिए। सीता एक नारी है, भला वह कैसे एक पुरुष की बातों पर विश्वास करे। क्योंकि परपुरुष रावण भी तो था, जिसने भिक्षा-वृत्ति के ब्याज से उसे छला था। अतः उसने हनुमान से पूछा— ‘नर बानरहिं संग कहु कैसे’ हनुमान ने राम से मित्रता की पूरी कथा सुनाई। जिससे—‘सीता मन भरोस तब भयऊ।’ इसी भरोसे का परिणाम है कि लंका-दहन के पश्चात् सीता ने हनुमान को राम के लिए ‘चूड़ामनि उतारि तब दयऊ।’

सीता मन-कर्म-वचन से राम की है और केवल राम की है। उस पर दूसरे का अधिकार तो दूर, कुदृष्टि भी उसे असह्य है। यही कारण है कि वह रावण के वार्तालाप करते समय—‘तृण

धरि ओट कहति वैदेही' का आचरण करती है, किंतु रावण-वध के पश्चात् राम द्वारा इसी सती-साध्वी सीता की अग्नि-परीक्षा, भरी सभा में ली गई, क्योंकि वह इतने दिनों परपुरुष के यहाँ रही। उसने सहर्ष अग्नि-परीक्षा को वरण कर लिया और खरे स्वर्ण की भाँति सफलता पाई। तत्पश्चात् वह राम-लक्ष्मण के साथ अयोध्या लौट आई।

सीता-कथा-प्रसंग के विस्तार के कारण शकुंतला की कथा दूर छूट गई थी। अब उस कथा-प्रसंग की ओर दृष्टिपात करें, जब स्मृति-भ्रंश दुष्यंत द्वारा परित्यक्त शकुंतला-मरीचि-आश्रम में जीवन-व्यतीत करने लगती है। दुष्यंत द्वारा अभिशप्त शकुंतला के लौट जाने के बाद, दुष्यंत का सिपहसालार एक धीवर को पकड़कर लाता है, जिस पर दुष्यंत नामधारी अँगूठी चुराने का आरोप है। धीवर द्वारा दी गई अँगूठी को देखकर दुष्यंत की स्मृति लौट आती है, और वह शकुंतला के प्रति कहे गए दुर्वचन के लिए पश्चात्ताप भी करता है।

तुलनात्मक दृष्टि से ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि रावण का बीच में आना और सीता-हरण करके अपने यहाँ रखना सीता की सात्त्विक वृत्तियों पर आघात है, जिसके कारण उसे अग्नि-परीक्षा से गुजरना पड़ा। इसी प्रकार दुर्वासा द्वारा शापित होने और अँगूठी के खो जाने के कारण शकुंतला को भी अपनी पवित्र चारित्रिक गतिविधियों के लिए दुष्यंत के संशय का शिकार होना पड़ा। असंदिग्ध रूप से सीता एवं शकुंतला का इस मिलन के गत्यवरोध में कोई दोष नहीं है। दोष है, तो दुष्यंत और राम का ही है, पुरुषवर्ग का ही है, जिन्होंने परिस्थितिजन्य नारी की विवशता का ध्यान नहीं किया। सामाजिक मान्यताओं, परंपराओं ने शकुंतला एवं सीता को जड़ बना दिया था, मूकव्यथा को सहने के लिए बाध्य कर दिया था।

पति द्वारा अनादृत शकुंतला ने, स्वाभिमान की रक्षा करती हुई मारीच आश्रम में एक पुत्र भरत (सर्वदमन) को जन्म दिया। यह पुत्र शौर्य एवं पराक्रम का मूर्तिमान् विग्रह रूप है। युद्ध में इंद्र की सहायता करके लौटते हुए दुष्यंत मरीचि आश्रम में भरत की बाल-वीरता को देखकर मुग्ध हो जाते हैं। बालक को गोद में ले लेते हैं। थोड़ी देर पश्चात् उनकी भेंट अपनी भार्या शकुंतला से होती है। इस स्थल पर शकुंतला की उष्ण शालीनता ने दुष्यंत को कटु वचन और उपालंभ नहीं दिए, बल्कि उसने 'जयतु जयत्वार्यपुत्रः' कहकर उनका अभिनंदन किया और बड़ी शिष्टता से पूछा- 'अच्छा तो आपने इस दुःखिता को कैसे याद किया- 'अथ कथमार्यपुत्रेण स्मृतो दुःख भाग्ययंजनः।'

दुष्यंत शकुंतला के इस व्यवहार से स्वयं लज्जित होते हैं। अपने द्वारा किए गए व्यवहार पर पश्चात्ताप करते हैं। दुष्यंत की इच्छा है कि वह शकुंतला और भरत को लेकर मरीचि आदि का दर्शन करें, किंतु इस पर शकुंतला ने सलज्ज भाव से कहा-आपके साथ गुरुजनों के समीप जाते मुझे लज्जा आती है।' 'जिम्हेम्यार्यपुत्रेण सह गुरु समीपं गन्तुम्'²⁰, किंतु दुष्यंत के आग्रह पर वह पति-पुत्र के साथ मारीच को प्रणाम करती है। दर्शनोपरांत शकुंतला पति-पुत्र सहित हस्तिनापुर लौट जाती है।

लगता है अब कथा का अवसान हो गया। सीता अयोध्या में, और शकुंतला हस्तिनापुर में गार्हस्थ्य जीवन में रस-बस गईं। किंतु सीता के दुःख का अंत कहाँ? अभी उसके दुःख का अंतिम रूप पुनः शेष है। मानस में तुलसी द्वारा वर्णित न होने पर भी, एक बार पुनः लोकापवाद से भयभीत राम ने उसे वाल्मीकि आश्रम में वन्य-जीवन व्यतीत करने के लिए भेज दिया। सीता

ने वन में लव-कुश को जन्म दिया। दोनों ही वीरता, पराक्रम के प्रतिरूप हैं। इन्हीं बाल वीरों ने, अश्वमेध के अवसर पर छोड़े गए राम के घोड़े को आश्रम में बाँध लिया और राम की संपूर्ण सेना तथा लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, हनुमान जैसे योद्धाओं को परास्त कर दिया। अंत में राम आते हैं। उनकी भेंट लव-कुश और सीता से होती है। उन्होंने लव-कुश को अपना लिया, किंतु सीता राम की न हो सकी। वह असह्य वेदना से धरती में समाविष्ट हो गई। सीता के इस अप्रत्याशित व्यवहार से सारी सभा अवसन्न एवं अवाक् रह गई।

यहाँ पर तथ्य विचारणीय है कि सीता ने ऐसा क्यों किया? कालिदास की शकुंतला अपने पति को प्राप्त कर हँसी-खुशी पति के साथ घर चली जाती है। कोई विरोध नहीं करती, कोई गिला नहीं करती, किंतु सीता ने ऐसा नहीं किया, क्यों? वस्तुतः, क्या सीता भुला सकती है कि यह वही राम हैं, जिसने मेरी भरी सभा में अग्नि-परीक्षा ली थी और फिर लोकापवाद से भयभीत होकर न्याय-अन्याय का बिना विचार किए, मेरी प्रतिष्ठा एवं मर्यादा भंग की है। क्या वह निरा आदर्श और मर्यादा की कठपुतली बनकर राम के साथ पुनः अयोध्या लौट जाए और बार-बार अपमान के घूँट को पिए? नहीं, आखिर उसकी भी तो कुछ अस्मिता है, प्रतिष्ठा है।

इस अवसर पर सीता के तिरस्कारजन्य विवेक ने उसके प्रतिबंधित मर्यादाजन्य नारी स्वभाव को जाग्रत किया। उसने ऐसे समय में राम से विवाद करना उचित नहीं समझा और अत्यंत शालीन विरोध करती हुई वध से अच्छा त्याग का उदाहरण प्रस्तुत किया। सीता का यह विरोध, संस्कारजन्य नारी का विरोध नहीं है, परिस्थितिजन्य वेदना का भी विरोध नहीं है, बल्कि नारी-मनोविज्ञान-प्रसूत उद्दीप्त चेतना का विरोध है।

घटना-व्यापार, कथा-प्रसंग एवं मर्यादा की परिणति को आधार बनाकर शकुंतला एवं सीता के नारी-जीवन एवं उसकी त्रासदी को एक झाँकी के रूप में देखा जा सकता है—

(1) ... शकुंतला ... वन्य जीवन ... कण्वाश्रम ... गांधर्व विवाह ... पतिगृह-गमन ... तिरस्कार ... मारीच आश्रम ... हस्तिनापुर।

(2) ... राजकुमारी सीता ... जनक ... स्वयंवर विवाह ... दशरथ भवन ... वनगमन ... पंचवटी ... अशोक-वाटिका ... अयोध्या ... बाल्मीकि आश्रम।

स्पष्टतः, वन्य कुसुम शकुंतला के जीवन का अंतिम चरण महलों के पर्यावरण में बीता और राजकुमार सीता के जीवन का पर्यवसान वन्यजीवन में हुआ।

कथा के घटना-प्रसंग के पश्चात यदि थोड़ा सौंदर्य-विधान की दृष्टि से भी सीता एवं शकुंतला के सौंदर्य-निरूपण पर विचार कर लिया जाए, तो अप्रासंगिक न होगा, क्योंकि सांस्कृतिक दृष्टि से जहाँ आचार-विचार, रहन-सहन, बोल-चाल पर विचार हुआ है, वहाँ वस्त्रभूषण एवं अलंकरण-प्रवृत्ति को छोड़ा नहीं जा सकता। सीता राजकुमारी है, लावण्यमयी है—‘सहज सुहावन सीय’ और कालिदास की शकुंतला भी—‘किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतिनाम्’²¹ है। वह सुकोमल भावनाओं से ओत-प्रोत है। यही कारण है कि वह—‘नादत्ते प्रिय मण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्’ है। उसकी इस भावना की रक्षा एवं नाटक में व्यतिरेक उत्पन्न न हो, इसके लिए कुशल कवि-नाटककार ने वृक्षों से ही उसे सबकुछ आभूषण के रूप में दिलवाया है।

शकुंतला श्रमशीला है। वह वन के पेड़-पौधों और जंतुओं की सेवा में तल्लीन रहती है। कठोर भूमि पर चलना और आश्रम के कार्यों में दत्तचित्त रहना ही उसके स्वभाव का वैशिष्ट्य

है। सीता इससे भिन्न है। कौशल्या की दृष्टि में वह—

पलंग पीठि तजि गोद हिंडोरा, सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा।²²

यह स्थिति स्वाभाविक है— कहाँ एक राजकुमारी है और दूसरी तपोवन-निवासिनी।

शकुंतला के सौंदर्य-चित्रण में कालिदास का मन सर्वांग अनुरक्त था, उपमानों पर उनकी स्वाभाविक दृष्टि थी—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै—
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादित रसम्
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः।²³

उपर्युक्त श्लोक में अक्षत यौवना, चिरनवीना, निष्कलंक शकुंतला के अनिंद्य सौंदर्य का वर्णन किया गया है। तुलसी ने भी सीता-सौंदर्य का निरूपण निम्नवत् किया है—

जो छवि सुधा पयोनिधि होई, परम रूपमय कच्छप सोई।
सोभारजु मंदरु सिंगारू, मथै पानि पंकज निज भारू।
एहि विधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुखमूल
तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय सम तूल।²⁴

कहने की आवश्यकता नहीं है कि उपर्युक्त वर्णन सीता के अलौकिक सौंदर्य की व्यंजना करने में ही अपनी सानी रखता है, सहज स्वाभाविक रूप-वर्णन में नहीं। सीता-हरण के अवसर पर भी तुलसी ने राम के मुख से जो सीता के रूप-सौंदर्य एवं शील-स्वभाव का निरूपण किया है, वह पारंपरिक उपमान-विधान का ही प्रतिफलन कहा जाएगा। इस स्थल पर स्वाभाविकता की पराकाष्ठा अवश्य देखने को मिलती है, किंतु वह भी, राम-वियोग को पीड़ित एवं बाधित करने वाले कारकों के रूप में ही।

अंत में, हम विविध आयामों से परीक्षण के बाद कह सकते हैं कि शकुंतला के जीवन की सार्थकता, प्रासंगिकता एवं मूल्यवत्ता, उसके वन्यजीवन की जन्मजात स्वाभाविकता में है, जबकि सीता की ज़िंदगी की अर्थवत्ता, मौलिकता एवं उसका वन्यजीवन, कुछ थोपा हुआ और परिस्थितिजन्य है। यद्यपि सीता का जीवन दुःखमय अधिक है, तथापि उसमें व्यथा एवं वियोगजन्य वह आवेग नहीं है, जो शकुंतला की नैसर्गिक ज़िंदगी में है। सीता के क्रिया-व्यापार एवं आचार-विचार, आदर्श से अधिक अनुप्राणित हैं, जबकि शकुंतला के क्रिया-व्यापार यथार्थ की कठोर भूमि पर अवस्थित है। यद्यपि दोनों ने ही जीवनमूल्यों एवं सामाजिक मान्यताओं का निर्वाह किया है, दोनों ने ही नारी त्रासदी को झेला है, तथापि सांस्कृतिक पर्यावरण एवं सामाजिक प्रासंगिकता की दृष्टि से दोनों के वैचारिक मूल्यों में पर्याप्त अन्तर है।

यह अंतर ही, वस्तुतः सामाजिक एवं सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को इंगित करने वाला है, किंतु इस अंतर के मूल में दो बातें महत्वपूर्ण हैं— एक तो यह कि मानव-भाव, शाश्वत हैं, देश-काल के अनुसार उनके क्रिया-व्यापार में परिवर्तन हो सकता है, किंतु उन भावों का आमूलचूल उन्मूलन नहीं हो सकता। इस दृष्टि से कालिदास एवं तुलसी के द्वारा वर्णित भाव-अनुभाव दशाएँ कतिपय वैभिन्य के साथ एक-जैसी अनुमन्य हैं। दूसरी बात यह है कि कालिदास का समय चौथी शताब्दी है और तुलसी का समय सोलहवीं शताब्दी है। निश्चय ही, दोनों एक सहस्राब्दि से

भी अधिक अंतराल पर अवस्थित हैं। एक ने सम्राट चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में साहित्य-सर्जना की और दूसरे ने सम्राट अकबर के काल में। निरसर्गतः दोनों कवियों के सांस्कृतिक मूल्यों, मान्यताओं एवं विचारों में अंतर देखने को मिलेगा, जिसका निदर्शन एवं प्रतिफलन उनके पात्रों के माध्यम से हुआ है।

सन्दर्भ

1. कालिदास, अभिज्ञानशाकुंतलम्, द्वितीय अंक, पृ० 137
2. वही, प्रथम अंक, पृ० 47
3. वही, प्रथम अंक, पृ० 64
4. तुलसीदास, रामचरितमानस, पृ० 162
5. वही, पृ० 163
6. वही, पृ० 163
7. वही, पृ० 164
8. वही, पृ० 162
9. कालिदास, अभिज्ञानशाकुंतलम्, चतुर्थ अंक, पृ० 233
10. तुलसीदास, रामचरितमानस, पृ० 171
11. कालिदास, अभिज्ञानशाकुंतलम्, चतुर्थ अंक, पृ० 266
12. तुलसीदास, रामचरितमानस, पृ० 220
13. वही, पृ० 222
14. वही, पृ० 270
15. वही, पृ० 271
16. वही, पृ० 297
17. वही, पृ० 297
18. वही, पृ० 383
19. वही, पृ० 430
20. कालिदास, अभिज्ञानशाकुंतलम्, सप्तम अंक, पृ० 502
21. वही, प्रथम अंक, पृ० 57
22. तुलसीदास, रामचरितमानस, पृ० 267
23. कालिदास, अभिज्ञानशाकुंतलम्, द्वितीय अंक, पृ० 133
24. तुलसीदास, रामचरितमानस, पृ० 171

पुराणों में नारी-चरित्र

डॉ० शारदा शर्मा

रीडर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग

मु०ला०एवं ज०ना० से क०म०वि०, सहारनपुर (उ०प्र०)

मानव-सभ्यता एवं संस्कृति की पृष्ठभूमि में नारी का महत्त्वपूर्ण योगदान है। मनुष्य जब सभ्यता की दौड़ में पिछड़ा है, अशांति का शिकार हुआ है, नारी उसकी पथप्रदर्शिका रही है। नारी पुरुष की प्रेरणा-शक्ति है। सभी पुराणों ने इसी सत्य को एक स्वर से स्वीकारा है।

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के ऐतिहासिक विकास में पुराणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पुराण न केवल धर्मग्रंथ हैं, अपितु मानव की विकासात्मक परंपरा के इतिहास-ग्रंथ भी हैं। वे ज्ञान के अक्षय महाभंडार हैं। इन महाभंडारों से अनेक रत्न प्राप्त होते हैं। उन्हीं बहुमूल्य रत्नों में नारी-रत्न भी है। पुराणों के वर्णित कथाओं से तत्कालीन नारियों की एक सुदीर्घ शृंखला प्राप्त होती है, जिससे तत्कालीन समाज, राष्ट्र, धर्म एवं संस्कृति का ज्ञान होता है।

अब तक प्रमुखा रूप से 18 पुराणों का उल्लेख मिलता है—1. शिव पुराण 2. विष्णु पुराण 3. ब्रह्म पुराण 4. पद्म पुराण 5. श्रीमद्भागवत पुराण 6. नारदीय पुराण, 7. मार्कंडेय पुराण 8. आग्नेय पुराण 9. भविष्यत् पुराण 10. ब्रह्मवैवर्त पुराण 11. बराह पुराण 12. स्कंद पुराण 13. वामन पुराण 14. मत्स्य पुराण 15. गरुड़ पुराण 16. वायु पुराण 17. लिंग पुराण 18. कूर्म पुराण।

इन पुराणों में मुख्य रूप से तीन वर्गों की नारियाँ मिलती हैं— 1. दैवी वर्ग 2. ऋषि-वर्ग 3. मानवी वर्ग। शची, इंद्राणी, सती, पार्वती, उमा, लक्ष्मी आदि दैवी वर्ग से संबद्ध हैं। अहल्या, अनसूया, अदिति, अरुन्धती आदि ऋषि वर्ग से संबद्ध, द्रौपदी, सावित्री, सुनीति आदि मानवी वर्ग की नारियाँ हैं। प्रथम दो कुलों से संबद्ध नारियों ने अपनी अलौकिक एवं आध्यात्मिक शक्ति से जो अद्वितीय कार्य किए, वे तत्कालीन समाज एवं राष्ट्र की दृष्टि से उपयुक्त एवं आवश्यक थे तथा तत्कालीन समाज उन पर श्रद्धा एवं आस्था रखता था।

पुराण भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के मानदंड माने जाते हैं। शिवपुराण के पुरुष और प्रकृति नर और नारी की सहयोगिता का ज्ञान कराते हैं। स्त्री-पुरुष का संबंध शाश्वत है, वे एक-दूसरे के पूरक हैं चाहे वे देव-वर्ग के हों चाहे ऋषि-वर्ग के या फिर मानव-वर्ग के। मात, पत्नी, शक्ति, सहचरी, रमणी, शिक्षिका आदि नारी के विविध रूप हैं। उसके किसी रूप में सत्त्वगुण की प्रधानता है तो, किसी में तमोगुण की। पुराणों ने सत्त्वगुणी नारी को ही वंदनीय माना है, तमोगुणी को त्याज्य एवं निंदनीय बताया गया है।

किसी भी देश या काल के लिए यह कहना असंभव है कि समाज में सभी लोग उच्च

एवं प्रशंसनीय हैं, वे निर्दोष हैं। गुणी के साथ दोषी, सदाचारी के साथ दुराचारी का होना स्वाभाविक है। पुराण भी इसके अपवाद नहीं हैं। अगर वहाँ सती, उमा, सावित्री, अर्चि, अहल्या, अनसूया पतिव्रता नारियाँ हैं तो दूसरी ओर सुरुचि जैसी निम्न नारियाँ भी हैं, जो न केवल परिवार में अपितु राज्य में भी उपद्रव एवं संकट का कारण बनी हैं। दिन के साथ रात्रि का वर्णन दिन के महत्त्व को बढ़ाता है।

अदिति, कुंती, लक्ष्मी, शतरूपा, सती, सुनीति, सावित्री आदि स्त्रियाँ अपने उच्च आचार-विचारों से उज्ज्वल पातिव्रत धर्म, प्रतिभाशाली व्यक्तित्व एवं सदाचार के सामर्थ्य का जो परिचय करा देती हैं, उससे यही प्रमाणित होता है कि पुराणों की संस्कृति में शील, सदाचार, सेवा, कर्तव्य-निष्ठा, पातिव्रत आदि सद्गुणों का महान् आदर्श भारतीय पौराणिक नारियों के समक्ष मात्र सैद्धांतिक उपदेश के रूप में ही नहीं था, अपितु उसके पालन से नारियों ने स्त्री जाति का नाम उज्ज्वल किया था।

पौराणिक नारियों के महान व्यक्तित्व में उनकी उच्चशिक्षा एवं उनका उच्चज्ञान निहित था। शिक्षा का उद्देश्य बुद्धि को परिष्कृत करके मनुष्य को सक्षम बनाना तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सन्मार्ग के प्रदर्शन-योग्य बनाना है। इस दृष्टि से नारी के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास पौराणिक काल में हुआ। जीवन के संघर्ष में विवेकपूर्ण नैतिक मर्यादा से च्युत न होते हुए लोकहित में तत्पर रहने की बौद्धिक शक्ति और मानसिक बल उसे प्राप्त हुआ। अश्वपति पुत्री सावित्री द्वारा यमराज से अपने पति सत्यवान के लिए 400 वर्ष का जीवन वापिस लेने के साथ-साथ अपने पिता एवं श्वसुर का राज्य-वैभव एवं उनकी नेत्र-ज्योति वापस ले लेना, उसकी बुद्धिमत्ता का ही प्रमाण है।¹ जब यमराज ने उसे वापस चले जाने को कहा, तब सावित्री के गूढ़ प्रश्नों को सुनकर वे आश्चर्यचकित रह गए। अल्पवय की सावित्री के गहन ज्ञान की प्रशंसा करते हुए उसे विभिन्न वरदान देकर उसके पति को छोड़कर यमराज खाली हाथ यमपुरी लौट गए।²

पुराणों के अध्ययन से यह तो स्पष्ट है कि स्त्री-शिक्षा की मात्रा चरम सीमा पर पहुँची हुई थी। यद्यपि उस समय पाठशालाओं या गुरुकुलों में शिक्षा का प्रबंध नहीं था और न कोई निर्धारित पाठ्यक्रम ही था। स्त्रियों की शिक्षा प्रत्यक्ष रूप से न होकर परोक्ष रूप से होती थी।

घर, परिवार से लेकर आश्रमों तक का वातावरण ऐसा रहता था कि स्त्रियाँ देख-सुनकर ही बहुत शिक्षा ग्रहण कर लेती थीं। तत्कालीन युग में शिक्षा का उद्देश्य परीक्षाओं में सफल होकर उपाधि या प्रमाणपत्र प्राप्त करना अथवा जीविका कमाने के योग्य बनाना नहीं था। उस युग में शिक्षा का अर्थ एवं उसकी सार्थकता इसी में थी कि वह स्त्री की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक शक्ति को विकसित कर सके तथा नारी के आचार-विचार में विवेक, धर्मबुद्धि, नैतिक भावना, आत्म-विश्वास, कर्तव्यपरायणता आदि गुणों की वृद्धि करके उसे शील-सदाचार-संपन्न बना सके, जिससे वह अपने घर, परिवार, समाज एवं राष्ट्र की उन्नति में सहयोग दे सके।

अपनी इसी शैक्षिक महत्ता के बल पर स्त्री अवध्य थी। विष्णुपुराण में उल्लेख मिलता है कि जब पृथिवी के विरुद्ध प्रजा द्वारा प्रार्थना की जाने पर राजा पृथु धुनष और बाण लेकर गौरूपधारिणी पृथिवी को दंड देने के लिए उसके पीछे दौड़े, तब भयभीत होती हुई पृथिवी उनसे कहती है, 'हे राजेंद्र क्या आपको स्त्री-वध में महापाप नहीं दिखलाई देता जो मुझे मारने पर आप इस प्रकार उद्यत हो रहे हैं।'³

राजा शतधनु की पत्नी शैव्या धर्मपरायणा, पतिव्रता, सुशिक्षिता नारी थी। अपनी पत्नी के साथ राजा ने परम समाधि के द्वारा भगवान जनार्दन की आराधना की। मृत्यूपरांत शाप- विशेष से ग्रस्त होने पर प्रत्येक योनि में शैव्या ही अपने तपोबल से पति को पूर्वजन्म के वृतांत से अवगत कराती रही।⁴

उषा की सखी चित्रलेखा⁵ अपने योगबल से अनिरुद्ध को उसके समीप ले आई—
एतस्मिन्नेव काले तु योग विद्याबलेन तम्
अनिरुद्ध मथानिन्ये चित्रलेखा वराप्सराः।

(विष्णुपुराण 5/33/5)

बृहस्पति की भगिनी महान् सिद्ध योगिनी थी। इसी महान् सिद्ध विद्या से वे अष्टम वसु प्रमस की भार्या हुईं। उन्हीं से महाभाग प्रजापति विश्वकर्मा का जन्म हुआ।

स्वयं स्वायम्भुव मनु ने तप के कारण निष्पाप शतरूपा को अपनी पत्नी बनाया।⁶
शतरूपां च तां नारीं तपोनिर्धूत कल्मषाम्
स्वायंभुवो मनुर्देवः पत्नीत्वे जग्रहे प्रभूः।

(विष्णु पुराण 1/7/17)

स्वयं सती योगविद्या में पारंगत थीं। जब सती के पिता दक्ष ने बिना किसी अपराध के भगवान शिव के प्रतिकूल आचरण किया था, तब सती ने युवावस्था में ही क्रोधवश योग के द्वारा स्वयं ही अपने शरीर का त्याग कर दिया था—

पितर्यं प्रतिरूपे स्वे भवायानागसे रुषा।
अप्रौढैवात्मनाऽऽत्मानमजहाद्योग संयुता।⁷

पुराणों में पारिवारिक व्यवस्था पितृप्रधान ही रही है, जिसमें परिवार के सभी सदस्य वयोवृद्ध का आदर करते थे तथा परस्पर स्नेह से पारिवारिक कार्य सुचारु रूप से संपन्न होते थे। पिता, पुत्र या पति के संरक्षण में नारी स्वयं को सुरक्षित अनुभव करती थी। मनुस्मृति में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा ... ।

(मनुस्मृति 9/4)

इतना होने पर भी वह पूजनीय है, सम्मानीय है। जिस कुल में नारी की पूजा होती है, उस कुल में देवताओं का निवास माना गया है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

(मनुस्मृति 3/56)

पुराणों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि कन्या अपने माता-पिता की विशेष स्नेह-अधिकारी रही है। पिता के प्रभुत्व एवं माता की शिक्षा में उसके सुख एवं मनोरंजन के पर्याप्त साधनों का प्रबंध निहित था। माता-पिता उसके सुखद दांपत्य-जीवन की कामना में ही लगे रहते थे। शुक ने अपने प्राणों से प्यारी देवयानी को दुख से व्याकुल देखकर उसे हृदय से लगाया तथा उसके कहने पर शुक ने उसका विवाह ययाति से किया। अश्वपति ने अपनी पुत्री सावित्री को सुयोग्य बनाकर उसे वरान्वेषण के लिए निसंकोच अनुमति दे दी। हिमाचल उमा ने भी अपने पिता

की चिंता जानकर स्वयं कहा कि वह शिवजी को पति रूप में प्राप्त करना चाहती है।⁸ व्यावहारिक रूप में माता-पिता वरचयन में अपने से अधिक कन्या की इच्छा को ही वरीयता प्रदान करते थे।

भारतीय संस्कृति में प्रारंभ से ही पत्नी का पद समादरणीय रहा है। 'दंपती' शब्द पति-पत्नी के सम्मिलित स्वामित्व का द्योतक रहा है। ऋग्वेद में पत्नी को गृह की साम्राज्ञी, कल्याणी एवं कुटुम्ब की अभिवृद्धि करनेवाली कहा गया है। ब्राह्मण ग्रंथों में पत्नी के साहचर्य के बिना पुरुष अपूर्ण माना गया है। धर्मशास्त्रों एवं पुराणों में पति-पत्नी की एकरूपता को स्वीकार किया गया है। वहाँ पत्नी को 'भार्या' की संज्ञा दी गई है। भार्या को पति का अर्ध भाग (अर्धांगिनी) कहा गया है। भार्यावान ही गृहस्थाश्रमी बनकर धार्मिक कृत्य कर सकने का अधिकारी माना गया है। इस लोक में पुरुष के समस्त सुखों का आधार भार्या ही रही है। वह पुरुष की परमगति है, उसके समस्त दुखों की औषधि है। वह एकांत में मित्र है, धर्मकार्य में पिता है तथा दुखद परिस्थितियों में माता के समान है।

पुराणों की कौटुम्बिक व्यवस्था में सपत्नियों का एक साथ रहना सामान्य बात थी। प्रथम पत्नी के रहते दूसरी पत्नी का आगमन कष्ट का कारण नहीं बनता था। अदिति एवं दिति इसी सद्भावना के साथ कश्यप के साथ रहीं। कुंती से पांडु के विवाह के पश्चात माद्री विवाहित हुई। द्रौपदी ने सुभद्रा को गले लगाकर अपने हृदय की विशालता का परिचय दिया। सत्यभामा अपने पातिव्रत धर्म से ही कृष्ण का मन अन्य पत्नियों से हटाकर अपने प्रति आकर्षित करने का उपाय ही सोचती रहती थी।

पुराणों में स्त्री को श्री के स्थान पर साक्षात् लक्ष्मी के रूप में गौरवान्वित किया गया है। स्त्री घर की लक्ष्मी एवं ज्योति होने के साथ परिवार एवं कुलउद्धारक भी है। पतिव्रता स्त्रियाँ अपनी ख्याति एवं शुभ के साथ-साथ अपने पति एवं परिवार का कल्याण भी करती हैं। पुराणों के अध्ययन से यह तो स्पष्ट है कि पति और पत्नी का एक जन्म का नहीं अपितु जन्म-जन्मांतर का संबंध है। 'विष्णुपुराण' में शतधनु की धर्मपरायणा पत्नी शैव्या का प्रसंग इसी मत की पुष्टि करता है। राजा शतधनु अपने पापाचरण के कारण क्रमशः कुक्कर, शृंगाल, वृक, गृद्ध, काक और मयूर आदि निकृष्ट योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं। धर्मपरायणा पतिव्रता शैव्या अपने योगबल से पति को कुक्कर आदि प्रत्येक योनि में उनको पूर्वजन्म के वृतांत का स्मरण कराती हुई उनका उद्धार करती है। शिवपुराण में भी उल्लेख मिलता है कि पातिव्रत धर्म की रक्षार्थ दक्षतनया सती ने अपने पिता के यज्ञ में अपने प्राणों की आहुति दे दी थी और मन-ही-मन ईश्वर से यह वर माँगा था कि दूसरे जन्म में भी शिव को पति रूप में प्राप्त करूँ।

आदर्श पतिव्रताएँ पातिव्रत धर्म का पालन तत्परतापूर्वक करती थीं। पति को देवता तथा गुरु माननेवाली पतिव्रताएँ परिवार के प्रत्येक व्यक्ति का आदर-सत्कार अपना-अपना धर्म मानती थीं। माता कुंती के कहने पर कि 'भिक्षा को पाँचों बाँट लो' द्रौपदी पाँचों पांडवों को पति रूप में सहर्ष स्वीकार कर लेती है।

पुराणों में तो यहाँ तक कहा गया है कि वही भार्या है, जो पतिव्रता है। स्वयं द्रौपदी ने पातिव्रत्य के महत्त्व को समझा। इसीलिए वह सबकुछ त्यागकर वन में पाँचों पतियों का अनुगमन करती रही। यम से कई वर प्राप्त करनेवाली सावित्री भी अंत में यही कहती है कि पतिविहीन

होकर मैं आपके दिए वरों का पालन नहीं करना चाहती। इसलिए जहाँ आप मेरे पति को ले जा रहे हैं, वहीं मैं भी जाना चाहती हूँ। दमयंती, सीता इसी मार्ग का अनुसरण करती हैं। एकवस्त्रा होकर वे भी वन में पति-अनुगामिनी बनती हैं। पतिव्रता वृंदा अपने पातिव्रत के बल पर ही छल करनेवाले भगवान को पत्थर (शालिग्राम) बना देती है और स्वयं तुलसी बनकर उसके शीश पर विराजती है (पौराणिक कथाएँ पृ० 36)। आजीवन दासीत्व स्वीकार करनेवाली शर्मिष्ठा के हृदय में भी पति-सेवा का भाव निहित है। इन पतिव्रताओं की भक्ति अंधश्रद्धागामी नहीं रही, अपितु समय-समय पर पतियों को कर्तव्योन्मुख करने की शक्ति भी इनमें थी। पतिव्रता ने जीवन में पतिसेवा, शीलरक्षा तथा पवित्रता को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था। विवाह के पूर्व दमयंती का नल के प्रति अनुराग उसके एकनिष्ठ पातिव्रत धर्म का संकेत करता है। शिव के अतिरिक्त पर्वतपुत्री पार्वती किसी और को पति रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं थी। पति से दूर रहने पर भी अक्रोधी पतिव्रताएँ अपने पातिव्रत कवच से अपनी रक्षा करने में समर्थ रही हैं। दमयंती, शकुंतला, सावित्री, इंद्राणी आदि ने संकट में अपने पातिव्रत को ही कसौटी पर लगाकर अपनी रक्षा की। इसी धर्म-निर्वाह के कारण पति-विवाह में नारी-प्रसाधन और वस्त्राभूषण के प्रयोग से उदासीन रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करती थी। नारी का शृंगार पति के सुख एवं संतोष के लिए ही होता था। पति ही स्त्री का देवता, अधिष्ठाता तथा सर्वस्व है। उसकी प्रसन्नता एवं तुष्टि के लिए वह बड़े से बड़ा त्याग करने के लिए तत्पर रहती है। यही कारण है कि वह जहाँ एक ओर पति की सहधर्मचारिणी है, वहीं उसका स्थान परिवार एवं समाज में पति से उच्च भी है।

पत्नी का प्रमुख क्षेत्र गृह है। गुरुजनों की सेवा, गृहस्थी के कार्यों का सुचारु रूप से संपादन एवं वंश-विकास की शृंखला का विस्तार बनाए रखना उसके प्रमुख कर्तव्य हैं। पति की असमर्थता पर पति की आज्ञानुसार वियोग द्वारा पति को पुत्र-दान पतिव्रता नारी का कर्तव्य रहा। पांडु के अनुरोध पर कुंती ने देवताओं का आह्वान करके तीन पुत्र उत्पन्न किए। सौदास कल्माषपाद की पत्नी मदयंती ने अपने पति के कहने पर नियोग द्वारा ऋषियों से पुत्र प्राप्त किए। पत्नी इस नियोग में पति के हित की ही इच्छा रखती थी, अपने सुख की नहीं।

दांपत्य जीवन की सुख-शांति पति-पत्नी के प्रेम पर आश्रित है। पति-पत्नी का एक दूसरे से घुलमिल जाना, एक-दूसरे का गुणानुवाद करना, क्षण-भर के लिए पृथक् होने पर मिलने के लिए व्याकुल रहना, उनके अटूट प्रेम एवं एकता का ही परिचायक है। इस एकनिष्ठ प्रेम का फल है संतति। इस संतति (संतान) से प्रेम में गहराई एवं सात्त्विकता आती है। तपोवन में तपस्या करनेवाले ऋषि भी सपत्नीक कौटुम्बिक जीवन बिताते थे। उन आश्रमों में ऋषि पतियों के साथ निवास करनेवाली पत्नियाँ आश्रमों में अपने पातिव्रत धर्म का पालन करती थीं। सुकन्या, अरुंधती, अहल्या, अनुसूया आदि स्त्रियाँ समस्त सुखों का परित्याग करके वल्कल धारण करके प्रति शुश्रूषा में और तप में संलग्न रहती थीं। विभिन्न शारीरिक कष्ट, विपत्तियाँ, पति क्रोध आदि सब सहकर भी ऋषि-पत्नियाँ पातिव्रत धर्म का पालन तत्परतापूर्वक करती थीं। वशिष्ठ-पत्नी अरुंधती प्रतिव्रताओं में श्रेष्ठ मानी गई हैं। पातिव्रत तथा भार्याव्रत का पालन करते हुए सत्यवान परिवार, सीता-राम, पांडव, द्रौपदी, नल-दमयंती आदि ने अपना वनवासी जीवन परस्पर स्नेह के सहारे व्यतीत किया।

तपोबल के कारण ही तो नारी अपने सतीत्व की रक्षा करने में समर्थ होती है। मनुष्य तो

क्या बड़े-से-बड़े देवता भी सती-पतिव्रता के शाप से मुक्ति नहीं पा सकते। उपवर्हण की पत्नी मालावती के सतीत्व के तेज से ब्रह्मा, शिव, धर्म, यम आदि भयभीत हो गए। वे सभी देवगण विष्णु जी की शरण में जाकर 'रक्षा करो' 'रक्षा करो' पुकारने लगे।⁹ किंतु मालावती की शरण में लौटने पर ही उनको इस भय से मुक्ति मिली। ब्रह्मा के शाप से अपने पति की असामयिक मृत्यु के विषाद के कारण मालावती ने यह निश्चय किया कि यदि देवता उसके पति को नहीं लौटाते तो वह जीवित ही पति के साथ सती हो जाएगी और मरने से पूर्व देवों को शाप दे जाएगी। सती के शाप के निवारण की सामर्थ्य किसी में भी नहीं होती।¹⁰

लोकहितार्थ तप करनेवाली असंख्य नारियों का पुराणों में उल्लेख मिलता है। पिता के पुण्य के लिए चार राजाओं को आत्मदान करके चार पुत्र उत्पन्न करने के उपरांत पिता के पास लौटकर आई हुई ययाति की पुत्री माधवी तपोवन स्वीकारती है। कठोर तपस्या में रत होकर ब्रह्मचर्य-पालन एवं धर्मानुकूल आचरण द्वारा संचित अपने तथा पुत्रों के पुण्यांश से उसने स्वर्ग से गिरते हुए अपने पिता को पुनः स्वर्गरूढ़ कराया था।

किसी राष्ट्र की सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माण एवं विकास में नारी का महत्वपूर्ण योगदान होता है। स्त्री-जाति के प्रति अनादिकाल से ही सबका उदार एवं सम्मानित दृष्टिकोण रहा है। नारी की महानता एवं पूर्णता उसने मातृत्व में है। सभी पुराणों ने माता के रूप में नारी-गौरव को एक स्वर से स्वीकार किया है। अदिति, मैना, पार्वती आदि नारियों का गौरव उनके सफल मातृत्व में मिला है-शिवपुराण में गणेशमाता पार्वती को अपने पुत्र गणेश पर गर्व है। वे न्याय एवं कर्तव्य की रक्षार्थ अपने पुत्र के लिए सभी देवी-देवताओं में सर्वप्रथम उपासना का वरदान त्रिदेवों से माँगने में सफल होती हैं।¹² पुत्रवध के अपराध-बोध से ग्रस्त शिव को भी महिमामायी माता को यह वरदान देना ही पड़ता है।

पिता की अपेक्षा माता का संतान पर अधिक स्नेह होना स्वाभाविक है। क्योंकि वह उसे गर्भ में धारण करती है। इसीलिए वह धात्री कही जाती है। पिता का संतान पर प्रभुत्व मात्र रहता है। माता की महत्ता के संदर्भ में पुराणों का सार है कि माता समस्त दुखों की निवृत्ति है। माता के रहते मनुष्य चिंतारहित रहता है। वह निर्धन होने पर भी धनवान है, वृद्ध होने पर भी बालक है।

'पृथ्वी' माँ का रूप है। किंतु माँ को गौरव व गरिमा के कारण पृथ्वी से भी श्रेष्ठ और उच्च स्थान दिया है। शिवपुराण एवं विष्णुपुराण में यह उल्लेख मिलता है कि गणेश शिव-पार्वती की सात प्रदक्षिणाएँ करके देवताओं में प्रथम पूजनीय बन गए। माता गुरु भी है, देवता भी। माता की पूजा करने से न केवल मनुष्य, अपितु ऋषि एवं देवगण भी प्रसन्न होते हैं। जैसे माता की प्रसन्नता से मनुष्य का परम कल्याण होता है वैसे ही माता के क्रोध एवं शाप से कहीं मुक्ति नहीं।

ज्येष्ठ भगिनी, भ्रातृ भार्या, मौसी एवं कुल की वयोवृद्ध स्त्रियाँ भी माता के समान समादरणीया थीं। पौराणिक आख्यानों में मातृरूपधारिणी स्त्रियों ने अपने हृदय की विशालता का जो परिचय दिया है। उससे समाज में उनका स्थान गुरु, देवता और ब्राह्मण के समान पूजनीय हो गया है। मनु ने तो माता का स्थान पिता की तुलना में सहस्रगुणा उच्च कहा है-

सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते।

(मनु स्मृति 2/145)

माता सुनीति की सद्शिक्षा के परिणामस्वरूप ध्रुव अपनी वाल्यावस्था में ही उत्तम पद

को प्राप्त करके अमर हो गया। विष्णुपुराण के प्रथम अंक में सनीति ने पुत्र को सांत्वना देते हुए कहा—वत्स! पुण्यात्माओं को ही राजासन तथा राजछत्र आदि सुलभ होते हैं। ... यदि सुरुचि के वाक्यों से तुम्हें सचमुच दुख पहुँचा है तो तुम पुण्य-संग्रह का प्रयत्न करो। जिस प्रकार नीची भूमि में ढलकता हुआ जल अपने आप ही पात्र में आ जाता है, ठीक उसी प्रकार समस्त संपत्तियाँ भी पुण्यकर्मा के पास स्वतः आ जाती हैं।¹³

नारी का सर्वाधिक पूजनीय एवं अनिन्द्य रूप 'माता' का ही है। माता में केवल स्नेह एवं त्यागभाव है। मातृस्नेह श्रेष्ठ माना गया है, जो निस्वार्थ होता है। माता सदैव निस्वार्थ-भाव से अपनी संतान के यश, कीर्ति, उन्नति एवं समृद्धि की ही कामना करती है। शिवपुराण में माँ पार्वती और विष्णुपुराण की माता सुनीति अपने पुत्रों को कर्तव्य एवं न्यास का पाठ उनके कल्याण के लिए ही पढ़ाती हैं।

उपवास, व्रत, तप आदि उपायों से माता पुत्रप्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहती है। अत्रि भार्या ने तप करके शंकर के वरदान से पुत्र प्राप्त किया। पुत्र-पालन की आकांक्षा से ही पति से अपमानित होने पर भी शकुंतला मरीचि के आश्रम में रही। कुंती, उत्तरा जैसी विधवाओं ने संतान-पालन के लिए ही उपवास, व्रत, तप करते हुए आश्रम में जीवन-यापन किया। राजा अनरण्य की पुत्री पद्मा ने राज्य-रक्षार्थ ही वृद्ध मुनि पिपलाद से विवाह करने में कोई आपत्ति नहीं की।¹⁴

नारी का प्रधान कर्मक्षेत्र कुटुंब है। कुटुम्ब को सुखी बनाना ही उसके जीवन का लक्ष्य रहा है और उसी में उसने जीवन की सार्थकता मानी है। फिर भी असाधारण परिस्थितियों में कौटुंबिक जीवन से बाहर समाज में भी महत्त्वपूर्ण कार्य करने से नारी पीछे नहीं रही है। गृहस्थाश्रम ही समाज-सेवा की प्रधान संस्था है। प्रत्येक घर समाज-सेवा का केंद्र है। अतिथि-सत्कार, भिक्षादान द्वारा प्राणियों के प्रति दयाभाव आदि समाज-सेवा के ही रूप हैं। राजा शर्याति की पुत्री सुकन्या के द्वारा अज्ञानवश च्यवन ऋषि के नेत्र फोड़ दिए जाने पर, अपराधवश स्वयं सुकन्या अंध, वृद्ध, मलिन तथा भरण-पोषण में असमर्थ च्यवन ऋषि के साथ उनकी आज्ञा से विवाहित हुई। राजकन्या रानी बनने की पात्र होते हुए भी समाज के लिए आत्मसुख का परित्याग करने से पीछे नहीं हटी। वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा ने देश का अहित टालने के लिए अपनी सहस्र दासियों के साथ देवयानी की आजीवन दासता को स्वीकार करके अपनी उदारता एवं धैर्य का परिचय दिया।

पुराणों में नारी के राज्याधिकार के संबंध में कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। राज्य शासिका के रूप में नारी का स्वतंत्र रूप से राज्याभिषेक नहीं हुआ किंतु इतना अवश्य है जहाँ कहीं पति राज्यासीन हुआ, वहाँ पत्नी का स्थान सुनिश्चित रहा है। राजा के द्वारा किए जाने वाले यज्ञों में भी रानी का सहयोग एवं उसकी उपस्थिति अनिवार्य रही। इंद्र और वरुण की राजसभाओं में इंद्राणी और वारुणी के राजसिंहासन पर बैठने का उल्लेख मिलता है। कुंती के लिए कहा गया है कि वह 'स्व' राज्य छोड़कर वन चली गई।

शासन-तंत्र में नारियाँ प्रत्यक्ष भाग नहीं लेती थीं। फिर भी वे नारियाँ राजनीति एवं युद्धनीति में निपुण थीं। कुंती का कर्ण को अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न तथा अर्जुन के अतिरिक्त अन्य पांडवों का वध न करने का उससे वचन लेना, उसकी राजनीतिक कुशलता का ही श्रेष्ठ

प्रमाण है। नारियों ने स्वयं राजसत्ता नहीं ली, शस्त्र लेकर युद्ध नहीं किया किंतु वे अपनी बुद्धि एवं शक्ति से पुरुषों को प्रेरित करती रही हैं।

स्त्री-जीवन की सार्थकता कुटुंब की हित-साधना, समाज की सेवा एवं राष्ट्र की कल्याण-कामना में है। स्त्री का स्थान घर, समाज, राष्ट्र में पुरुष से कई सहस्र गुना है। वह पुरुष की जननी भी है, प्रेरक भी है, शक्ति भी है। सभी पुराणों की नारियों का प्रधान कार्यक्षेत्र गृह ही रहा है। तत्कालीन समाज उन पर श्रद्धा करता था और परवर्ती समाज ने उन्हें अपना आदर्श माना।

संदर्भ

1. शिवपुराण, सं० पं० श्री रामशर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली
2. श्री शिवमहापुराण भाषा, सं०आ० शिवनाथ राय, रतन एंड कं०, दिल्ली
3. श्री विष्णुपुराण, सं० रामचंद्र वर्मा शास्त्री, धर्म ग्रंथ प्रकाशन, दिल्ली, 1980
4. श्री ब्रह्मवैवर्तपुराण सं० रामचंद्र वर्मा शास्त्री, धर्म ग्रंथ प्रकाशन, दिल्ली, 1982
5. विष्णुपुराण का भारत, डॉ० सर्वानंद पाठक, चौखंबा प्रकाशन, वाराणसी, 1967
6. श्रीमद्भागवत महापुराणम्, गीता प्रेस गोरखपुर
7. पौराणिक संदर्भ कोश, राणा प्रसाद शर्मा, ज्ञानमंडल, काशी
8. मनुस्मृति, पं० हरगोविंद शास्त्री, चौखंबा संस्थान, वाराणसी

जैनेंद्र के उपन्यासों में नारी-पात्रों की उन्मुक्तता

कुलदीप (शोध छात्र, हिंदी)

वीर बहादुरसिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय
जौनपुर (उ०प्र०)

उपन्यास मानव-जीवन का समग्र रूप से चित्रण करनेवाली सशक्त साहित्यिक विधा है। मानव-जीवन की अनेक घटनाओं का चित्रण उपन्यासकार अपने उपन्यासों में करता है। इन घटनाओं को वह पात्रों अथवा चरित्रों के माध्यम से साकार रूप प्रदान करता है। हिंदी-उपन्यास मानव चरित्र-चित्रण करने का अन्यतम माध्यम रहा है। विशेषकर नारी के चरित्रगत विशिष्ट पहलुओं को उपन्यास में सदा ही विशेष महत्त्व दिया जाता रहा है। हिंदी-उपन्यास की विकास-यात्रा की अद्यतन अवधि एक शताब्दी भी पूरी नहीं हुई, पर हिंदी-उपन्यास ने परिवर्तन के अनेक आयामों को स्पर्श किया है, यह हिंदी-उपन्यास की लोकप्रियता का सूचक है। वर्णन, घटना, समाज, व्यक्ति और मन के पड़ावों से होता हुआ हिंदी-उपन्यास निरंतर अपनी मंजिल की ओर अग्रसर है।

नारी तथा पुरुष मानव-जीवन के दो प्रधान पक्ष माने गए हैं। मानव-समाज रूपी रथ इन्हीं दो पहियों के बल पर शनैः शनैः अग्रसर होता है। अतः तात्कालिक समाज में इन दोनों की महत्ता समान है। समय का पहिया निरंतर घूमता रहता है। इस परिवर्तन के साथ सामाज में होने वाले स्त्री-पुरुषों के जीवन में भी स्थित्यंतर हो जाता है। इस परिवर्तन का प्रतिबिंब हम तत्कालीन उपन्यासों में देख सकते हैं। कारण उपन्यास अपने युग की झाँकी लेकर उपस्थित होता है और अपने युग की मौलिकता को आधुनिकता में स्थान देता है। समाज में यह परिवर्तन विशेषतः नारी-जीवन में अधिक दिखाई देता है। भारतीय नारी के जीवन में समय के साथ पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। भारतीय विधान-संहिता के नियामकों में प्रसिद्ध महर्षि मनु ने घोषणा की—‘यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवता’ अर्थात् जिस स्थान पर नारियों की पूजा की जाती है, वहाँ देवता वास करते हैं। ‘ऐतरेय ब्राह्मण’ में नारी को सखा के पद पर प्रतिष्ठित करके उसकी महिमा पुरुष के समान स्वीकार की गई है।

अतः समाज में उसको कभी ‘देवता’ के उदात्त स्थान पर विभूषित किया गया था, तो कभी उसके साथ ‘दासी’ जैसा व्यवहार किया गया। कभी वह पुरुष की ‘प्रेरणादात्री’ बनी है, तो कभी उसका मूल्य मनबहलाव के ‘खिलौने’ से अधिक नहीं माना गया। नारी-जीवन में होने वाले अद्वितीय परिवर्तन ने उपन्यासकारों को भी प्रभावित किया है। उपन्यासकारों को इनका चरित्रांकन करने में निरंतर संघर्ष करना पड़ा है। बदलते समय एवं सामाजिक परिवेश

के साथ उन्होंने उपन्यासों में चित्रित नारी के स्वरूप में भी परिवर्तन कर दिया है।

नारी का जीवन भी समाज में कम संघर्षशील नहीं रहा। उत्थान-पतन के कितने दौरों से गुजरती हुई नारी आज वर्तमान में अपनी स्थिति तक पहुँच सकी है। साहित्यकार की भावना में प्रारंभ से ही नारी दो परस्पर विरोधी रूपों में विद्यमान रही है। एक चिंतन-धारा के अनुसार नारी के गरिमामय उदात्त रूप का प्रस्तुतीकरण हुआ और दूसरी नारी के अवगुणों का मूल्यांकन करके उसे निंदित किया गया। हिंदी-उपन्यास इसका अपवाद नहीं हैं। भारतीय संस्कृति में नारी को बड़ा ही महत्त्व एवं गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। भारतीय दर्शन में नारी को 'प्रकृतिरूपा' 'शक्तिस्वरूपा' 'आदिशक्ति' 'जननी' 'देवी' 'पत्नी' एवं 'प्रेयसी' के रूप में चित्रित किया गया है। सृष्टि के मूल में नारी ही है, यह भारतीय दार्शनिकों की धारणा है। वे प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं। उनकी दृष्टि में नारी 'अनुगामिनी' ही नहीं बल्कि 'सहगामिनी' 'अर्धांगिनी' तथा 'सहचरी' है। प्राचीन साहित्य में नारी को पुरुष के समक्ष स्वीकार किया गया था। परिवार में भी उसे महत्त्वपूर्ण एवं सम्मानीय स्थान प्राप्त था। गृहस्थी के मेरुदंड के रूप में उसे स्वीकार किया गया था। कोई भी पुण्य कार्य बिना पत्नी के अधूरा माना जाता था। अर्थार्जन की स्वतंत्रता के कारण वह आत्मनिर्भर थी।

धीरे-धीरे समाज में होने वाले परिवर्तनों के कारण उनका स्थान गिरता गया, उसके सारे अधिकार छीन लिए गए और वह आर्थिक दृष्टि से पराधीन बन गई। नारी किसी भी प्रकार के स्वातंत्र्य के लिए उपयुक्त नहीं है, उसे हमेशा किसी के अधीन रखना चाहिए, यह विचार समाज में रूढ़ होता गया। स्वयं नारी ने 'किर्तव्यव्यविमूढ़' होते हुए अपने जीवन के साथ समझौता कर लिया, कोई सामाजिक विद्रोह प्रदर्शित नहीं किया।

नारी की सामाजिक, नैतिक स्थिति का यह इतिहास समय के साथ बदलते नारी के स्वरूप हमें उपन्यासों में देखने को मिलते हैं। हिंदी-उपन्यासों में नारी को कथानक का केंद्र मानकर उसके विविध रूपों का उद्घाटन समय-समय पर किया जाता रहा है। पूर्व प्रेमचंद-युग के उपन्यासकार की दृष्टि नारी को लेकर, रीतिकाल की शृंगारिक भावनाओं से ओत-प्रोत थी। इस काल में नारी का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। उसे पुरुषों के मनोरंजन का साधन तथा उपभोग्या 'दासी' के रूप में ही देखा गया था। इस वर्ग के उपन्यासकारों के नारी-पात्र कठपुतली-मात्र थे।

प्रेमचंद-युग में पहली बार मानवीय धरातल पर नारी-पात्रों की अवतारणा का प्रयास किया गया। प्रेमचंद-युग के नारी-पात्र नारी-जीवनोचित सबलता एवं दुर्बलताओं से युक्त थे। प्रेमचंद के बाद हिंदी के विविध उपन्यासकारों ने नारी के विविध रूपों की परिकल्पना की। समाज के स्थान पर व्यक्ति की प्रतिष्ठा का प्रश्न प्रेमचंदोत्तर काल के उपन्यासों का मूलाधार बना पर साथ ही मन की गहनतम गुहाओं में प्रवेश करके चेतन-अवचेतन के संघर्ष को भी प्रेमचंदोत्तर काल के उपन्यासकारों ने प्रस्तुत किया। नैतिक मूल्य छिन्न-भिन्न होने लगे और हमारे पवित्र संबंधों में दरारें पड़ने लगीं। यौन-विकृतियों और जीवन-असंगतियों के खुले चित्र प्रस्तुत करने में उपन्यासकारों का मन रमने लगा। आज कुंठा, संत्रास, घुटन, ऊब और कटु विसंगति के चित्र उपन्यास में प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

सन् 1936 ई० में प्रेमचंद-युग का अंत हो गया। इस काल के बाद मनोविश्लेषणशास्त्र

काफ़ी प्रगति कर चुका था। मनोविश्लेषणशास्त्र के व्यापक प्रभाव ने हमारे हिंदी-उपन्यासकारों का ध्यान भी आकृष्ट किया। मनोविज्ञान के प्रभाव से नारी के मन का विश्लेषण उपन्यासकार अधिक गहराई से करने लगे। वास्तव में मनोविज्ञान की नवीनतम धारणाओं के अनुसार मानव ने सभ्यता और संस्कार के नीचे छिपी पशु-प्रवृत्तियों को बराबर दबाने का प्रयास किया है। ये प्रवृत्तियाँ ऊपर से तो दबी प्रतीत होती हैं परंतु जब मनुष्य सभ्यता का ढोंग रचकर उन प्रवृत्तियों को अधिक दबाने का प्रयत्न करता है तभी ये प्रवृत्तियाँ और भी जागरूक हो जाती हैं और मनुष्य के जीवन को अस्थिर बनाने तथा उसके स्वभाव को विचलित करने का प्रयास करती हैं। 'आधुनिक मनुष्य ने सभ्यता के ऊपरी संस्कारों के लेप से अपने सफ़ेद मन में अवश्य सफ़ेदपोशी कर ली है, पर जिस पर्दे पर वह सफ़ेदपोशी की गई है, वह इतना झीना है कि ज़रा-ज़रा सी बात में वह फट जाता है और उसमें तनिक भी छिद्र पैदा होते ही उसके नीचे दबी पड़ी पशु-प्रवृत्तियाँ परिपूर्ण वेग से विस्फारित होने लगती हैं। इन मूल पशु प्रवृत्तियों को जितने ही जोर से सभ्य मनुष्य नीचे दबाता है, उतने ही प्रवर से वे रबर की गेंद की तरह ऊपर को उछाल मारने लगती हैं।' ¹ प्रेमचंद-युग में नैतिकता के मानदंड उच्च भावभूमि पर आधारित थे। उपन्यास-साहित्य में विशेषतः नारी-स्वरूप की दृष्टि से आविर्भाव क्रांतिकारी सिद्ध हुआ। प्रेमचंद हिंदी-उपन्यास को वायवीय कल्पना-जगत से यथार्थ की ठोस भूमि पर अथवा व्यवहार के वास्तविक धरातल पर ले आए। प्रेमचंद जी ने कहीं भी नैतिकता का उल्लंघन नहीं किया। यही तो उनका आदर्शवाद था। उनके अधिकांश समकालीन उपन्यासकार भी नैतिकता की सीमा में ही रहे, किंतु फ्रायडी मनोविज्ञान ने इस नैतिकता के झीने आवरण को फाड़कर तार-तार कर डाला और आदर्श रूप नैतिकता के स्थान पर एक नई नैतिकता ने जन्म लिया। इस नई नैतिकता ने नारी-पुरुष के लैंगिक-राग को आधान मानकर मानव के अंतर्मन में छिपी उसकी पशु-प्रवृत्तियों का उद्घाटन किया। स्त्री-पुरुष के सारे पवित्र संबंध जीजा-साली, भाई-बहन, देवर-भाभी, इस नई नैतिकता के कारण छिन्न-भिन्न हो गए। देवर के लिए भाभी भाभी नहीं, एक नारी रह गई। भाभी के लिए देवर देवर नहीं, एक पुरुष-मात्र रह गया। भाई-बहन जैसे पवित्र संबंधों पर भी इस नई नैतिकता ने प्रभाव डाला और विकृति की छाप लगा दी। जीजा-साली के संबंधों पर भी इस नई नैतिकता ने प्रभाव डाला। जीजा-साली के संबंधों ने भी एक नया रूप लिया जो 'गिरती दीवारे' के नीला चेतन पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है।

मनोविश्लेषणशास्त्र के व्यापक प्रभाव ने हमारे हिंदी-उपन्यासकारों का ध्यान भी आकृष्ट किया, यह ऊपर कहा जा चुका है। किंतु इतना सत्य है कि मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों से हिंदी-उपन्यास एक नए मार्ग की ओर मुड़ता है। इस मार्ग में मर्यादाओं का प्रश्न नहीं, आदर्शों की समस्या नहीं। स्त्री-पुरुष के सभी संबंध इस मार्ग पर आकर शिथिल हो जाते हैं। प्रेमचंद-युग तक जिन आदर्शों को हम स्वस्थ वातावरण में साँस लेते देखते हैं, वे इस मोड़ पर आकर दम तोड़ देते हैं।

मनोविश्लेषण के द्वारा विद्रोह, पाप और अपराध के विश्लेषण हुए और पापी, विद्रोही, अपराधी के प्रति करुणा-दया की भावना लाई गई। स्त्री-पुरुषों के संबंधों का नए सिरे से अध्ययन हुआ और स्त्री के प्रति अपूर्व संवेदना प्रकट की गई। मनोविश्लेषण ने मुख्यतः

स्त्री-पुरुषों संबंधी मूल्यों और समस्याओं को अपना धरातल बनाया है, क्योंकि फ्रायड के समस्त मनोविश्लेषण-संबंधी सिद्धांत स्त्री-पुरुष के यौन-संबंधों पर ही आधारित हैं। फ्रायड के अनुसार समस्त मनःस्थितियों, मनोद्वेषों और मनोविकारों का मेरुदंड यौन-भावना ही है। अर्थात् फ्रायड ने मानव-जीवन की पूर्ण व्याख्या यौन को केंद्र मानकर की है। फ्रायड के अनुसार दमित कामेच्छाएँ अचेतन से निकलकर चेतन के क्षेत्र में प्रवेश करके मनुष्य का मानसिक संतुलन नष्ट करके अराजकता का दृश्य उपस्थित कर देती हैं। एडलर फ्रायड के इस विचार से मैं सहमत नहीं। उनके अनुसार 'मानसिक विकृतियों का कारण हीनता-ग्रंथि है। इस हीनता-ग्रंथि के कारण मनुष्यों की जीवन-शैली का निर्माण होता है, यह मनुष्य के प्रत्येक व्यापार में प्रतिबिंबित होती रहती है।' ²

इस प्रकार फ्रायड की विचारधारा ने कथासाहित्य को बहुत प्रभावित किया। एडलर की हीनता-ग्रंथि की भावना का प्रभाव भी उपन्यासों पर यत्र-तत्र दीखता है, किंतु आधुनिक कृतियों में यौन-भावना का जितना प्राधान्य है, उतना और किसी का नहीं।

फ्रायड की दृष्टि में चेतना की प्रेरणाधार काम-प्रवृत्ति ही है, जो जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत अविमुक्त भाव से नए-नए रूप धारण करके जीवन में विद्यमान रहती है। यह प्रवृत्ति ग्रंथि बनकर जीवन की स्वस्थता को निषेधात्मक ढंग से प्रभावित करती है।

हिंदी में मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासकारों में जैनेंद्र, अज्ञेय, इलाचंद जोशी, धर्मवीर भारती, विष्णु प्रभाकर, डॉ० देवराज और भगवतीचरण वर्मा के नाम प्रमुख हैं। इनमें जैनेंद्रकुमार का नाम अग्रणीय है। प्रेमचंदोत्तर काल में जैनेंद्र जी के उपन्यासों में मनोविश्लेषण का व्यापक प्रभाव देखने को मिलता है। हिंदी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का प्रारंभ जैनेंद्र के 'परख' और 'सुनीता' उपन्यास से होता है। जैनेंद्र ने सबसे पहले परंपरागत रूढ़िवादी शृंखलाओं और बँधी हुई परिस्थितियों से मुक्त होकर मन की परख की। मन के रहस्यात्मक गह्वरों में बैठने की जैनेंद्र की अंतर्दृष्टि असाधारण है। मनोविश्लेषण में उनकी दृष्टि सर्वथा तात्त्विक है। मनःस्थितियों तथा अंतर्द्वंद्वों के चित्रण में वे सिद्धहस्त हैं। जैनेंद्र के उपन्यासों में समाज और व्यक्ति का संघर्ष नहीं, यदि वहाँ संघर्ष है तो व्यक्ति का अपने व्यक्तित्व से, उसकी सीमा से ही है। 'जैनेंद्र का समस्त साहित्य आत्मपीड़ा की अभिव्यंजना है। चूँकि काम की यातनाओं में आत्म-पीड़न का तीव्रतम रूप प्राप्त है, अतएव काम-प्रवृत्तियों के चित्रण को ही उन्होंने अपने कथासाहित्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।' ³

जैनेंद्र जी के जीवन-दर्शन और उद्देश्य को समझे बिना उनके नारी-चरित्रों तथा उन्मुक्तता को समझना कठिन है। जैनेंद्र जी ने सूक्ष्म को विराट् की गरिमा देने के लिए दो उपकरणों का सहारा लिया—मनोविज्ञान और दर्शन। जैनेंद्र की सभी रचनाओं में कथानकों का मनोवैज्ञानिक निबंधन हुआ है और उनमें चितनपरक उद्गारों का समावेश हुआ है तो दूसरी और दार्शनिक विचारणा की अंतरधारा भी आद्यंत प्रवाहित है। जैनेंद्र ने एक ओर गांधीवादी आदर्श के द्वारा चरित्र के निर्माण और विकास में जीवन की नैतिकता दी, दूसरी ओर उन्होंने गांधीवादी और पुरातन के जीवन-दर्शन से आध्यात्मिकता और आदर्शवाद का आग्रह स्वीकार किया। परोक्ष रूप से उन्होंने बुद्ध की करुणा, महावीर की अहिंसा और गांधी के सत्य से प्रेरणा ग्रहण की।

जैनेंद्र के उपन्यासों में नारी : 'कट्टो' :

जैनेंद्र के प्रमुख उपन्यास हैं, 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत' जो क्रमशः कट्टो, सुनीता, मृणाल, कल्याणी, सुखदा, भुवनमोहिनी और अनिता जैसे नारी-पात्रों को हमारे समक्ष रहते हैं। 'परख' की प्रमुख पात्र है 'कट्टो', जो विधवा है, गाँव की सीधी-साधी, भोली-भाली छोकरी कट्टो, जिसे यह भी पता नहीं कि कब उसका विवाह हुआ और कब वह विधवा हो गई। चौथे वर्ष में उसका विवाह हुआ और पाँच वर्ष की होते-न-होते विधवा हो गई और उसी विधवा शब्द के 'विशेषण' ने कट्टो और सत्यधन को पास-पास लाने का काम किया। 'सत्यधन दशम श्रेणी का छात्र जब कौतुक में कट्टो से कहता—ओ हो विधवा जी! ... तो सात बरस की लड़की का चेहरा एकदम फुट भर लंबा और मन-भर भारी हो जाता है।'⁴ बचपन की विधवा बालिका कट्टो जब युवती हो जाती है, तो अनायास उसके बचपन का परिचय सत्यधन के प्रति प्रेम में परिवर्तित हो जाता है। पर्वी के मेले से कट्टो लाल चूड़ियों और बिंदी-टिकुली की डिबिया ले आती है। माथे पर टिकुली लगाकर शीशे में अपना मुख देखती है तो लाज में जैसे सिकुड़ी-सिकुड़ी जाती है। कट्टो को पूरा-पूरा विश्वास है कि सत्यधन उससे विवाह करेगा, किंतु सत्यधन का व्याह होता है गरिमा से, बिहारी की बहन से। कट्टो सत्यधन से केवल एक याचना करती है कि व्याह के बाद सबसे पहले गरिमा उसके हाथों का बना भोजन करेगी। सत्य के 'हाँ' कहने पर कट्टो सत्य के पाँवों में झुक पड़ती है—'एक बार लोटी थी। तब शाम थी, अब दोपहर है। तब स्वर्ग के द्वार खुल गए थे—आमंत्रणपूर्वक। अब आमंत्रित कट्टों के मुँह पर ही ढाप दिए गए हैं। खुले थे तब भी वह इन पैरों में लोटी थी, बंद कर दिए गए हैं, तब भी वह इनमें ही पड़ी है। उसकी यह कैसी समझ है'⁵

कट्टो एक आदर्श नारी है। वैधव्य और मनोविधान के सुहाग के झूले में उसके मानसिक स्तरों का दोलन कलाकार की निपुणता का परिचय देता है, जिसके फलस्वरूप कट्टो बिहारी को अपना साथी बनाकर सधवा-विधवा ही बनी रहती है। कट्टो, प्रेम में केवल देना ही जानती है, ग्रहण की आकुलता नहीं। जैनेंद्र की भारतीय दार्शनिकता के सहारे कट्टो, सेक्स और समाज की सामान्य परिधि के भीतर रहते हुए भी इनके परे पहुँच जाती है।⁶

बिहारी में आदर्श पुरुष के दर्शन होते हैं। कट्टो और बिहारी दोनों इंद्रियजन्य सुखों की सीमा से ऊपर एक आध्यात्मिक मनोलोक का निर्माण करते हैं। जहाँ वे माया-ब्रह्मा की तरह दूर रहकर भी पास और पास रहकर दूर हैं। सत्यधन की दुर्बलता से कट्टो का चरित्र और भी निखर जाता है। कट्टो अनुराग की बलिवेदी पर अपने 'स्व' की बलि चढ़ाकर सेवाधर्म के मार्ग की उन्मुख होती है। इस आत्मसमर्पण में उसका अटल विश्वास है।

कट्टो और बिहारी का विवाह आध्यात्मिक विवाह है। अपनी व्यथा-वेदना और अपनी उत्सर्ग-भावना के लिए कट्टो बिहारी से सदा के लिए एक वज्र से भी कठोर और फूल से भी कोमल तंतु में आबद्ध हो जाती है। वे दोनों प्रतिज्ञा करते हैं—'हम दोनों वैधव्य-यज्ञ की प्रतिज्ञा में एक-दूसरे का हाथ लेकर आजन्म बँधते हैं। हम एक होंगे—एक प्राण दो तन। कोई हमें जुदा नहीं कर सकेगा'⁷ कट्टो और बिहारी के परिणय में लेखक ने एक नवीन भावना, नूतन आदर्श चित्रित किया है। उनका शारीरिक नहीं, केवल आत्मिक है। 'कट्टो' ने बिहारी

में अपना प्रतिरूप देखा और बिहारी ने 'कट्टो' में। शरीर के स्थूल आवरण को भेदकर ये दोनों छायाएँ एकाकार हो गईं। भौतिकता को भेदकर आत्मिकता की गहराई में पैठकर 'परख-कार' ने जिस सत्य का चित्रण किया है, उसके साथ सौंदर्य और मंगल विवशतापूर्वक खिंच आए हैं।'⁸

नारी-जीवन की कोमलता, उदारता, त्याग, कमनीयता और भावुकता कट्टो में टूँस-टूँसकर भरी पड़ी है। परख के बारे में जैनेंद्र ने स्वयं लिखा है—'साहित्य का लक्षण रस है, रस प्रेम है, प्रेम अहंकार का उत्सर्ग है। हृदय का उत्सर्ग अधिक स्थाई है। इससे भी ऊपर है 'अपने स्व का उत्सर्ग' कट्टो ने यही किया है। अपने हृदय के वास्तविक समर्पण के साथ-साथ प्रिय के पाने की भावना का भी उत्सर्ग। यही तो कट्टो की सबसे बड़ी विशेषता है। 'वास्तव में कट्टो आदर्श जगत् की अलौकिक सृष्टि है। विग्रह ऊर्जस्वित कल्पना और लोकातीत आदर्शों के कोमल एवं रेशमी तंतुओं से बना है।'⁹ 'परख' के चरित्रों के बारे में जैनेंद्र जी ने लिखा है '... सत्यधन की व्यर्थता मेरी है और बिहारी की सफलता मेरी भावनाओं की है और कट्टो वह है, जिसने मुझे व्यर्थ किया और जिसे मैं अपनी समस्त भावनाओं का वरदान देना चाहता था।'¹⁰

जैनेंद्र जी का यह दृष्टिकोण 'कट्टो' के बारे में बड़ा संकुचित-सा लगता है। कट्टो के चरित्र की महानता के प्रभाव से पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाते, यही उसकी सबसे बड़ी सफलता है।

सुनीता :

'सुनीता' जैनेंद्र जी की 'परख' से ज़रा भिन्न कृति है। यहाँ उपन्यासकार दार्शनिक बन बैठा है। हरिप्रसन्न, श्रीकांत और सुनीता को विशिष्ट परिस्थितियों में डालकर उपन्यासकार दार्शनिक विवेचन द्वारा आगे बढ़ता है। 'स्व' और 'पर' के भेद-अभेद की विवेचना और मैं और 'मेरा' के जीवन-संघर्ष की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का चित्रण जैनेंद्रकुमार ने मनोवैज्ञानिक तूलिका से किया है। कहानी का हरिप्रसन्न एक राष्ट्रीय कार्य करता है। वह अपने मित्र श्रीकांत के घर जाता है, श्रीकांत की पत्नी सुनीता हरिप्रसन्न के संपर्क में आती है। हरि सुनीता की ओर आकर्षित होता है और यही आकर्षण आसक्ति में बदल जाता है। 'श्रीकांत' हरि और सुनीता को अकेले छोड़कर बाहर चला जाता है। उसकी अनुपस्थिति में हरिप्रसन्न की आसक्ति एकांत पाकर सुनीता के प्रति बढ़ जाती है। सुनीता नग्न होकर हरि की वासना शांत करने को तैयार हो जाती है। हरि की मोह-निद्रा टूट जाती है। हरि सुनीता को घर पहुँचाकर सदैव के लिए चला जाता है।

सुनीता के निरावरण के प्रसंग को लेकर अनेक आलोचकों ने जैनेंद्र पर अनीति और नग्नवादिता का आरोपण किया है। गंगाप्रसाद पांडेय की दृष्टि में 'सुनीता का चरित्र भी अपने विषय में दुनिया को और अपने को धोखा देने का एक नियोजन-मात्र है। उसे हम असाधारण और अलौकिक भी कह सकते हैं, क्योंकि वह या तो देवी है या दानवी, उसे लेखक के हाथ की कठपुतली भी कहा जा सकता है। मानवी का उसमें आभास नहीं है।'¹¹ यज्ञदत्त शर्मा के विचार में— 'हरि को ज्ञान देने के लिए सुनीता का नग्न-प्रदर्शित करना अनौचित्य और अस्वाभाविकता की पराकाष्ठा ही मैं मानता हूँ।'¹² किंतु आलोचकों की दृष्टि में सुनीता के नग्न

होने की घटना पर गांधीजी के अहिंसात्मक दृष्टिकोण की छाप है।

शिवनाथ जी सुनीता के दिगंबर हो जाने वाले रहस्य को गांधी जी की अहिंसा का साहित्यिक प्रतिपादन मानते हैं। सुनीता, हरि की काम हिंसा को अपना समस्त अंग बलि कर देना चाहती है। सुनीता की अहिंसा हरिप्रसन्न की हिंसा पर विजय भी पाती है। हरिप्रसन्न के मन का देवता जाग्रत हो जाता है। सुनीता भी अपनी अहिंसा के माध्यम द्वारा पाप से छुटकारा पाती है। शिवनाथ जी के इस दृष्टिकोण से मैं सहमत नहीं हूँ। 'सुनीता प्रारंभ से हरिप्रसन्न के प्रति आकर्षित-सी है। सुनीता और श्रीकांत का वैवाहिक जीवन कभी भी पारस्परिक प्रेम के आधिक्य से अधिक उष्ण और घनिष्ठ नहीं रहा है। उसका सांसारिक मन पहले तो यह स्वीकार ही करना नहीं चाहता कि वह एक पत्नी होते हुए अन्य पुरुष के प्रति आकृष्ट है किंतु वस्तुस्थिति का विकास होता है तो पति और प्रेमी को लेकर उसका अंतःसंघर्ष अत्यंत मार्मिक हो जाता है'¹³ यद्यपि यह ठीक है कि सुनीता के मन में पति श्रीकांत के प्रति निश्चलता की भावना है, किंतु इस निश्चलता में भी एक कृत्रिमता के दर्शन होते हैं। निरावरण की स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते सुनीता का चरित्र इतना उदात्त बन जाता है कि वह पति के प्रति उमड़ती हुई अपनी चेतना को नहीं रोक पाती। हरिप्रसन्न के चले जाने के बाद वह श्रीकांत से कहती है—

'लेकिन अब मुझे छोड़कर तुम न जाना। क्या विधाता ने हमें व्यर्थ ही नारी बनाया है? इस प्रार्थना का अधिकार क्या हमें पति के निकट भी न होगा कि स्वामी से कहें नाथ, हमें छोड़कर जाना मत! इस अधिकार में तो तुम सदा मेरे हो।' ¹⁴ मानो ऐसा आभास होता है जैसे पति की अनुपस्थिति में सुनीता को अपने नारीत्व-सतीत्व पर विश्वास नहीं है। इसका कारण कदाचित्त यह हो कि पति की अनुपस्थिति में ही उसके साथ हरिप्रसन्न को लेकर यह निरावरण होने की घटना घटी। किंतु नारी का नारीत्व इतना सस्ता नहीं कि वह पुरुष-मात्र को देखकर फिसल जाए। पति की अनुपस्थिति में भी नारी अपने नारीत्व की रक्षा करने में समर्थ है इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं। सुनीता के मन में ही कहीं ऐसा दौर्बल्य है, जो उसके हृदय के आत्मविश्वास को उससे छीन लेता है। फिर इस निरावरण होने की घटना पर गांधी के अहिंसात्मक सिद्धांतों का आरोप करना भी कुछ जँचता नहीं।

'सुनीता और हरिप्रसन्न के पारस्परिक व्यवहारों में आदि से अंत तक एक विचित्र झिझक, गोपनीयता या छिपावत की प्रवृत्ति पाई जाती है। एक अस्वस्थ-सा संबंध दोनों का मालूम देता है, जो भाभी या अन्य ऐसे शब्दों की आड़ में भी छिपता नहीं। इसी कारण सुनीता और हरिप्रसन्न के चरित्रों में एक अजीब रहस्यात्मकता आ गई है, जो इसी दुराव अथवा छिपाव का परिणाम है। इसे कोई आध्यात्मिक, उच्च मनोभावना भूलकर कभी नहीं समझा जा सकता।' ¹⁵

स्पष्ट है कि सुनीता और हरिप्रसन्न का संबंध यौन-भावना पर आधारित है। हरिप्रसन्न के तो चरित्र का ही प्राणतत्त्व उसकी काम-अमुक्ति (फ्रस्ट्रेशन) है और यही अमुक्ति हरिप्रसन्न के व्यक्तित्व में एक ग्रंथि बन गई है। डॉ० विनयमोहन शर्मा ने सुनीता और हरिप्रसन्न के अंतिम पृष्ठों वाले प्रसंग को पूरा उद्धृत करते हुए जैनेंद्र जी को अश्लीलतापरक वास्तववाद के चित्रण की दृष्टि से हिंदी का पहला उपन्यासकार माना है।

'सुनीता' में सुनीता की मौलिक समस्या पर ध्यान केंद्रित करने पर उसकी दो

समस्याएँ खुलकर प्रस्तुत पटल पर आती हैं। घर बाहर की समस्या और दूसरी प्रेम की समस्या। यहाँ प्रेम के दो रूप इसमें अंकित हुए हैं—स्वच्छंद प्रेम और दूसरा समाज की मर्यादाओं से बँधा पति-प्रेम। सुनीता जब श्रीकांत के चरणों में पहुँचकर अभयदान पा जाती है तो पति-प्रेम की पवित्रता के सम्मुख स्वच्छंद प्रेम की सारी कलुषता बह जाती है। जैनैन्द्र कहते हैं—‘क्या सुनीता का घर टूटा है? क्या उस घर को बाहर के प्रति बंद किया है? नहीं, ऐसा नहीं। दोनों में से कौन किसके प्रति सहानुभूति से हीन है? शायद कोई भी नहीं। दोनों शाश्वत रूप से क्या परस्परापेक्षाशील नहीं हैं?’

मृणाल :

‘त्यागपत्र’ की मृणाल का चरित्र भी सुनीता की तरह अस्पष्ट और रहस्यमय—सा लगता है। एक ओर डॉ॰ नगेंद्र आदि विद्वानों की दृष्टि में ‘त्यागपत्र’ को सर्वोत्कृष्ट कोटि का स्थान मिला है तो दूसरी ओर आचार्य नंददुलारे बाजपेयी जैसे मूर्धन्य समीक्षकों ने समाज के हिताहित की तराजू पर ‘त्यागपत्र’ को तोलकर इसके महत्त्व को संदिग्ध बना दिया है।

मृणाल मातृ-पितृ विहीन बालिका है, जिसका पालन-पोषण होता है अपने भाई और भाभी द्वारा। स्कूल में पढ़ते समय एक सहेली के डाक्टर भाई से मृणाल बुरी तरह पिटती है और एक वयस्क के पल्ले उसके जीवन की गाँठ बाँध दी जाती है। मृणाल पति से एक दिन अपने विवाह से पहले के प्रेम का जिज्ञास कर देती है। परिणाम होता है बहुत भीषण। गर्भावस्था में उसे एक कोयले वाले की शरण लेनी पड़ती है। अंत में मृणाल की मृत्यु बड़ी नारकीय यातनाओं के बीच होती है। यहाँ जैनैन्द्र की कला यथार्थ का आकुल आलिंगन करती है। मृणाल का भतीजा प्रमोद इस संपूर्ण कहानी का द्रष्टा और कथाकार है। अपनी बुआ से उसे अतिशय प्रेम है। बुआ की मृत्यु से वह इतना दुःखी होता है कि जजी से त्यागपत्र देकर विरक्त हो जाता है।

जैनैन्द्र की दृष्टि में आत्मव्यथा अथवा आत्मपीड़न जीवनादर्श की प्राप्ति के लिए सर्वोपरि है, उनका यही सिद्धांत मृणाल के चरित्र में प्रतिफलित हुआ है। ‘पग-पग पर जीवन में अन्याय और अनाचार मिलते रहने पर मृणाल उस असत् के प्रति हिंसात्मक प्रतिक्रिया का आश्रय नहीं लेती। उसका समस्त व्यक्तित्व अभुक्त-वासना से आलोडित है, फिर भी वह उसको अभिव्यक्ति न देती हुई तप और साधना के मार्ग का अवलंबन लेती है।’¹⁶

मृणाल, प्रमोद के यह कहने पर कि वह समाज की परवाह नहीं करता, कहती है—‘मैं समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती हूँ। समाज टूटा कि फिर हम किसके भीतर बनेंगे। इसलिए मैं इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में खुद ही टूटती रहूँ।’¹⁷

मृणाल के अंतर की व्यथा इन शब्दों में स्पष्टतः व्यंजित हो उठी है। आचार्य नंददुलारे बाजपेयी में ‘अवश्य यह उपन्यास मृणाल के दुःखों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करता है (दुःख के प्रति स्वभावतः सहानुभूति होती है) पर हम यह नहीं जान पाते कि मृणाल वास्तव में चाहती क्या है और किस प्रकार उसका दुःख दूर हो सकेगा? फल यह होता है कि हमारी सहानुभूति कोई सुदृढ़ आधार नहीं पाती और वह अनिश्चित अनिर्दिष्ट—सी बनी रहती है। यदि मृणाल का व्यक्तित्व सुस्पष्ट होता, यदि हम उसके दुःखों और कष्टों के स्वरूप तथा

उसके कारणों को ठीक-ठीक समझ पाते तो निश्चय ही यह उपन्यास अब की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली हो जाता।’¹⁸

बाजपेयी जी के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि वे आत्मपीड़न के महत्त्व के बारे में कोई मान्यता नहीं रखते। आत्मपीड़न एक साधना है। इससे अहंवृत्ति का नाश होता है। मृणाल जब अपघात करने में भी अहंकार की सत्ता मानती है और इस कारण आत्महत्या नहीं करती, तो समाज को चैलेंज देने का विचार भी उसके मन में कैसे आ सकता है? मृणाल के हृदय में कोयले वाले के प्रति निस्सीम करुणा है। उसको सुख देने के लिए उसे अपनी इच्छा का दमन करना पड़ता है और आत्म-कष्ट झेलना पड़ता है। उसके हृदय में समाज के विधान के प्रति कहीं भी विरोध और प्रतिहिंसा की भावना नहीं है। मृणाल पति-परित्यक्ता असहाय नारी है। पितृ-गृह में भी उसके लिए स्थान नहीं है। ‘स्त्री जब तक ससुराल की है तभी तक मैके की है, ससुराल से टूटी तब मैके से तो आप ही मैं टूट गई थी।’¹⁹

मृणाल समाज की उच्छिष्ट है जो (समाज) उसके उच्छिष्ट हैं या उच्छिष्ट बनना पसंद कर सकते हैं, उन्हीं को जीवन के साथ नए प्रयोग करने की छूट हो सकती है।’²⁰ और वास्तव में आत्मपीड़न की दृष्टि से मृणाल का यह जीवन एक प्रयोग ही तो है। उसके जीवन की करुणा से हृदय द्रवीभूत होता है, आँखें भर आती हैं और भारी मन से हम समझने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि मृणाल के पतन में मृणाल का उतना हाथ नहीं, जितना समाज का है। विवाह से पहले प्रेम करने वाली नारी यह प्रेम की विभीषिका का बोझा जीवन-पर्यंत ढोती है—नाना यातनाएँ सहती है। यदि मृणाल का विवाह उसके इच्छित डाक्टर से कर दिया जाता, तो समाज की ये तथाकथित मर्यादाएँ टूट जातीं न। फिर तभी तो समाज के लिए मृणाल टूट गई। समाज झुका भी नहीं, उसने एक बार सजल दृष्टि से मृणाल की ओर देखा भी नहीं। मृणाल मिट गई। यह तो नारी का युग-युग की करुणा से परिप्लावित इतिहास है।

कल्याणी :

‘कल्याणी’ की कल्याणी का चरित्र प्रारंभ से ही संदेहास्पद है। वह विलायत से लौटकर आती है। उसके संबंध में अनेक प्रवाद फैलाए जाते हैं। कल्याणी सदा पश्चात्ताप की अग्नि में जलती रहती है, पर किस बात का पश्चात्ताप है, यह अंत तक स्पष्ट नहीं होता, कल्याणी के पति डाक्टर असरानी पुराने विचारों के व्यक्ति होने के नाते कल्याणी को पूर्ण रूप से गृहिणी के रूप में देखना चाहते हैं। कल्याणी अपनी प्रैक्टिस छोड़कर पूर्ण रूप से गृहिणी बनने को भी तैयार है, पर आय कम हो जाने के कारण गृहस्थी नहीं चल पाती। कल्याणी के सामने एक ओर विलायत, ठाठ-बाट और शिक्षा-संस्कृति की भौतिक पहचान चकाचौंध है, दूसरी ओर भारतीय गृहस्थी का प्राचीन आदर्श। दोनों का पालन करना आवश्यक है, पर सहज नहीं। इन दोनों विरोधी आदर्शों की विषमता के द्वंद्व में वह समाप्त हो जाती है। पति उस पर दुश्चरित्रता का दोषारोपण करके उसे मारते-पीटते हैं, पर कल्याणी चुप रहती है—सबकुछ सहती है। एक स्थान पर वह वकील साहब से कहती है— ‘आप मुझसे डरिए नहीं। और मुझे निर्दोष भी न मानिएगा। स्त्री निर्दोष हो सकती है? पहला दोष यही है कि वह स्त्री है।’²⁰

कल्याणी के भूतपूर्व जीवन के संबंध की बातें धीरे-धीरे खुलती हैं। अंत में पता

चलता है कि विदेश में बैरिस्टर-प्रीमियर मित्र को निराश करने के कारण ही उसे अवसाद और अतृप्ति है। यही तत्त्व कथानक को रहस्यवादी बना देता है।

‘कल्याणी में जितने भी अंतर्विरोध मिलते हैं, उनका कारण है आदर्श और अतृप्ति का संघर्ष। एक और तो वह अपने पति के प्रति आदर्श-पत्नी बनने की आकांक्षा रखती है और दूसरी ओर अपने मन की निराश प्रेमपरक प्रवृत्तियों के कारण संदेहजनक आचरण करती है।’²¹

‘निजत्व को बरबस दबाने के प्रयत्न ने कल्याणी को बड़ा ही दयनीय बना दिया है। जीवन के अंत तक वह अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं को पति की इच्छा पर निछावर करती रहीं। इस प्रयत्न में वह स्वयं शून्य होती गई और एक दिन असंतोष की ज्वाला को हृदय में धधकाए वह सदा के लिए अकस्मात् मूक हो गई।’²² कल्याणी का व्यक्तित्व बड़ा रहस्यमय एवं करुणा से परिपूर्ण है। पाठक का हृदय उसके प्रति सहानुभूति और करुणा से सहज ही अभिभूत हो जाता है।

सुखदा :

‘सुखदा’ की सुखदा संपन्न घर की लड़की है। शिक्षा यद्यपि उसकी विशेष नहीं, लेकिन असामान्य रूप अवश्य मिला है। सुखदा का पति डेढ़ सौ रुपये माहवार पाता है। प्रारंभ में तो सुखदा पति से प्राप्त प्रणय में विभोर रहती है। धीरे-धीरे उसे अपने जीवन में अभाव दृष्टिगोचर होने लगते हैं। बच्चा होने के बाद भी उसके जीवन में अतृप्ति बनी ही रहती है। तभी सुखदा का परिचय क्रांतिकारी लाल से होता है। उसके अहम् को अभिव्यक्ति की राह मिलती है। पति ‘नीरस’ ‘सामान्य’ और ‘कायर’ मात्र लगने लगता है। सार्वजनिक संपर्क के बढ़ने पर सुखदा क्रांतिकारी संघ की उपाध्यक्षा निर्वाचित की जाती है। सुखदा लाल की ओर आकर्षित होती है। उसके पति कांत को जब सुखदा और लाल के प्रेम का निश्चित प्रमाण मिलता है तो उसके हृदय में विरोध नहीं उठता। सुखदा के लिए लाल के कमरे में अलग रहने के लिए वह प्रसन्न भाव से पूरा-पूरा प्रबंध कर देता है। अंत में सुखदा क्षय की रोगिणी के रूप में अपने जीवन के अंतिम दिन काटती दीखती है।

इस उपन्यास में लेखक ने चिरकाल से पिष्टपेषित समस्या को लिया है— नारी का घर की सीमा का अतिक्रमण करके सार्वजनिक होना कहाँ तक समीचीन है?

भुवनमोहिनी :

‘विवर्त’ की भुवनमोहिनी भी अन्य नारी-पात्रों के समान ही जटिल है। विवाह के बाद जितने के प्रति उसका संबंध असंदिग्ध किंतु मर्यादाशील स्नेह का है। एक बार जितने से संबंध-विच्छेद हो जाने पर मोहिनी का विवाह हो जाता है। फिर जितने उसके जीवन में आता है तो मोहिनी के अंतर्मन में भीषण संघर्ष छिड़ जाता है। मोहिनी अपने पति को जितने का असली परिचय नहीं देती और उसकी पुलिस से सब प्रकार से रक्षा करती है। नरेश में मोहिनी के अतीत के प्रति ईर्ष्यापरक जिज्ञासा का भाव नहीं है। वह उसके वर्तमान की स्पष्टता व सुलभता से संतुष्ट है। उसे मोहिनी में अत्यधिक विश्वास है। वह मोहिनी के सुख के लिए अपने सामाजिक संबंध यश आदि को त्याग देने के लिए सभी प्रकार से तत्पर है। अपनी पत्नी को बंदी करनेवाले जितने के लिए कटिबद्धता, मोहिनी के प्रति उसकी सहृदयता, प्रेम तथा

श्रद्धा के परिचायक हैं। मोहिनी को भी अपने पति नरेश में पूर्ण विश्वास है, उसके प्रति अपने कर्तव्यकर्मों का उसे समुचित ज्ञान है।

‘वास्तव में पति में पूर्ण अनुरक्त होने और उसकी अपने में यथेष्ट आस्था पाने के कारण ही मोहिनी जितने के प्रति विवाह से पूर्व के प्रेम को स्थिर रखकर उसके समस्त व्यक्तित्व एवं चेतना में क्रांति लाने में सफल हो सकी है।’²³

अनिता :

‘विवर्त’ के बाद जैनद्र का ‘व्यतीत’ उपन्यास प्रकाशित हुआ। इसमें ‘एक पुरुष की एक स्त्री के प्रति— जयंत की अनिता के प्रति— रुग्ण आसक्ति (मारबिड फिक्शेसन) की अवस्था में पुरुष की मनःस्थिति का लेखा है। इस आसक्ति के मूल में जयंत की आहत अहमन्यता अवस्थित है।’²⁴

अनिता जयंत की दूर के रिश्ते की बहन है, जिसका विवाह महाशय पुरी से हो जाता है, किंतु जयंत अपनी इस बहन से प्रेम करता है। थोड़े दिनों पश्चात् जयंत के जीवन में सुमिता आती है, जो उसके ज्येष्ठ अधिकारी संपादक की पुत्री है। किंतु जयंत का सुमिता को नकारात्मक उत्तर रहता है। कमीशन लेने के लिए शिमला पहुँचने पर जयंत के जीवन में तीसरी नारी चंद्री आती है, जो उसके मित्र कुमार की ‘कजिन’ है किंतु जयंत चंद्री को देखकर बाहर से उदासीन ही बना रहता है।

किंतु धीरे-धीरे दोनों की घनिष्ठता बढ़ती है और विवाह हो जाता है। अनिता के कारण पति-पत्नी का व्यवधान बढ़ता है और अंत में चंद्री जयंत को छोड़कर चली जाती है। चौथी स्त्री कपिल घायल जयंत के जीवन में अस्पताल में आती है। कपिला से भगिनीत्व मिलता है किंतु तभी अनिता जयंत को कपिला से दूर ले जाती है। कलकत्ते के होटल में एकांत कक्ष में जयंत अनिता का समर्पण चाहता है। अनिता जब देह-दान के लिए तत्पर होती तो जयंत विरक्त होकर चल देता है।

‘व्यतीत’ की अनिता की अपनी मौलिकता है। रूढ़ि उसमें है। पति के प्रति वह विरक्त नहीं हो सकती। उसके लिए उसमें अत्यधिक श्रद्धा है, किंतु प्रेमी के प्रति उससे भी अधिक अगाध प्रेम है। सुनीता की भाँति वह प्रणयी को अपना शरीर देने के लिए तैयार है किंतु पति की आज्ञा से नहीं—स्वेच्छा से। लेकिन एक बार ऐसी अनिता को परंपरा से प्राप्त संस्कार उन्नत भी बना देते हैं और वह अपने सतीत्व की रक्षा के लिए जयंत को दुष्ट और नराधम ठहराती है, और उससे संघर्ष करने के कटिबद्ध हो जाती है। लेकिन वह संस्कारों से उत्पन्न क्षणिक भावोन्माद ही था, इससे अधिक कुछ नहीं।

इला और लिजा :

जैनद्र ने डायरी शैली में लिखित ‘जयवर्धन’ उपन्यास में दो नारी-पात्रों इला और लिजा (एलिजाबेथ) का चित्रण किया है। इला एक ऐसी नारी है, जो जन्म कहीं लेती है, पाली कहीं जाती है, पहला प्रेम या पहला गुनाह किसी से करती है और रहती किसी और के साथ—मतलब यह है जयवर्धन के साथ। ... नतीजा यह होता है कि वह चर्चा का— स्कैंडल का—विषय बनती है। एब बवंडर उठ खड़ा होता है और देश की समूची राजनीति, उसका

अतीत, वर्तमान और भविष्य सभी कुछ उसमें समा जाता है। बात यहाँ तक बढ़ती है कि इला, जो अपने आपको जयवर्धन की रक्षिका समझती थी, कह उठती है, 'कहाँ मैं जय की रक्षा सोचती हूँ, कहाँ मेरा ही नाम प्रहार की कटार बनेगा।' ²⁵

लिजा में विवाह-संस्था के प्रति गहरा असंतोष है। अपने पति नाथ से उसका विरोध है और जयवर्धन से उसे प्रेम है। एक स्थान पर वह विलवर ह्यूस्टन से कहती है—'विवाह यों प्रतिज्ञा है, पर सच कहिए, सामयिक सुविधा से वह अधिक है? प्रेम तो उसमें साथ देता नहीं, प्रेम मुक्त है, विवाह आबद्ध है अंत विवाह बस निर्वाह ही रहता है। ईर्ष्या से बाँधे तभी बाँधा रह सकता है, विवाह टिकाने को ईर्ष्या जरूरी है, द्वार पर पहरे के लिए ईर्ष्या को बिठाकर ही मानो विवाह की सुरक्षा में रहा जा सकता ... यह सब बेकार है, अड़चन भी है, उपयोग में अड़चन है और स्वतंत्रता और पूर्णता में ... !' ²⁶

जैनेंद्र की इला और लिजा में उनके अन्य नारी-पात्रों का स्वर ही मुखरित हो उठा है, ज़रा भी स्थिति में परिवर्तन नहीं।

जैनेंद्र के उपन्यासों के नारी-पात्र मिलनसार प्रवृत्ति के हैं तथा एक-दूसरे से बहुत मिलते-जुलते हैं। कट्टो, कल्याणी, सुनीता, मृणाल, सुखदा, मोहिनी आदि सती स्त्री-पात्रों के चरित्र का मूल तत्त्व उनके हृदय यही करुणा है। जैनेंद्र के नारी-पात्र प्राचीन परंपरागत रूढ़ियों के दास हैं। सामाजिक बंधनों को तोड़ना तो उनके लिए दूर की बात है, वे उनसे बाहर भी कभी भूलकर नहीं जा सकते। परंपरागत मर्यादाओं तथा सामाजिक बंधनों के जाल से मुक्त नहीं हैं और न ही यत्र-तत्र मुक्त होना चाहती हैं। उनकी सभी नायिकाएँ अपनी समस्या के सागर में स्वयं लीन हो जाती हैं। परंतु उनका यह बलिदान अर्थहीन नहीं होता। उनकी सभी नायिकाएँ अपनी समस्या के सागर में स्वयं लीन हो जाती हैं। परंतु उनका यह बलिदान अर्थहीन नहीं होता। उनकी उत्सर्ग रूप करुणा की व्यापकता से कोई इंकार नहीं कर सकता। सुंदर, यश, कीर्ति अथवा सिद्धांतों के लिए आत्मत्याग जीवन की असफलता का नहीं, बल्कि सफलता का सूचक अथवा कुंजी है।

महादेवी जी के साथ मानो जैनेंद्र जी भी कह रहे हैं— 'एक मिटने में सौ वरदान' ²⁷ कट्टो, सुनीता, कल्याणी तथा मृणाल दुनिया की दृष्टि में जो भी हो किंतु उनके अंतर में प्रवेश करते हैं तो वहाँ एक आलोक की ज्वाला-सी जलती हुई पाते हैं। समाज के अत्याचार को मूक रूप से सहन करती हुई ये नारियाँ समाज को तोड़ने का कभी विचार भी नहीं करतीं।' ²⁸

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि जैनेंद्र के उपन्यासों में मनोविश्लेषणशास्त्र का व्यापक प्रभाव स्पष्टतः पड़ा है। उनके समस्त नारी-पात्र मानसिक घात-प्रतिघात से परिचालित होते से दीखते हैं। किसी भी नारी-पात्र को लें तो उसका मन-चेतन और अवचेतन के द्वंद्व से प्रभावित है। सुनीता, कट्टो, भुवनमोहिनी, कल्याणी सभी का अंतर्द्वंद्व अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ है। सभी के जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं, जो उनके जीवन को मानसिक पीड़ा से भर देने का उपक्रम करती हैं।

जैनेंद्र की नारियाँ यौन-संबंधों की विकृति का शिकार हैं। उनमें लैंगिक-राग के समक्ष विवाह-संस्था की दृढ़-पवित्रता की भित्ति भी बालू की दीवार की तरह ढहती-पड़ती दीखती है। सुनीता-हरिप्रसन्न, देवर-भाभी होते हुए भी यौन-विकृति के शिकार हैं। 'त्यागपत्र'

की मृणाल का कोयले वाले के साथ संबंध सर्वथा अनैतिक है। 'सुखदा' की सुखदा विवाहिता है। एक बच्चे की माँ होते हुए भी वह अतृप्त रहती है, और अन्यत्र तृप्ति मिलती है लाल के संसर्ग में आकर। 'व्यतीत' की अनिता-जयंत की बहन है दूर के रिश्ते की। लेकिन देह-दान के लिए जयंत के समक्ष तात्कालिक तत्पर हो जाना इसी अतृप्त यौन-भावना का ही परिणाम है। 'विवर्त' की भुवनमोहिनी और जितेन का संबंध भी रहस्यात्मकता से ओत-प्रोत है। यौन-भावना मनोविश्लेषणशास्त्र की मूल तथा मौलिक समस्या है। अतः जैनेंद्र के नारी-पात्रों में यौन-आकर्षण का प्राबल्य होना आश्चर्य की बात नहीं। जैनेंद्र ने सामाजिक दृष्टि से क्षीणता के कारण सामाजिक विवशताओं और नैतिक वर्जनाओं की ओर उतना ध्यान नहीं दिया, जितना नारी और पुरुष की अतृप्त वासनाजनित कुंठाओं और मानसिक ग्रंथियों की ओर। जैनेंद्र की नारियों का रुद्ध भावावेग किसी तीव्र आघात से फूट पड़ता है और वे पुरुष के चरणों में अपने संपूर्ण नारीत्व का समर्पण करने को प्रस्तुत हो उठती हैं। जैनेंद्र की दृष्टि में नर-नारी की समस्या का समाधान आत्मलय ही है।

जैनेंद्र की नारी की कल्पना मीरा अथवा राधा के समीप है। मीरा में क्या था? कि पति को लाँघकर उसने विराट की चिंतना में समर्पित होने की प्रेरणा पाई और फिर भी समाज में श्रद्धा की पात्र बनी है। राधा भी इस तरह पति को लाँघकर उस विराट के प्रति समर्पित हुई थी। आज वह घर-घर में पूजी जाती हैं। जैनेंद्र की नारी पति की अवहेलना नहीं करती। उनके सम्मुख तो वह इतनी कर्तव्यगत है, इतनी सत्यप्रिय है कि पतिव्रता भी लज्जित होंगे। फिर भी उसके अंदर कुछ उमड़ता है जो उसे समाज से इतर भी प्रकृति के प्रति, विराट के प्रति उन्मुख होने लिए प्रेरित करता है, उसे जैसा भास होता है कि समाज इति नहीं है, इसके आगे भी देखना होगा। यह प्रवृत्ति, सोच, एकदम शुद्ध भारतीय प्राण है। भारतीय सभ्यता-संस्कृति की परिपक्वता की मिसाल है। जैनेंद्रकुमार कहते थे—'मुझे तो लगता है राधा भी अपने जमाने में खूब तिरस्कृता और लाँछिता रही होगी।' ²⁹

निस्संदेह, उपन्यास मानवीय संवेदनाओं की आधार-भित्ति पर टिकी हुई आज की सशक्ततम विधा है, उसका क्षेत्र व्यापक है, पर इस सत्य को भी नकारा नहीं जा सकता कि यौन-कुंठाओं और दमित वासनाओं के अश्लील एवं नग्न चित्रों से कोई कला चिरंतन नहीं हो सकती। नैतिक मूल्यों के प्रश्न को अपने सांस्कृतिक परिवेश में नकारा नहीं जा सकता। आज का उपन्यासकार यदि उक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर अपने उपन्यास में नारी-उन्मुक्तता की परिधि को सीमित रखते हुए नारी-चरित्रांकन की ओर प्रवृत्त होगा तो स्वस्थ परंपराओं का निश्चित रूप से विकास होगा और हिंदी-उपन्यासों में विकास की नई संभावनाओं के द्वार खुलेंगे।

संदर्भ

1. 'प्रेम और छाया' इलाचंद्र जोशी, भूमिका से।
2. आधुनिक हिंदी-कथासाहित्य और मनोविज्ञान, डॉ० देवराज उपाध्याय, पृ० 52-53
3. जैनेंद्र और उनके उपन्यास, रघुनाथसरन झालनी, पृ० 102
4. 'परख' जैनेंद्रकुमार, पृ० 13

5. 'परख' जैनेंद्रकुमार, पृ० 100
6. हिंदी-कथासाहित्य, गंगाप्रसाद पांडेय, पृ० 94-95
7. 'परख' जैनेंद्रकुमार, पृ० 104
8. हिंदी-उपन्यास, शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ० 235
9. जैनेंद्र और उनके उपन्यास, रघुनाथसरन झालनी, पृ० 55(सं-1956)
10. साहित्य का श्रेय और प्रेय, जैनेंद्रकुमार, पृ० 12
11. हिंदी-कथासाहित्य, गंगाप्रसाद पांडेय, पृ० 97
12. हिंदी के उपन्यासकार, यज्ञदत्त शर्मा, पृ० 151
13. 'सुनीता', जैनेंद्रकुमार, पृ० 144-145
14. 'सुनीता', जैनेंद्रकुमार, पृ० 187
15. हिंदी-साहित्य बीसवीं शताब्दी, आचार्य नंददुलारे बाजपेयी, पृ० 192
16. जैनेंद्र और उनके उपन्यास, रघुनाथसरन झालनी, पृ० 68-69
17. 'त्यागपत्र', जैनेंद्रकुमार, पृ० 60
18. हिंदी-साहित्य बीसवीं शताब्दी, आचार्य नंददुलारे बाजपेयी, पृ० 193
19. 'त्यागपत्र', जैनेंद्रकुमार, पृ० 53
20. 'कल्याणी', जैनेंद्रकुमार, पृ० 17
21. जैनेंद्र और उनके उपन्यास, रघुनाथसरन झालनी, पृ० 78
22. हिंदी-उपन्यास, शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ० 249
23. जैनेंद्र और उनके उपन्यास, रघुनाथसरन झालनी, पृ० 92
24. जैनेंद्र और उनके उपन्यास, रघुनाथसरन झालनी, पृ० 95
25. साप्ताहिक हिंदुस्तान 10 मई 1959, निबंध, जैनेंद्रकुमार, परख से जयवर्द्धन तक, नरोत्तम सागर।
26. 'जयवर्द्धन', जैनेंद्रकुमार, पृ० 256
27. हिंदी-कथासाहित्य, गंगाप्रसाद पांडेय, पृ० 100
28. हिंदी-उपन्यास, शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ० 250
29. 'साहित्य-संदेश' नारी की कल्पना, श्री ज्ञानचंद, फरवरी 1938

स्वतंत्रता-पश्चात् जूनागढ़ की विलय की समस्या का समाधान

वीजेन्द्रसिंह

1 अक्टूबर, 1947 को जवाहरलाल नेहरू और पाकिस्तान के प्रधानमंत्री लियाकत अली की संयुक्त रक्षासमिति की बैठक में मुलाकात हुई। जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें जूनागढ़ तथा मंगरोल और बावरियावाड़ पर भारत की स्थिति समझाई। दूसरी तरफ पाकिस्तान के प्रधानमंत्री लियाकत अली अपनी पुरानी बात पर ही अड़े रहे कि जूनागढ़ के नवाब ने स्वेच्छा से पाकिस्तान में विलय का फैसला लिया था और इस वैध विलय को पाकिस्तान सरकार स्वीकार कर चुकी थी। 4 अक्टूबर, 1947 को भारत ने अपने सेनानायकों को मंगरोल और बावरियावाड़ में सैन्य हस्तक्षेप की योजना तैयार रखने के लिए कहा। इसके बाद कई बार भारत और पाकिस्तान की सरकारों के बीच पत्राचार चलता रहा। 16 अक्टूबर, 1947 को जब लार्ड माउंटबैटन लाहौर गए तो उन्होंने वहाँ पाकिस्तान के प्रधानमंत्री से भी भेंट की और लौटने पर बताया कि पाकिस्तान जूनागढ़ में जनमत-संग्रह के लिए तैयार हो गया है। प्रधानमंत्री नेहरू ने 21 अक्टूबर, 1947 को पुनः लियाकत अली को टेलीग्राम भेजकर उनके और वी०पी० मेनन के बीच एक बैठक का प्रस्ताव दिया, ताकि जूनागढ़ में जनमत-संग्रह की पद्धति पर चर्चा की जा सके, लेकिन लियाकत अली ने जवाब दिया कि वह कभी भी जूनागढ़ में जनमत-संग्रह पर राजी नहीं हुए थे।

उधर मनवाड़ार में वहाँ के शासक ने मनवाड़ार का पाकिस्तान में विलय का विरोध कर रही प्रजा में आतंक फैला रखा था। राज्य की मदद से मुसलमानों के अर्धसैनिक दस्ते गठित कर हिंदुओं को आतंकित करने की कोशिश की गई। कांग्रेस के नेताओं और स्थानीय कार्यकर्ताओं को बंदी बनाकर जेलों में डाल दिया गया। हज़ारों की संख्या में लोग राज्य छोड़कर भागने लगे। सरदार पटेल ने एक पत्र लिखकर जवाहरलाल नेहरू को तमाम तथ्यों से अवगत कराया और कहा कि अगर जूनागढ़ और मनवाड़ार में तुरंत कोई कार्रवाई नहीं की गई तो पूरे काठियावाड़ में सांप्रदायिक हिंसा के भड़कने के आसार हैं। 22 अक्टूबर, 1947 को भारत सरकार ने एक सशस्त्र पुलिस की टुकड़ी मनवाड़ार में भेजकर उसका प्रशासन अपने नियंत्रण में ले लिया।³

इसी समय भारतीय सेना टैंकों और लड़ाकू विमानों के साथ जूनागढ़ की सीमा पर पहुँच चुकी थी। नवाब मोहब्बत खान के गुप्तचर उन्हें अब सूचनाएँ दे रहे थे कि वह और उनका परिवार जूनागढ़ में अब बिल्कुल भी सुरक्षित नहीं था। जब 26 अक्टूबर को जम्मू कश्मीर के महाराज हरीसिंह ने भारत में विलय का निर्णय ले लिया, तब उसी दिन नवाब मोहब्बत खान अपनी दौलत और कुत्तों की टीम के साथ एक निजी हवाई जहाज़ में सवार होकर पाकिस्तान चले गए।⁴

27 अक्टूबर, 1947 को जब भारतीय सेनाएँ श्रीनगर में पहुँच रही थी, उसी दिन जूनागढ़ के दीवान शाहनवाज भुट्टो ने मोहम्मद अली जिन्ना को एक पत्र लिखा कि पाकिस्तानी सरकार की अगर सात सैनिक की कम्पनियाँ भी जूनागढ़ पहुँच जाएँ तब भी हमें लगता है कि शत्रु की सेना की तादाद इतनी है कि हम असहाय हैं। अगर आप मदद करें और हम टक्कर लें तो भी यह मानवीय संसाधनों और सैन्य उपकरण की बर्बादी ही होगी, शाहनवाज भुट्टो का मानना था कि जूनागढ़ में स्थिति इतनी नाजुक थी कि उत्तरदायी मुसलमान और दूसरे लोग गतिरोध खत्म कराने का दबाव डाल रहे थे। शाहनवाज ने कहा कि जूनागढ़ मंत्रिपरिषद् के सदस्य कैप्टन हार्वे ने जिन्ना को इस पूरी स्थिति के बारे में पहले ही बता दिया था। 31 अक्टूबर, 1947 को दीवान शाहनवाज भुट्टो ने पुनः पाकिस्तान के विदेश विभाग के सचिव को पत्र लिखकर बताया कि जो मुसलमान पहले पाकिस्तान में विलय का समर्थन कर रहे थे, वे अब जूनागढ़ में बहुत हताश थे और भारत सरकार से बातचीत करने की इच्छा जाहिर कर रहे थे।⁵ इसके बाद 5 नवंबर, 1947 को जूनागढ़ राज्य परिषद् ने अपनी बैठक में भारत के साथ समझौता करने के लिए बातचीत करने का फैसला लिया, भले ही यह उसके पहले निर्णय, पाकिस्तान में विलय के विरुद्ध जाता था।

जूनागढ़ सरकार ने अस्थाई सरकार के अध्यक्ष सांबलदास गांधी के साथ बातचीत शुरू कर दी, लेकिन जूनागढ़ की मुस्लिम जमायत ने शाहनवाज भुट्टो पर प्रशासन को सीधे भारत सरकार को सौंपने के लिए दबाव दिया। शाहनवाज भुट्टो ने पश्चिमी भारत और गुजराती राज्यों के क्षेत्रीय कमिश्नर, एन०एम० बुच को पत्र लिखा कि राज्य परिषद ने जनप्रतिनिधियों के साथ मिलकर फैसला किया है कि राज्य का प्रशासन उनके हाथ में सौंप दिया जाए। इस निर्णय के बारे में जूनागढ़ के दीवान ने भारत सरकार के गवर्नर जनरल एवं प्रधानमंत्री को भी बताया। एन०एम० बुच ने इस पत्र की जानकारी तुरंत केंद्र सरकार के राज्य विभाग को दी। जब नेहरू को सब स्थिति का पता चला तो उन्होंने एन०एम० बुच को जूनागढ़ का प्रशासन 9 नवंबर से सँभालने का निर्देश दिया⁶ और साथ ही कहा गया कि विलय के लिए जनमत-संग्रह ही एक रास्ता है। नेहरू पहले ही जनता की इच्छा जानने के लिए एक जनमत-संग्रह कराने की बात कह चुके थे। जूनागढ़ के मामले में इसलिए वह चाहते थे कि पाकिस्तान सरकार को सूचित किया जाए कि भारत ने जूनागढ़ का प्रशासन अपने हाथ में ले लिया है, लेकिन वह चाहते थे कि अंतिम समझौता राज्य में इस बात पर मतदान करके किया जाए कि लोग भारत में जूनागढ़ का विलय चाहते थे या पाकिस्तान में। सरदार पटेल इस विचार से बिल्कुल असहमत थे कि इस तरह का कोई मतदान कराया जाए, लेकिन बाद में उन्होंने यह बात मान ली।⁷ पाकिस्तान के प्रधानमंत्री लियाकत अली को यह सूचित करते हुए एक टेलीग्राम भेजा गया कि भारत सरकार ने जूनागढ़ का प्रशासन अस्थाई तौर पर, जबकि वहाँ निष्पक्ष मतदान के आधार पर अंतिम बंदोबस्त नहीं होता, अपने हाथों में ले लिया है। इसके बाद 9 नवंबर 1947 को पश्चिमी भारत और गुजरात में राज्यों के क्षेत्रीय कमिश्नर एन०एम० बुच भारतीय सेनाओं के कमांडर ब्रिगेडियर गुरदयाल सिंह और कैप्टन हार्वे जोस के साथ जूनागढ़ पहुँचे। तब तक 8 नवंबर को राज्य के अंतिम दीवान शाहनवाज भुट्टो भी पाकिस्तान भाग चुके थे। 11 नवम्बर, 1947 को लियाकत अली ने नेहरू को एक लंबा तार भेजा, जिसमें पाकिस्तान ने फिर दावा किया कि जूनागढ़ क़ानूनी रूप से पहले ही पाकिस्तान में विलय कर चुका था और इसलिए किसी भी अन्य व्यक्ति या शक्ति को यह अधिकार नथा कि

वह नए सिरे से कोई संधि-समझौता करे। पाकिस्तान के प्रधानमंत्री ने कहा कि भारत ने जूनागढ़ में प्रवेश करके उसकी सीमा का उल्लंघन किया है, जो अंतर्राष्ट्रीय क़ानून का भी उल्लंघन है। उन्होंने मांग की कि भारत जूनागढ़ से अपनी सेनाएँ तुरंत वापस बुलाए और वहाँ नवाब के प्रशासन को पुनर्स्थापित करे और भविष्य में इस तरह के आक्रमणकारी शत्रुता के कार्य न करे।⁸

नेहरू ने जैसे अपने बचाव में तर्क दिया कि भारत ने जूनागढ़ का प्रशासन स्वयं राज्य के दीवान की विनय पर, जो नवाब से निर्देश प्राप्त कर रहे थे, अपने हाथ में लिया है। उन्होंने कहा कि अगर भारत सरकार ऐसा न करती, तो सांबलदास गांधी की अस्थायी सरकार जूनागढ़ पर क़ब्ज़ा कर लेती, जिससे ज़्यादा ख़ून-ख़राबा होने के आसार थे। नेहरू ने यह भी बताया कि अब भी भारत सरकार जूनागढ़ से अपनी सेना नहीं हटा सकती, क्योंकि अस्थायी सरकार का ये खतरा अभी भी था और भारतीय सेना के हटते ही वह पुनः जूनागढ़ में दाख़िल हो सकती थी, क्योंकि उसे काफ़ी जनसमर्थन भी प्राप्त हो रहा था और राज्य के काफ़ी भाग पर अभी भी उसका प्रभावी प्रशासनिक नियंत्रण बना हुआ था। नेहरू ने यह भी स्पष्ट किया कि वह जल्द से जल्द जूनागढ़ में विलय के प्रश्न पर मतदान करवाने के पक्षधर थे।⁹

यह अब एक राजनीतिक समस्या ज़्यादा बनकर रह गई थी। नेहरू नैतिक मूल्यों के आधार पर जनमत और जनादेश पर जोर दे रहे थे, जबकि पाकिस्तान के प्रधानमंत्री लियाक़त अली भारतीय पक्ष को मानने को तैयार नहीं थे और आरोप लगा रहे थे कि जूनागढ़ में जो भी अव्यवस्था पैदा हुई थी, वह भारतीय सेनाओं के कारण थी, जिसमें वहाँ की वैध सत्ता के विरुद्ध प्रजा को विद्रोह करने के लिए उकसाया था।

पाकिस्तान सरकार जूनागढ़ की वास्तविक स्थिति जानती थी, फिर भी इसे एक राजनीतिक हथियार के रूप में इस्तेमाल करना चाहती थी, क्योंकि इस समय जम्मू-कश्मीर में भारत-पाक युद्ध चल रहा था और जब तक जूनागढ़ की समस्या को ज़िंदा रखा जाता, तब तक पाकिस्तान के मुस्लिम लीग के नेताओं को जम्मू कश्मीर में भी मतदान करा कर विलय पर निर्णय करवाने का हथियार प्राप्त था और उन्हें विश्वास था कि चौधरी हमीदुल्ला के नेतृत्ववाली मुस्लिम काँग्रेस की मदद से वह जम्मू कश्मीर के मतदाताओं का निर्णय सांप्रदायिक आधार पर पाकिस्तान के पक्ष में करा सकते थे।

फरवरी 1948 में भारत सरकार ने जूनागढ़ में विलय के प्रश्न पर एक जनमत-संग्रह का निर्णय लिया। इंडियन सिविल सेवा के अधिकारी सी०वी० नागरकर को यह जनमत-संग्रह कराने का उत्तरदायित्व सौंपा गया था। जूनागढ़ की 80 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या हिंदुओं की थी। जूनागढ़ के साथ मनवाड़ार, बाबरियावाड़, मंगरोल और सरदारगढ़ के साथ-साथ बंतवा में भी जनमत-संग्रह कराया गया। यह इसलिए ज़रूरी समझा गया था कि मंगरोल और बाबरियावाड़ जूनागढ़ के अधीन छोटी रियासतें भी और सरदारगढ़ और बंतवा को भी अँग्रेज़ों ने 1943 में जूनागढ़ के साथ जोड़ दिया था, हालाँकि 15 अगस्त, 1947 को ब्रिटिश सर्वोच्चता के समाप्त होने पर वह स्वतंत्र मानी गई थी। जनमत-संग्रह का नतीजा जैसी अपेक्षा थी, भारत के पक्ष में रहा। लगभग सभी लोगों ने, यहाँ तक कि मुसलमानों ने भी भारत के पक्ष में वोट डाला। मतदान के परिणाम इस प्रकार थे—¹²

- (अ) जूनागढ़ :-
- | | | |
|-----------------------|---|--------|
| पंजीकृत मतदाता | - | 201457 |
| कुल पड़े मत | - | 190870 |
| भारत के पक्ष में | - | 190779 |
| पाकिस्तान के पक्ष में | - | 91 |
- (ब) मनवाड़ा, बाबरियावाड़, मंगरोल, सरदारगढ़ और बंतवा :-
- | | | |
|-----------------------|---|-------|
| पड़े मत | - | 31434 |
| भारत के पक्ष में | - | 31395 |
| पाकिस्तान के पक्ष में | - | 39 |

पाकिस्तान ने जनमत-संग्रह को केवल एक तमाशा बताया लेकिन भारत के लिए यह बड़ी नैतिक विजय थी। 15 फरवरी 1948 को काठियावाड़ की सभी रियासतों को मिलाकर काठियावाड़ का संयुक्त राज्य बनाया गया। बाद में एक पूरक अनुबंध के तहत जूनागढ़ आदि को भी मिलाकर सौराष्ट्र राज्य का निर्माण किया गया।¹³

जूनागढ़ के विलय के संदर्भ में हालाँकि जनादेश को अनदेखा नहीं किया था, लेकिन यह भी सच है यह विशुद्ध राष्ट्रीयता का विषय बना दिया गया था। जैसा कि हम देख चुके हैं कि अधिकांश रियासतें सामंती, अर्द्ध-सामंती तंत्र का भाग थीं और इसलिए संपत्ति के संबंधों में बदलाव लाए बगैर सही अर्थों में जनता का सशक्तीकरण नहीं हो सकता था। इस प्रकार इन तमाम घटनाओं के बाद आखिर जूनागढ़ का विलय भारत में हो ही गया था।

संदर्भ

1. All India State Peoples Conference Papers, File No. 69 (NMML), p.11
2. V.P. Menon, The Transfer of Power in India, Calcutta : Orient Longman, p. 329-330
3. Durga Das, Sardar Patel's Correspondence, Vol.8, p. 519-520
4. The Bombay Chronicle, 23 October, 1947
5. The Hindustan Times, 27 October, 1947
6. S. Kaul, Indian Freedom Movement and States, Delhi : Anmol Publication, p. 111
7. Bombay Chronicle, 10 November, 1947
8. Durga Das, Op.cit, pp. 596 - 97
9. S. Kaul, Op.cit, pp 112 - 113
10. Ibid.
11. The Hindustan Times, 14 November, 1947
12. S. Kaul, Op.cit, p. 114
13. Ibid, p. 115

□ ग्रा० एवं डा० भगवतीपुर
(रोहतक) हरियाणा

तुलसी साहित्य में सीता का स्वरूप

वेदप्रकाश मिश्र

तुलसी के परिदृश्य पर आने तक हिंदी-कविता और रामकथा लगभग पूरी तरह से संपन्न हो चुकती है। चाहे वह शिल्प हो, शैली हो, काव्यभाषा हो अथवा संवेदना, सभी दृष्टियों से इस समय तक वह लगभग पूर्ण हो चुकी थी। एक ओर विद्यापति, कबीर, रामानंद, सूर और जायसी थे तो दूसरी ओर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के कूलों का स्पर्श करती हुई निरंतर प्रवाहमान होती रामकथा-परंपरा। इस जड़ता और गतिमयता के भँवर में फँसी हिंदी-कविता एक तरह से ठहराव की स्थिति में आ गई थी। इस गतिरोध को हटाने के लिए समय को एक ऐसे कवि-रचनाकार की आवश्यकता थी, जो उसकी नब्ज को टटोलकर एक नई संवेदना और दृष्टि को विकसित कर सके। जो काल के कपाल पर ऐसी लेखनी चलाए कि युगों-युगों तक एक नजीर बन जाए। तुलसी इसी आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। वह एक ओर हिंदी-कविता को नए भाव, शिल्प, संवेदना, काव्यभाषा और काव्य-निकष से मुक्त करते हैं, तो दूसरी ओर उसे उस परंपरा से जोड़ते हैं, जो नानानिगमागमसम्मत और 'कलिकलुषविभंजिनी' है।¹ उसे उस अवस्था तक पहुँचाते हैं, जहाँ सभी मत-मतांतर, वाद-प्रतिवाद समाप्त हो जाते हैं। रह जाती है तो केवल 'सियाराममय सब जग जानी' की भावना, जहाँ 'जाति-पाँति पूछै नहिं कोई। हरि का भजै सो हरि का होई' की स्थिति आ जाती है। वह युग-युग से भारतीय जनता के मन-प्राण में बसी रामकथा को वह स्वरूप देते हैं, जहाँ के 'राम' तुलसी के राम, 'रावण' तुलसी का रावण और 'सीता' तुलसी की सीता भर बनकर रह जाती हैं। यही तुलसी की सबसे बड़ी सफलता है। इसी से मिलता-जुलता विचार डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का भी है। 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' नामक अपने ग्रंथ में वे लिखते हैं— 'संस्कृत को छोड़कर फिर संस्कृत की शास्त्रीय-परंपरा का निर्वाह किस तरह हो सकता है, तुलसी का काव्य इसका बढ़िया उदाहरण है। शास्त्रीयता को लोकग्राह्य कैसे बनाया जाए, यह तुलसी की मुख्य रचना-समस्या है, जिसमें वे हर दृष्टि से सफल हुए हैं।'²

वस्तुतः भक्ति में कविता बनाने की जो प्रक्रिया कबीर और रामानंद से आरंभ होती है, उसकी चरम परिणति तुलसी साहित्य में दिखाई पड़ती है। किंतु यह कहना कि यह सब कबीर और रामानंद के कारण संभव हुआ है, सही नहीं होगा। तुलसी कालजयी रचनाकार हैं। वह एक ओर वाल्मीकि और कालिदास की परंपरा से जुड़ते हैं, तो दूसरी ओर सूर, जायसी, कबीर और रामानंद की परंपरा से। एक ओर वेद, उपनिषद् प्रभृति आर्षग्रंथों से जुड़ते हैं तो दूसरी ओर लोक से। यही कारण है कि संस्कृत को छोड़कर भी वह संस्कृत एवं उसकी परंपरा का निर्वाह करते हैं तो दूसरी ओर लोक और उसके मनोभावों में विद्यमान उन अनकहे

सरोकारों, अंतःवृत्तियों व रागतत्त्व का उद्घाटन करते हैं, जो बड़े-से-बड़े महाकवियों के लिए भी एक दुष्कर कार्य है। वह इसे सिर्फ उद्घाटित ही नहीं करते वरन् उस स्थिति में पहुँचा देते हैं, जहाँ वह सहज ही लोक द्वारा ग्राह्य भी हो उठता है। यही तुलसी को बड़ा बनाता है। संभवतः यही वह कारण है, जिससे उनका काव्य सिर्फ अवध और ब्रज-प्रदेश तक ही सीमित नहीं रह जाता बल्कि देशकाल की सीमा को लाँघकर सार्वजनीन, सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो उठता है। तुलसी एक के न होकर सबके बन जाते हैं और इसका सबसे बड़ा माध्यम बनता है, उनका रामकाव्य। यही वह महत्त्वपूर्ण बिंदु है, जहाँ तुलसी केवल एक भक्तकवि-भर बनकर नहीं रह जाते हैं, वरन् उससे अधिक हो जाते हैं। उनका यह अधिक हो जाना ही तुलसी को सच्चे मायने में तुलसी बनाता है।

तुलसी मध्यकाल के सबसे सफल रचनाकार बनकर उभरते हैं। काव्यभाषा, शिल्पविधान एवं शैली-आयोजन पर इनका असाधारण अधिकार है। निरंतर प्रयोगधर्मी होने के कारण एक ओर वह रामचरितमानस प्रभृति महाकाव्यात्मक-लालित्य का सृजन करते दिखाई पड़ते हैं, तो दूसरी ओर लोक के स्तर पर उसकी तुष्टि, पुष्टि और रंजन के लिए जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, रामलला नहछू, दोहावली और कवितावली आदि ललित-काव्य की रचना करते हैं। विनयपत्रिका, वैराग्यसंदीपिनी, रामाज्ञाप्रश्न और हनुमानबाहुक अन्य तरह की रचनाएँ हैं। हाँ, विलक्षण की दृष्टि से हनुमान बाहुक और विनयपत्रिका का अपना विशिष्ट स्थान है, जहाँ कवि की आत्मानुभूति, दीनता, दासभाव और पीड़ा उस स्तर पर ध्वनित होती है, जिसे हिंदी कविता ही नहीं, समूचा भारतीय वाङ्मय तक अभिव्यक्त नहीं कर सका है। विनयपत्रिका तो उनकी अपने राम जी तक अपनी फरियाद पहुँचाने की पाती ही है, जो उन्होंने सीता जी के माध्यम से उन तक पहुँचायी है। जहाँ तक इन रचनाओं में सीता के स्वरूप की बात है; कवि ने नाना रूपों में उनका निरूपण किया है। कहीं पर उनका बालरूप व्यक्त हुआ है तो कहीं पर उनका मुग्धारूप और पूर्व राग। एक स्थान पर वह भोली सुकुमारी नायिका के रूप में हमारे सामने आती हैं, तो अन्यत्र सृष्टि की उद्भव-स्थिति-संहारकारिणी रूप में, जहाँ वह अगणित उमा, रमा, ब्रह्माणी और लोकपालों का क्षणमात्र में आविर्भाव-तिरोभाव कर देती हैं। सीता के इन्हीं नानारूपों का यहाँ पर विवेचन किया जा रहा :

रामचरितमानस में सीता के जन्म का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। उनके प्रादुर्भाव का यहाँ पर संकेत-भर मिलता है। जिसके अनुसार स्वयंभुव मनु और उनकी प्राणप्रिया भार्या शतरूपा ने भगवान् श्रीहरि की अनन्यभाव से उपासना कर उन्हें प्रसन्न कर लिया। जब वह अनादि, अनंत, सच्चिदानंदनघन उनके समक्ष प्रकट हुए, तो उस समय वह अपार शोभा से युक्त थे। उनके हाथ में धनुष-बाण और कटि में तूणीर था। उनके श्रीअंगों पर सुंदर पीतांबरी शोभायमान हो रही थी, जो अपनी काँति से विद्युत्-आभा को भी लज्जित करनेवाली थी।³ उनके वामभाग में उन्हीं के समान अद्वितीय रूप राशिवाली, सौंदर्यनिधि, आदिशक्तिस्वरूपा, इस नाना प्रंचात्मक जगत् की आदिकारणरूपा महादेवी सीता विद्यमान थीं, जिनके अंशमात्र से गुणों की खान अगणित लक्ष्मी, उमा और ब्रह्माणियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उन जगज्जननी के भृकुटि के विलास-मात्र से जगत् की सृष्टि हो जाती है।⁴ कवि के अनुसार सीता और राम का यह रूप चिरंतन और शाश्वत है। अतः वह जन्म-मृत्यु से परे है। वह जन्म नहीं लेते, वरन्

उनका अवतरण होता है, जिसका उद्देश्य अपने भक्तों की मनोकामना को पूर्ण करना है। अतः मनु-शतरूपा को उनका मनोवाञ्छित वर प्रदान करते हुए स्वयं उनके घर प्रकट होने का आशीर्वाद दिया। इसके साथ ही यह भी कहा कि यह मेरी आदिशक्ति और स्वरूपभूता माया, जिन्होंने इस चराचर जगत् को उत्पन्न किया है, भी मेरे साथ ही भूलोक में अवतरित होंगी।⁵ जबकि 'जानकीमंगल' में सीता-जन्म का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। कवि कहता है कि पृथ्वी का तिलकस्वरूप और तीनों लोकों में प्रसिद्ध जो परमपावन, शोभायुक्त और सुहावना तिरहुत देश है, उसकी वेद भी प्रशंसा करते हैं। वहाँ जनकपुर नामक एक परम दिव्य और प्रसिद्ध नगर अवस्थित है। यहाँ के महाराज जनक के समान नरपति न कहीं हुआ है और न ही आगे कोई होगा ही। उनके यहाँ सर्वमंगलमयी सीताजी का जन्म हुआ, जो समस्त सुखों की समुद्र (आकर) हैं। जिनके रूप में साक्षात् लक्ष्मी ही प्रकट हुई हैं।⁶ तुलसी की इन सीता के समान ही कृत्तिवास रामायण की सद्यःजाता सीता का भी स्वरूप है, जहाँ वह साक्षात् लक्ष्मीस्वरूपा और विद्युत के समान उद्भाषित हो रही हैं।⁷ जबकि रामचरितमानस में कवि ने उन्हें पृथिवी की आयोनिजा पुत्री, धरासुता और जानकी आदि नाना नामों से अभिहित किया है।⁸ कवि के शब्दों में सीता जनक के पुण्यों का मूर्त रूप और उनकी शिवाराधना का फलरूप हैं। वह जगत् में अद्वितीय हैं। उन जैसा न कोई हुआ, न है और न होगा ही। इसके साथ ही, कवि ने पुष्पवाटिका-प्रसंग में सीता को उनकी 'जननी' द्वारा गौरी-पूजन हेतु वहाँ पर भेजने का उल्लेख किया है किंतु वह 'जननी' अभिधान किसके लिए प्रयुक्त हुआ है (पृथिवी अथवा जनक की राजरानी सुनयना अथवा दोनों?) यह स्पष्ट नहीं होता। किंतु जब अयोध्याकांड (रामचरित मानस 2.286) में राजा जनक और उनकी महारानी सुनयना अपनी प्राणप्रिया पुत्री सीता से मिलने चित्रकूट जाते हैं, तो वहाँ पर कवि ने उन्हें सीता का माता और पिता कहकर पूर्व कथित 'जननी' को लगभग स्पष्ट कर दिया है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि उपर्युक्त स्थान पर 'जननी' पद का प्रयोग सुनयना के लिए ही है, पृथिवी के लिए नहीं।

सिय पितु मातु सनेह बस बिकल न सकी सँभारि।

धरनिसुता धीरजु धरेउ समउ सुधरमु बिचारि।⁹

सीता के कन्या रूप एवं उस सौंदर्य का निरूपण करते हुए 'बरवै रामायण' में कवि कहता है कि जनकनदिनी सीता के केशों में गूँथे जाने पर उसके नीलवर्णी आभा से मोती मरकतमणि (पन्ने) की तरह प्रतीत होते हैं किंतु जब वे पुनः हाथों में रखे जाते हैं तो श्वेत आभा से उद्दीप्त होने लगते हैं। देखने में सुवर्ण अपनी काँति (शोभा) के कारण श्री जानकी जी के श्रीअंगों के समान है अर्थात् सीता जी की काँति सोने के समान (कनकवर्णी) है किंतु उसकी तुलना करने पर सोना तनिक भी सुखद प्रतीत नहीं होता। क्योंकि श्री जानकी जी के अंग अत्यंत ही सुकोमल हैं, जबकि सुवर्ण कठोर है—

केश मुकुत सखि मरकत मनिमय होत हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत।

सम सुबरन सुषमाकर सुखद न घोर। सिय अंग सखि कोमल कनक कठोर।¹⁰

सीताजी के मुख की उपमा शरद ऋतु के कमल से किस प्रकार दी जाए, क्योंकि वह तो केवल दिन में ही सुशोभित रहता है और रात में श्रीहत् होकर म्लान हो जाता है किंतु सीता का यह मुख-कमल रात-दिन समान रूप से प्रफुल्लित रहता है। उनके द्वारा अपने सुंदर

शरीर पर धारण की हुई चंपा के पुष्पों की सुंदर मनोहर माला उनके देह पर ऐसी प्रतीत होती है, मानों दोनों एकाकार हो गए हैं। इससे उसकी शोभा अत्यंत बढ़ जाती है। उनके हृदय पर माला है, यह तब पता चलता है, जब वह कुम्हला जाती है। उनकी इस शोभा को देखकर उनकी एक सखी उनसे कहती है कि हे सीता! तुम्हारे सुंदर शरीर के अंग से मिलकर पुष्पहार भी अधिक शोभा को धारण करता है और अलौकिक कांति से उद्दीप्त हो उठता है। यही नहीं, जब मैं बेला के श्वेत पुष्पों से युक्त हुई सुंदर माला पहनाती हूँ, तो वह भी तुम्हारे अंगों की स्वर्णमयी कांति के कारण चंपा के पुष्पों की माला जान पड़ती है। अर्थात् तुम्हारे अंगों की कांति के कारण वह भी अपनी स्वाभाविक शोभा को त्यागकर आभा को धारण कर उद्भाषित होने लगती है।¹¹

नायिका-भेद की दृष्टि से काव्याचार्यों ने स्त्रियों के नायिका रूप को मुख्यतः तीन भेदों में विभेदित किया है— (क) स्वकीया (ख) परकीया और (ग) सामान्या। पुनः स्वकीया के तीन भेद— मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा और इनमें भी मुग्धा के चार भेद— अज्ञातयौवना, ज्ञातयौवना, नवोद्धा और विश्रब्ध नवोद्धा; मध्या और प्रौढ़ा के पुनः तीन-तीन भेद—धीरा, अधीरा, धीराधीरा (मान आदि के आधार पर); उत्तमा, मध्यमा और अधमा (व्यवहार के आधार पर) किए गए हैं। परकीया एवं सामान्या के भी दो-दो भेद— कन्यका और प्रौढ़ा (परकीया) तथा मुग्धा और मध्या (सामान्या) हैं। मुग्धा का अर्थ है—यौवन को प्राप्त सरल स्वभाव वाली नायिका। प्रायः इसका प्रयोग सद्यःयौवन-प्राप्ता नायिका के लिए किया जाता है, जो नायक के संबंध में श्रवण अथवा उसके दर्शन आदि के कारण उस पर मुग्ध हो जाती है। अर्थात् उसमें नायक के प्रति अनुराग-भाव का उदय हो जाता है। इसलिए आचार्य कृपाराम ने अपनी हिततरंगिणी में मुग्धा की अवस्था के आधार पर उसके तीन भेद किए हैं—ललिता, वयःसंधि एवं उदित यौवना। यही 'मुग्धा' ही पूर्ण विकसित यौवना होकर 'मध्या' बनती है और इस अवस्था में वह पूर्ण तारुण्य प्राप्त कर लेती है। संयोगकाल में यदि भोग के कारण प्रेम के सात्त्विक रूप का क्षरण होता है तो प्रिय की अप्राप्तावस्था अथवा विप्रलम्भ में प्रेम के सात्त्विक एवं उज्ज्वल रूप का प्रकाशन। इसी अवस्था में प्रेम अथवा अनुराग सम्यक् रूप से परिपक्व एवं उज्ज्वलता को प्राप्त करता है। इसके चार भेदों—पूर्वराग, मान, प्रवास और कर्दम (करुण) में पूर्वराग प्रथम है। प्रिय से प्रथम मिलन के पूर्व हृदय में अनुराग का प्रस्फुरण एवं उसमें 'तन्मयता पूर्वराग' कहलाता है। श्रवण, चित्रदर्शन, प्रत्यक्ष दर्शन एवं गुणकथन आदि से इसका उदय होता है। सीता के इन रूपों का दर्शन पहले-पहल पुष्पवाटिका प्रसंग में दिखाई पड़ता है, जहाँ वह अपनी माता की आज्ञा से सखियों-सहित गौरी-पूजन हेतु आई हैं। वह सखियों के मध्य ऐसी शोभा पा रही हैं, जिस प्रकार चंद्रिका के मध्य में शरद का चंद्रमा। सीता की एक सखी ने जो गौरी-मंदिर में उन्हें छोड़कर फुलवारी देखने गई थी, वहाँ पर फूल चुनते हुए राम और लक्ष्मण को देखा।¹² उन्हें देखकर उसने सीता के पास आकर उनकी रूपमाधुरी का वर्णन करते हुए उन्हें भी उन कुमारों का दर्शन कर लेने के लिए कहा। उसे सुनकर सीता के हृदय में भी उन कुमारों को देख लेने की उत्कंठा हो रही थी। अतः उन्हें सखी की ये बातें अत्यधिक प्रिय लगीं। उनके नेत्र उस अलौकिक रूप का दर्शन करने के लिए अकुला उठे। वह अपनी पुरातन प्रीति की अंतःप्रेरणा से उन प्राणधन को देखने के लिए चल पड़ीं।

नारद जी द्वारा पूर्वकथित वचनों का स्मरण करते ही उनकी प्रीति दोगुनी हो गई। इस अवस्था का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि सीता राम को देखने के लिए अपनी दृष्टि सब ओर इस तरह से घुमा रही हैं, मानों कोई डरी हुई मृग-छौनी इधर-उधर ताक रही हो (मुग्धारूप, पूर्वरग)।¹³ उधर राम ने व्याकुल सीता के कंकण, किंकिणी और नूपुरों के शब्द सुनकर भावी घटना का संकेत समझकर लक्ष्मण से कहा कि मानो कामदेव ने विश्वविजय के लिए दुंदुभी बजा दी है। सीता और राम के इस प्रथम मिलन की प्रस्तावना यहाँ पर इतनी भव्यता के साथ चली है उनकी लोकोत्तर-प्रीति का सहज में ही अनुमान हो जाता है और इसके कुछ क्षण बाद ही उन अनादि, अनंत भगवान रघुनाथ जी और उनकी चिर आह्लादिनी सीता का वह दिव्य साक्षात्कार होता दिखाई पड़ता है, जहाँ वह स्वयं को भूलकर क्रमशः सीता और राममय होकर एकमेव हो उठते हैं। सीता के नेत्र रामरूप चंद्रमा और राम के नेत्र सीता रूप शीलनिधि को देखने के लिए चकोर बन जाते हैं। उस समय उनके नेत्रों की स्थिरता देखकर सीता के पूर्वज निमि अपनी कन्या एवं दामाद को एकरस (महाभाव) देखकर उनके नेत्रों से हटकर संकोचवश अन्यत्र चले गए।¹⁴ कवि सीता के इस रूप पर टिप्पणी करता हुआ कहता है कि मानो सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने अपनी सारी रचना-चतुराई को मूर्तिमान करके सीता के रूप में संसार को दिखा दिया हो। यह वैदेही सुंदरता को भी सौंदर्यशालिनी करनेवाली हैं। रूप ऐसा है, मानो सुंदरतारूपी घर में उसके अंधकार को मिटाने वाले दीपक की लौ दीप्त हो रही हो। उनके समक्ष सौंदर्य के सारे उपमान झूठे लगते हैं। अतः उनकी उपमा किससे दी जाए। अपनी उस फुलवारी में उन अपार रूप-राशि वाले युगलकुमारों को देखकर सीता को साक्षात् कामदेव और उसके सखा ऋतुराज बसंत की प्रतीति होती है। वह उन सौंदर्य सारसर्वस्व कुँवर का देखकर ऐसी मोहित हो जाती हैं, मानो कामदेव ने उन पर अपनी सुंदर मोहिनी डाल दी हो। उनके हृदय में जो मधुर आनंदानुभूति हुई वह महाकवियों के लिए भी अनिर्वचनीया है (मुग्धारूप एवं राग)।¹⁵ राम सीता के नेत्रों के कपाट से होकर उनके हृदय में ऐसे प्रवेश करते हैं कि सीता को पता ही नहीं चलता। वह गौरी-मंदिर में जा तो रही हैं, उनकी पूजा करने किंतु चित्त तो राम में ही रमण कर रहा है। स्नेहाधिक्य इतना बढ़ जाता है कि वे क्षणभर में ही वे राम को स्वामाधुर्यसार सर्वस्व मान बैठती हैं और उन्हें जन्म-जन्म में पतिरूप में प्राप्त करने का निश्चय कर माता गिरिजा पार्वती का आशीर्वाद प्राप्त करने के निमित्त उनके चरण-कमलों को पकड़कर उनका पूजन करती हुई उनसे राम को पतिरूप में प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करने लगती हैं। (अभिलाषा)। भावाधिक्य की उस स्थिति में उनके नेत्रों में आँसू भर आते हैं। शरीर पुलकित होकर श्लथ हो जाता है। मुख से वाणी नहीं फूटती और मन प्रेम एवं भक्ति से सराबोर हो उठता है।¹⁶ सीता के इस प्रेम के वशीभूत हुई देवी ने मुस्कराकर अपने गले में पड़ी माला उन पर डाल दी और उन्हें आशीर्वाद प्रदान करते हुए उनका मनोवांछित वर प्रदान किया कि 'जिसमें तुम्हारा मन अनुरक्त हो गया है, वही तुम्हें वर-रूप में प्राप्त होगा।

सीता के वधूरूप का दर्शन उनके द्वारा राम को वरमाला पहनाने के दौरान होता है। जहाँ रंगभूमि में महाराज जनक की भरी सभा में भगवान शिव के पिनाक को खंडित कर राम उन्हें विजय-लक्ष्मी के तुल्य प्राप्त करते हैं। सीता की यह प्राप्ति उन्हें एक साथ दो लाभ प्रदान करती है। एक, महाराज जनक की जिस सभा में संसार के बड़े-बड़े वीर, यहाँ तक कि रावण

और बाणासुर भी भगवान् शिव के जिस महान् धनुष को साधने तो क्या, उठाने तक में समर्थ न थे, राम ने उसे न केवल उठाने में सफलता पाई, बल्कि सरकंडे के तने की तरह उसे दो खंडों में तोड़कर भूमि पर डाल दिया। फलस्वरूप उनके पराक्रम एवं शक्ति का साक्षात्कार संसार के बड़े-बड़े वीरों एवं दिग्गजों के सामने हो गया, जिससे उनके प्रभाव और यश में अचानक एक साथ वृद्धि हो गई। दूसरे, न केवल उन्हें भुवनमोहिनी, लक्ष्मीस्वरूपा 'सीता' पत्नी के रूप में प्राप्त हुई, वरन् उनका महान प्रेम, आदरभाव एवं सम्मान भी प्राप्त हुआ। चूँकि पति की श्रेष्ठता और विमल कीर्ति ही नारी को अपनी ओर सहज ही आकृष्ट करनेवाली होती है। अतः सीता भी उनकी ओर विशेष रूप आकृष्ट हुई। राम के इसी पराक्रम का साक्षात्कार कर लेने के कारण सीता लंका में भी राम के आने की प्रतीक्षा करती रहीं।¹⁷ सीता के वधूरूप का वर्णन करते हुए तुलसी कहते हैं कि रघुनाथ जी ने जैसे ही धनुष तोड़ा, उसके टूटने का महान् स्वर समस्त दिशा-उपदिशाओं व भुवनों में व्याप्त हो गया। सखियाँ मंगलगीत गाती हुई सीता को राम के पास लिवा चलीं। उस समय सीता का मनोरथ पूरा होने से वह अत्यंत प्रफुल्लित थीं। किंतु लज्जा एवं गुरुजनों के संकोच के कारण उसे वह छिपा ले जाती हैं। उनके इस गुप्त प्रेम को कोई नहीं देख पाता, सिवाय राम को छोड़कर। उनके कर-कमलों में सुंदर वरमाला सुशोभित थी और शोभा ऐसी थी, जिसे कोई भी कवि अपनी वाणी द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता। वह प्रेम एवं स्नेहभाव से संकोचवश राम को निहारती है, मानो वायु ने कल्पलता को कल्पवृक्ष की ओर फिरा दिया हो।¹⁸

राम को जयमाल पहनाते समय सीता के कमलवत्-कर ऐसे जान पड़ते हैं, मानो दो कमल कामदेव के फंदे में चंद्रमा को फँसा रहे हों। उनकी शोभा उस समय अनुपम थी। उन जैसी दूल्हा-दुल्हन की जोड़ी संसार में कहीं नहीं है। राम को वरमाला पहनवाकर सखियाँ जानकी को अपने साथ लिवा ले चलीं। वे ऐसी प्रफुल्लित हो रही हैं, जैसे चंद्रमा के उदय होने पर कुमुदिनी की कलियाँ खिल उठती हैं। उस समय समस्त देवताओं उस जोड़ी की जय-जयकार करते हुए उन पर पुष्पों की वर्षा की।¹⁹

प्रभुहि माल पहिराइ जानकिहि लै चलीं।
सखी मनहुँ विधु उदय मुदित कैरवकलीं।
बरसहिं बिबुध प्रसून हरसि कहि जय जए।
सुख सनेह भरे भुवन राम गुर पहुँ गए।

उस अवसर पर सीता अपने हाथ के कंगन में जड़े हुए नगों में पड़ रही राम की परछाईं निहारती हुई अपनी सारी सुधि-बुध भूल जाती हैं। हाथ जहाँ के तहाँ रुक गए हैं और पलकें उस श्यामल छवि पर से टलती ही नहीं।²⁰ रघुनाथ और जानकी की सुंदर जोड़ी अद्भुत शोभा से युक्त दिखाई पड़ रही है। वर नीलकमल और 'श्याममेघ' के समान सुंदर है और उसकी दुल्हन विद्युत के समान गौरवर्ण की। उनके नखशिख की शोभा को, जो मन को चुरानेवाली है, देखकर कवि उसके समकक्ष कोई अन्य उपमा नहीं पाता, जो उनके लिए प्रयुक्त कर सके।

लालित्य की दृष्टि से तुलसी-साहित्य में तीन प्रसंग विशेष महत्त्वपूर्ण हैं— (क) पुष्पवाटिका प्रसंग (ख) रंगभूमि और (ग) वन-पथ पर सीता। इनमें प्रथम दो का विवेचन

हो चुका है। अतः यहाँ पर सीता के तीसरे रूप की विवेचना की जा रही है। यहाँ पर कवि भी सीता के रूप पर विशेष रूप से अभिभूत-सा दिखाई पड़ता है। इसके साथ ही वह राम और लक्ष्मण की छवियों पर भी रीझा हुआ है। यहाँ पर अपने इष्टदेव के प्रभुत्व एवं ऐश्वर्य से समन्वित भगवत्तता पर डरा-सहमा कवि-हृदय नहीं (जैसा कि 'विनय-पत्रिका' में वह दिखाई पड़ता है) वरन् सखाभाव से उपासना करने वाले भक्त के रूप में कवि हमारे सामने आता है। वह उसकी मोहिनीरूप विविध दृश्यछवियों पर रीझा हुआ हमारे सामने आता है। लालित्य की दृष्टि से यह अंश तुलसी-साहित्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग है। कवि सीता के वनपथ पर चलने के प्रसंग का उल्लेख करते हुए कहता है कि रघुवीर जी की वधू अभी नगर से निकलकर वनमार्ग पर दो पग ही आगे चली हैं कि श्रमजन्य थकावट के कारण उनके माथे पर पसीने की बूँदें छलछला आईं और ओंठ प्यास से सूख गए। सुकुमारता के कारण व्यथित सीता अपने प्रिय राम से पूछती हैं कि हे प्राणेश्वर! अब और कितनी दूर चलना है? आप कहाँ चलकर अपनी पर्णकुटी बनाएँगे? ²¹ वे चारों ओर देखकर फिर रघुनाथ जी से कहने लगीं कि 'हे प्रिय! लक्ष्मण अभी बालक ही हैं। वे जल लाने गए हैं। हो सकता है कि उनको आने में कुछ देर लग जाए। अतः कहीं छाँह में एक घड़ी तक रुककर उनकी प्रतीक्षा कीजिए। मैं आपका पसीना पोंछकर आपको हवा करूँगी और धूल अथवा रेत में जल रहे आपके पैरों को धोकर शीतलता प्रदान करूँगी। रघुनाथ जी जानकी के इस संकोचशील, सेवाभाव और थकावट को देखकर उन्हें अपने पास बैठाते हुए काफी देर तक उनके पैरों में गड़े हुए काँटों को निकालते रहे। सीता ने अपने प्रिय के इस प्रेम से भरे हुए रूप को देखा तो उनका शरीर रोमांचित हो उठा और नेत्रों में प्रेम के आँसू भर आए—

तुलसी रघुबीर प्रिया श्रम जानि कै,
 बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
 जानकीं नाह को नेहु लख्यो,
 पुलकौ तनु, बारि बिलोचन बाढ़े। ²²

रूप और सौंदर्य की यह मोहिनी मूर्ति जब भी किसी गाँव से होकर निकलने लगती है, तो ग्राम-वधुओं का समूह का समूह उमड़ पड़ता है। जब वह उनके रूप-सौंदर्य का नेत्रों से पान करते हुए संतुष्ट नहीं होतीं तो यही कहकर संतोष कर लेती हैं कि हे सखी! इनकी रोम-रोम की छवि देखकर इन पर करोड़ों अश्विनीकुमार, शरद् ऋतु का चंद्रमा और कामदेव न्यौछावर होते हैं। ²³ ये जो वीर मुनियों का-सा वेश धारण किए हुए हैं और हाथों में धनुष और बाण और कंधे में निषंग धारण किए हुए हैं, उनके मध्य में जो सुंदर स्त्री चल रही है, वे कौन हैं, मैं नहीं जानती! किंतु उसकी शोभा वाणी से परे है। ऐसा प्रतीत होता है कि विधाता ने शोभा के साँचे में रूप को स्वर्ण बनाकर जो एकमात्र स्त्री ढाली है, वही इनके साथ शोभायमान है। उसके सुंदर शरीर पर पसीने की जो बूँदें सुहावनी विराजती हैं, उसे देखकर आँखों में चकाचौंध होती है। उसके ये सारे वचन सुनकर सीता जी उनके प्रति स्नेह से शिथिल हो गईं और उसकी ओर विशेष कृपा से निहारा। ²⁴ इस पर दूसरी ग्रामवधू कहती है कि हे सखि! यह जो शरत्कालीन निर्मल चंद्रमा के समान सुंदर मुखवाली स्त्री है, वह कितनी सुंदर है। ऐसी प्यारी लली न तो पहले कभी हुई है, न है और न ही कभी आगे होगी। विधाता ने

इसके रूप में रति के निर्माण के समय जो छवि छूट गई थी, उसी भूल को सुधारते हुए इसे रचा है। इसे सुनकर एक ग्रामवधू से रहा नहीं जाता। वह सीता से पूछ ही बैठती है कि जिनके सिर पर जटाएँ हैं, वक्षःस्थल और भुजाएँ विशाल हैं, जिनके नेत्र अरुण और भौहें तिरछी हैं, जो धनुष-बाण और तूणीर धारण किए हुए वन-मार्ग पर आते हुए बड़े सुंदर दिखाई पड़ते हैं, वे तुम्हारे कौन हैं? उसके अमृत से सने सुंदर वचनों को सुनकर सीताजी उसका अभिप्राय समझ गई कि ये रघुनाथ जी से हमारा संबंध जानना चाहती हैं। उसके इस चातुर्य को देखकर सीताजी ने राम के प्रति अनुराग से भरे नेत्रों को तिरछाकर संकेत से उन्हें सब समझा दिया और मुस्कराकर चल पड़ीं। उनके इस रूप की व्यंजना करते हुए कवि कहता है कि—

सुनि सुंदर बैन सुधारस-साने सयानी हैं जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन, दै सैन तिन्हैं, समुझाइ कछू मुसकाई चली।
तुलसी तेहि औसर सौहैं सबै अवलोकति लोचन लाहु अलीं।
अनुराग-तड़ाग में भानु उदैँ बिगसी मनो मंजुल कंज कलीं।²⁵

सीता के इस रूप की व्यंजना कराने में कवि ने अपनी काव्यकला, भाव-नैपुण्य एवं विलक्षणता का सुंदर निदर्शन किया है। सौंदर्यशास्त्रीय एवं ध्वनि की दृष्टि से भी यह कवित्त विशेष महत्त्व रखता है। यहाँ व्यक्त सीता की चेष्टाओं में असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि है।

अयोध्या में सीता सखियों-सहित राम आदि भाइयों के साथ होली खेलती हैं। चाँचरि, झूमक और फाग गाती हुई वह रंग-अबीर में रंग जाती हैं। जो भी उनके सामने आता है, वह रंग में सराबोर हो उठता है। जिसे वे घेरती हैं, उसे नचाकर ही छोड़ती हैं। राम सीता की इस छवि पर रीझकर मुस्कराते हैं। वह और रघुनाथ जी साथ-साथ हिंडोला झूलते हैं। बसंत-विहार व विविध आयोजनों में भाग लेकर प्रसन्न होती हैं। यहाँ वह उमा और रमा की अपेक्षा अधिक महिमाशालिनी हैं।²⁶ जबकि विनयपत्रिका में वह परमतत्त्व (राम) की ह्लादिनी शक्ति हैं। लक्ष्मी, इंद्राणी व अन्य देवांगनाएँ उनकी कृपा पाने और सान्निध्य हेतु निरंतर उनके चरणों में पड़ी रहती हैं। उनका स्पर्श पाकर वह स्वयं को कृतकृत्य समझती हैं और उनकी सेवा का लोभ रखती हैं।²⁷ उनकी वंदना करता हुआ कवि कहता है कि जगज्जनी सीता जी रघुनाथ के चरणों का निरंतर चिंतन करने वाली, रुद्र, ब्रह्मा, देवता, सिद्ध, नर, नाग, किन्नर व ऋषि-मुनियों के समूह द्वारा वंदिता और रामपत्नी हैं। वही एकमात्र सृष्टि की एकमात्र कारणभूता, उद्भव-स्थिति-संहारकारिणी और मूल प्रकृतिरूपा हैं।²⁸ यह महादेवी समस्त प्रकार के दुख, दैन्य, क्लेश व विकारों का हरण करनेवाली है। यह समस्त भूत समुदाय का परम अधिष्ठान, परम कल्याणमयी और परब्रह्म राम की बल्लभा महादेवी उनकी आदिशक्ति है। वन के लिए शृंगवेरपुर से नाव द्वारा गंगा पार करने पर सीता जब गंगा-पूजन करती हुई राम व लक्ष्मण-सहित सकुशल लौटकर आने पर उनका पूजन करने की बात कहती हैं तो उन पर प्रसन्न विष्णुप्रिया देवनादी गंगा कहती हैं—हे रघुवीरप्रिया जानकी जी! आपका प्रभाव जगत् में किसे मालूम नहीं है। आपके देखने-मात्र से मनुष्य लोकपाल हो उठता है और सारी सिद्धियाँ हाथ जोड़े आपकी सेवा करती हैं। आपने जो मुझको बड़ी विनती सुनाई, यह तो आपने कृपा करके मुझे बड़ाई दी है। फिर भी हे देवि! मैं अपनी वाणी को सफल होने के लिए तुम्हें आशीर्वाद दूँगी।²⁹

इसप्रकार, तुलसी-साहित्य में सीता का जो रूप हमारे सामने आता है, वह विविध रूपों में व्यक्त होनेवाला उनका स्थिति-उत्पत्ति-संहारकारिणी, मंगलमयि और सृष्टि की मूलकारण रूपा आद्य प्रकृति का स्वरूप है, जो जगत् की एकमात्र कारण और जगजननी हैं। उनके कृपा-कटाक्ष मात्र से दरिद्र भी लोकपाल बन उठता है, जो शक्ति, शील और सौंदर्य का घर हैं। वही भगवान श्रीहरि (राम) के सान्निध्यवश इस भूमि पर भूमिजा रूप में प्रकट हुई हैं। महाराज जनक और महारानी सुनयना ने पुत्री रूप में उन्हें प्राप्त कर अपने महान पुण्यों एवं शिवाराधना फल को मूर्तरूप में प्राप्त किया है। पुष्पवाटिका-प्रसंग में उनका पूर्वराग और मुग्धा रूप देखने को मिलता है। काव्यशास्त्रीय नायिका-भेद की दृष्टि से भी उनका चरित् सर्वांग सुंदर हैं। वे भोली सुकुमारी नायिका हैं। पुष्प-वाटिका में राम को देखकर उनमें राग का प्रादुर्भाव होता है, जो अभिलाषा, चिंता आदि रूपों में व्यक्त होता हुआ अंततः परब्रह्म की स्वकीया रूप में दिखाई पड़ता है। रंगभूमि एवं वनपथ पर उनका रूप विशेष लालित्यपूर्ण एवं माधुर्यरूप में व्यक्त हुआ है। कवि ने सीता का नख-शिख निरूपण करते हुए सौंदर्य के नवीन प्रतिमान गढ़े हैं। देवी-आराधना की आयोजना करके कवि ने सीता के आस्तिक रूप की भी सुंदर व्यंजना कराई है। अभिलाषा भाव, भय एवं अनिष्ट की आशंका से जूझती सीता बिल्कुल हमारे गाँव-घर की भोली-भाली कुमारी कन्या के रूप में हमारे सामने आती है। जैसे सुंदर वर की प्राप्ति के लिए वह गौरी-पूजन करती है, वैसी ही सीता भी गौरी-पूजन के लिए गौरी-मंदिर जाती हैं। उनके पूजन करने का ढंग, चरण-वंदना ऐसी प्रतीत होती है, मानो समूचा अवध प्रदेश, वहाँ की परंपरा, रीति-रिवाज, आचार-विचार, संस्कृति सभी कवि की वाणी के रूप में जीवंत होकर हमारे सामने आ गए हों। अन्यत्र कवि जब सीता के दैवीरूप का वर्णन करता है, तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो सृष्टि की आदि कारणभूता मूल प्रकृति अपने संपूर्ण ऐश्वर्य, प्रभुत्व एवं महिमाशीलता से हमारे सामने आ उपस्थित हुई हैं। सृष्टि का आविर्भाव करने को उद्यत महाशक्ति अपने पूरे वैभव एवं भगवता के साथ प्रत्यक्ष हो उठी है और अभी-अभी यह सृष्टि अस्तित्ववान हो उठने वाली है। इस संपूर्ण अवतारणा में कवि की वह महान कवि-दृष्टि ही मुख्य बनकर आई है, जिसे अग्निपुराणकार ने 'कविरेव प्रजापतिः' कहकर ध्वनित किया है। इसे ही श्रुतियाँ 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' कहकर अनादिकाल से निनादित करती आ रही हैं और आचार्य मम्मट भी इसे 'काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म काव्यम्' कहकर व्याख्यायित करते हैं। तुलसी इस दौरान आदिकवि वाल्मीकि और कविकुल गुरु कालिदास से ही नहीं, वरन् हर उस कवि-रचनाकार से अपना संबंध स्थापित करते चलते हैं, जो भी अपने रचनाकर्म के दौरान ईमानदार रहा है। यही तुलसी की सबसे बड़ी विशेषता है।

संदर्भ

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, गोस्वामी तुलसीदास, पृ० 17
2. डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ० 46
3. तुलसीदास, रामचरितमानस 1.146-147
4. वही, 1.148.1-4
5. वही, 1.152.4, 5

6. तुलसीदास : जानकी-मंगल, 1.5
7. कृत्तिवास ओझा : कृत्तिवास रामायण (हिंदी अनुवाद), 1.95.6
8. रामचरितमानस, 1.251.46 एवं 2.286
10. तुलसी : बरवै रामायण, 1.9, 10
11. वही, 1.13
12. एक सखी सिय संगु बिहाई। गई रही देखन फुलवाई।
तेहिं दोउ बंधु बिलोके जाई। प्रेम बिबस सीता पहिं आई।
रामचरितमानस, 1.228.7, 8
13. वही, 1.229.7, 8
14. वही, 1.230.4
15. तुलसीदास-गीतावली, 1.71.4
16. वही, 1.72.1 एवं रामचरितमानस, 1.235.3, 4
17. रामचरितमानस, 5.9.79
18. जानकी-मंगल, 14.107, 108
19. वही, 14.111, 112
20. कवितावली 1.17
21. वही, 2.11
22. वही, 2.12.2
23. गीतावली, 2.17.1
24. वही, 2.20.3, 4
25. कवितावली, 2.22
26. गीतावली, 7.22.4, 5 एवं 2.30.2
27. विनय-पत्रिका, 40 (क)
28. रामचरितमानस, मंगलाचरण, श्लोक 5
29. वही, 2.103.2, 8

□ 'भृगुकुल'

4/459 आवास विकास कॉलोनी
योजना-3, झूँसी, इलाहाबाद-2110119

काका के काव्य में उत्तर आधुनिकता

लक्ष्मी चौहान शोधार्थिनी
डॉ० रानीबाला गौर शोध निर्देशिका
स्नातकोत्तर हिंदी विभाग
डी०ए०वी० कॉलेज, बुलंदशहर (उ०प्र०)

काका हाथरसी को आज किसी परिचय की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने अपने संपूर्ण जीवनकाल में देश एवं विदेश में अकल्पनीय ख्याति प्राप्त कर ली थी। उनकी इस प्रसिद्धि का एकमात्र कारण थी उनकी प्रतिभा, जिसके द्वारा उन्होंने हास्य और व्यंग्य का प्रयोग उस कार्य को करने के लिए किया, जिस कार्य के लिए हमारे धर्मग्रंथों के अनुसार स्वयं ईश्वर को पृथ्वी पर अवतार लेना पड़ा। उनका काव्य किसी भी दृष्टि से देखने पर सर्वथा नवीन प्रतीत होता है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षिक, साहित्यिक सभी क्षेत्रों में व्याप्त विसंगतियों पर चोट करना और उसमें भी सुधार की अपेक्षा रखना काका की विशेषता है। मानव-जीवन से संबंधित प्रत्येक पहलू को उन्होंने सिर्फ़ छुआ ही नहीं है, बल्कि वे उसका वर्णन करने में पूर्णतया लीन हो गए हैं। एक-एक बुराई को खोज-खोजकर निकालने में और दूर करने के प्रयास में ही उन्होंने अपने संपूर्ण जीवन को समर्पित कर दिया।

काका के काव्य की अनेक विशेषताओं में से एक विशेषता है उनकी 'समसामयिकता'। सामयिक घटनाओं के संदर्भ में काका के काव्य को परखने से हमें पता लगता है कि वे आज जो कुछ घटित हो रहा है, उसकी भविष्यवाणी तो काका ने कई वर्षों पूर्व ही कर दी थी। काका के काव्य में प्राचीन मूल्यों तथा नवीन मान्यताओं के बीच का अंतर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। आधुनिक समाज, राजनीति, शिक्षा, साहित्य आदि के चित्र काका के काव्य में भरे पड़े हैं।

सामाजिक क्षेत्र में प्राचीन मान्यताओं एवं परंपराओं का हास होता जा रहा है। पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण ने नयी पीढ़ी को पागल कर दिया है। हम वेशभूषा, रहन-सहन, खान-पान सभी में उनकी नक़ल कर रहे हैं और अपनी संस्कृति और सभ्यता से दूर होते जा रहे हैं। यह आज के समाज की सबसे विषम परिस्थिति है और जिससे निपटना हमारे लिए चुनौती बन गया है। आधुनिकता एवं कृत्रिमता की बयार में नव पीढ़ी ने लज्जा एवं शालीनता को विस्मृत कर दिया है। फैशन के नाम पर नग्नता, सौंदर्य के नाम पर कृत्रिमता आदि को ही आधुनिकता माना जाने लगा है। प्रगतिशीलता एवं आधुनिकता की मिथ्या परिभाषा गढ़ने वाले कथित सभ्य एवं आधुनिक व्यक्तियों के द्वारा अपनी संस्कृति का गला घोटने की विडंबनापूर्ण प्रवृत्ति काका को व्यथित करती है और वे व्यंग्य करते हुए लिखते हैं—

चले गये अँग्रेज़ पर, छोड़ गए निज छाप
 भारतीय संस्कृति यहाँ सिसक रही चुपचाप।
 सिसक रही चुपचाप, बीबियाँ घूम रही हैं
 पैंट पहनकर 'माल रोड' पर झूम रही हैं।
 कहँ 'काका', जब देखोगे लल्लू के दादा
 धोखे में पड़ जाओगे, नर है या मादा।¹

विश्व में सदैव से ही अनुकरणीय एवं सम्मानित मानी जाने वाली भारतीय संस्कृति से पाश्चात्य संस्कृति इस प्रकार आगे निकल जाएगी, इसकी कल्पना भी कभी किसी ने नहीं की होगी। भारतीय, अँग्रेज़ों की नकल करके स्वयं को श्रेष्ठ समझने की भूल कर रहे हैं। जो गरिमा एवं प्रतिष्ठा भारतीय संस्कृति को अपनाकर प्राप्त की जा सकती है, वह दूसरों का अनुकरण करके नहीं मिल सकती। काका एक अन्य कविता में इसी प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए ईश्वर से पूछते हैं कि आधुनिकता की यह आँधी हमारे देश को न जाने कितने गहरे पतन के गर्त में ले जाएगी? देखिए—

और देश सब छोड़िये, अपना भारत देश
 उसको कहता 'सुकेशी', जिसके लंबे केश
 जिसके लंबे केश, राज अँग्रेज़ी आया
 बीबी के बालों का सत्यानाश कराया
 फैशन की आँधी चली क्या होगा करतार
 बुढ़िया भी रखने लगीं, जुल्फें छल्लेदार।²

सिर्फ़ वेषभूषा में ही नहीं, बल्कि भारतीयों की मानसिकता में भी अभूतपूर्व परिवर्तन आया है। पुरुषों के साथ-साथ महिलाएँ भी अब किसी परंपरा आदि के बंधन को नहीं मानतीं। प्राचीन समय में जहाँ महिलाओं का कार्य-क्षेत्र सिर्फ़ घर की चाहरदीवारी तक ही सीमित था, आधुनिक समय में यह घर-गृहस्थी की सीमा से परे कार्यालयों एवं क्लबों तक बढ़ गया है। आधुनिकता का यह रूप सबको प्रिय प्रतीत होता है, लेकिन सिक्के का दूसरा पहलू अत्यंत कटु है। महिलाओं के घर से बाहर कदम रखने से समाज में अराजकता फैली है। आचरणहीनता, भोग-विलास, चारित्रिक पतन आदि ऐसे अवगुण हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति के आत्मसम्मान को चोट पहुँची है। काका आधुनिक नारी की कृत्रिमतापूर्ण जीवन-शैली एवं समाज में असुरक्षा की भावना को इन पंक्तियों में व्यक्त करते हैं—

देवी जी क्लब में गई, पहिन शर्ट-पतलून
 खून बदन में बहुत कम, लंबे थे नाखून ।
 लंबे थे नाखून, बताया कारण इसका,
 कोई छेड़े, तुरत नोच लें मुखड़ा उसका।
 पैने नाखूनों से गुंडा डरकर भागे,
 छुरी और तलवार व्यर्थ हैं इनके आगे।³

फैशनप्रियता पर व्यंग्य करती हुई इन पंक्तियों में काका का निहित व्यंग्य यह है कि आजकल नवयुवतियों में जो सुंदर और छरहरा दिखने की ललक बढ़ी है, इससे वे अपने खानपान को लेकर संयमी हो गई हैं, जिसका कुप्रभाव उनके स्वास्थ्य पर स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। रक्त

की लालिमा से हीन शरीर पर लंबे नाखूनों की उपयोगिता को काका ने अत्यंत रोचक शब्दों में व्यक्त किया है। आधुनिकता के कारण बदलते परिवेश का एक उदाहरण परिधानों में आया परिवर्तन भी है। जहाँ पहले स्त्रियों के परिधान उनके कार्यों, हितों एवं सौंदर्य के आधार पर निश्चित किए गए थे, वहीं आज स्त्रियों की पहली पसंद पुरुषों के लिए निश्चित किए गए परिधान हैं। इसी प्रकार स्त्रियों के श्रृंगार करने की शैली में भी परिवर्तन आया है। श्रृंगार के पारंपरिक साधन नई पीढ़ी को अब आकर्षित नहीं करते। काका अत्यंत मार्मिक शब्दों में इस परिवर्तन पर व्यंग्य करते हैं—

भूल गए निज सभ्यता, बदल गया परिधान
पाश्चात्य रंग में रँगी, भारतीय संतान।
भारतीय संतान रो रही माता हिंदी
आज सुहागिन नारि लगाना भूली बिंदी।
कहँ 'काका' कवि, बोलो बच्चो डैडी-मम्मी
माता और पिता कहने की प्रथा निकम्मी।⁴

यहाँ काका स्वयं आधुनिक प्रदर्शित करनेवालों की अँग्रेजीप्रियता पर भी व्यंग्य करते हैं। समाज की प्रवृत्ति ऐसी बन चुकी है कि अँग्रेजी भाषा को प्रयोग करने वालों को आधुनिक माना जाता है। माता-पिता अपने बच्चों से मम्मी-डैडी कहलवाने में अत्यंत गौरवान्वित महसूस करते हैं।

आज समाज की मान्यताएँ बहुत तेज़ी से बदल रही हैं। आधुनिकता की आग ने मानवीय रिश्तों को राख कर दिया है। रिश्तों की गर्माहट, परस्पर प्रेम व सम्मान समाप्त होता जा रहा है। एक-दूसरे के प्रति जिम्मेदारी का भाव भी कम ही देखने में आता है। पारिवारिक मर्यादाओं का लोप हो चुका है, जिसके कारण परिवार बिखर रहे हैं। सास-ससुर व अन्य आदरणीय लोगों के प्रति बहू का मर्यादाहीन आचरण सभ्यता एवं संस्कृति पर चोट करता है। काका एक आधुनिक बहू का चित्रण निम्नलिखित पंक्तियों में करते हैं—

बहू वही फार्वर्ड है, जो हो अपटूडेट।
सास-ससुर के सामने, पीती हो सिगरेट।
पीती हो सिगरेट, बदन आधा ही ढाँपे।
भौजी भागे दूर, ननदिया थर-थर काँपे।
'काका' करे विरोध, उड़े अक्कल की बक्कल।
चौके में घुस जाए पहन, बाटा की चप्पल।⁵

आज की कुछ आधुनिक स्त्रियाँ अपने नैतिक कर्तव्यों को भूलकर पाश्चात्य सभ्यता का अनुरक्षण करके स्वयं को प्रगतिशील मानती हैं। परिवार के सदस्यों, पति एवं बच्चों के साथ उपेक्षापूर्ण व्यवहार करना इनकी आदत में शामिल हो गया है। महत्त्वपूर्ण कार्यों को छोड़कर जुआ, क्लब, शराब पीना जैसे निरर्थक कार्यों में अपना समय गँवानेवाली ये स्त्रियाँ काका के व्यंग्य का आलंबन बनी हैं। 'न्यू फैशन की पत्नी' शीर्षक कविता में काका लिखते हैं—

न्यू फैशन की बीवियाँ, न्यू आमोद-प्रमोद
लल्ला दीना धाय को, पिल्ला लीना गोद।
पिल्ला लीना गोद, करें भोजन होटल का

बच्चों को वह दूध पिलाती हैं बोटल का।
माँ का दूध बतातीं, वे माइंडलैस हैं
दूध पिलाएँ हम, क्या कोई गाय-भैंस हैं।⁶

आधुनिकता के कारण ममत्व के हास पर काका की ये पंक्तियाँ मधुर कटाक्ष करती हैं। माँ एवं संतान के बीच आधुनिकता की आँधी ने इतनी दूरी उत्पन्न कर दी है तो अन्य कोई रिश्ता कैसे बचा रह सकता है ? 'माँ की ममता' जिसकी अब तक उपमाएँ दी जाती थीं, अब उसका भी क्षय होने लगा है। तभी तो संतान को गोद लेने में शर्म का अनुभव होने लगा है।

वर्तमान समाज में 'बाँय फ्रेंड' एवं 'गर्ल फ्रेंड' रखने का प्रचलन भी बढ़ा है। पाश्चात्य सभ्यता ने ही यह कला हम भारतीयों को सिखाई है। इसे विकृत मानसिकता ही कहेंगे कि ऐसी मित्रता को आधुनिकता का पर्याय माना जाता है। आज हज़ारों माता-पिता भी ऐसे हैं, जो इसका पूर्ण समर्थन करते हैं। आज वही माता-पिता आधुनिक माने जाते हैं, जिनकी संतानों को प्रत्येक प्रकार का निर्णय लेने की स्वतंत्रता होती है। काका ने ऐसे 'आधुनिक' माँ-बाप को कई कविताओं में हास्य-व्यंग्य का आलंबन बनाया है।

पाश्चात्य संतान है, अधिक आधुनिक ट्रेड
प्रथम फ्रेंडशिप, बाद में वाइफ़ या हसबैंड।
वाइफ़ या हसबैंड, कहे बेटे से मम्मी
ब्याँय फ्रेंड के बिना लगे तू मुझे निकम्मी।
फ़ादर कहते, बेटा तुझ पर क्यों है सुस्ती
गर्लफ्रेंड कर ले तलाश, आ जाए चुस्ती।⁷

आधुनिक जीवन-शैली अपनाने की चाह में गाँव से शहरों की तरफ़ लोगों का पलायन हो रहा है, जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव हमारे देश की अर्थव्यवस्था पर पड़ रहा है। 'हीरो कट मिस्टर' शीर्षक कविता में काका इन्हीं विषयों पर सटीक एवं सार्थक व्यंग्य करते हुए लिखते हैं—

गाँव छोड़ चल बंबई, बेच भैंस औ गाय
तीस बार सिगरेट पी, बीस बार पी चाय।
बीस बार पी चाय, छोड़कर रसिया-ढोला
फ़िल्मी गीत गाइयो पीकर 'काका कोला।'
कहँ काका कविराय, अरे कलियुग के पूता
नई रोशनी से तू क्यों रह रहा अछूता।⁸

काका हाथरसी ने समाज के सभी क्षेत्रों में समय के साथ बदलते परिवेश को अपने हास्य-व्यंग्य का आलंबन बनाया है। आधुनिकता की इस पराकाष्ठा को, जिसका दर्शन हम उनके काव्य में करते हैं, आज बदलने की आवश्यकता है। काका का काव्य हमें संदेश देता है कि हमें आधुनिक दिखने के प्रयास में मान्यताओं एवं परंपराओं का गला नहीं घोटना चाहिए और न ही हम वेशभूषा या जीवन-शैली में परिवर्तन करके आधुनिक बन सकते हैं। बल्कि हमें अपने विचार और कार्यों में आधुनिकता को ग्रहण करना चाहिए। आज हमें अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के आधार पर ही नवीन आयामों को स्थापित करना होगा, तभी सच्चे अर्थों में हम आधुनिक कहलाए जाने के योग्य बन पाएँगे।

संदर्भ

1. 'मसूरी यात्रा', काका की फुलझड़ियाँ (संस्करण 2005), पृ० 19
2. काका तरंग (संस्करण 2005), पृ० 19
3. काका की महफिल (संस्करण 2006), पृ० 107
4. 'मसूरी यात्रा', काका की फुलझड़ियाँ (संस्करण 2005), पृ० 20
5. काका हाथरसी : हास्य रचनावली, (फुलझड़ियाँ), संपादन डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 178
6. कक्के के छक्के (संस्करण 2007), पृ० 110
7. काका के व्यंग्य-बाण (संस्करण 2004), पृ० 45
8. काका की फुलझड़ियाँ (संस्करण 2005), पृ० 94

□ द्वारा श्री विजयकुमार सिंघल,
9/41, शिवपुरी, बुलंदशहर (उ०प्र०)

काका हाथरसी के काव्य में शिवत्व

लक्ष्मी चौहान शोधार्थिनी

डॉ० रानीबाला गौर शोध निर्देशिका

स्नातकोत्तर हिंदी विभाग

डी०ए०वी० कॉलेज, बुलंदशहर

काका हाथरसी को समाज में हास्य-व्यंग्य के सर्वोत्कृष्ट कवि के रूप में माना जाता है। हास्य-व्यंग्य का अवलंबन लेकर उन्होंने सामाजिक विषमताओं को अपने काव्य में व्यक्त किया है। उनके काव्य का प्रयोजन ही है लोकमंगल एवं लोकरंजन करना। काका का लोकरंजक रूप ही सर्वप्रसिद्ध है, उनके साहित्य में लोकमंगल की भावना की ओर बहुत कम लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। काका एक सच्चे समाज-सुधारक एवं संत थे। समाज की जर्जर मान्यताओं एवं परंपराओं को अस्वीकृत करके नवीन मूल्यों के स्थापत्य को काका ने अपने काव्य में अत्यंत ओजपूर्ण शैली में अभिव्यक्त किया है। समाज से समस्त विसंगतियों एवं कुरीतियों को मिटाने का दायित्व कोई साधारण कृत्य नहीं है लेकिन काका ने इस दायित्व का निर्वहन पूर्ण निष्ठा से किया। हास्य और व्यंग्य के द्वारा इन रूढ़ियों पर चोट करना और साथ ही मन को आह्लादित करना काका के काव्य का उद्देश्य था, क्योंकि हास्य-व्यंग्य ही रुग्ण सामाजिक चेतना को जाग्रत कर उसको स्वस्थ एवं शुद्ध बनाता है। असत्य का खंडन एवं सत्य और शिव की स्थापना करना ही हास्य-व्यंग्य का उद्देश्य है, काका ने इसी उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए हास्य-व्यंग्यात्मक साहित्य का सृजन किया।

मनुष्य और समाज परस्पर आश्रित हैं। मनुष्यों ने ही समाज का निर्माण किया है, यदि समाज में दूषित मनोवृत्तियाँ पनपती रहेंगी तो समाज को पूर्ण स्वस्थ नहीं कहा जा सकता, इसलिए काका के जीवन का मुख्य उद्देश्य समाज से सामाजिक बुराइयों और कलुषताओं को मिटाना था। हास्य-व्यंग्य से इतर काका का एक अन्य रूप भी है, वह है उनका उपदेशात्मक रूप। इस प्रवृत्ति को ग्रहण करते ही काका का स्वर गंभीरता धारण कर लेता है। ऐसा प्रतीत है कि किसी धार्मिक संत एवं महापुरुष की आत्मा काका की आत्मा में प्रविष्ट हो गई है। उस समय काका सिर्फ एक संत के रूप में प्रतीत होते हैं, उनके उपदेश सुनकर कहीं भी यह प्रतीत नहीं होता कि यह शब्द किसी हास्य-व्यंग्य के कवि के हैं। यह काका का सबसे अद्भुत रूप है, संभवतः जीवन की कटुताओं का अनुभव करते-करते काका जब इनसे व्यथित हो जाते हैं तभी उनका यह उपदेशात्मक रूप प्रकट हो उठता है। उदाहरण के लिए 'सुरा-संस्कृति' शीर्षक कविता में काका समाज में 'सुरा' के बढ़ते प्रचलन पर व्यंग्य करते हैं, परंतु जब समाज में श्रद्धेय समझी जानेवाली नारी पर सुरापान करनेवालों के अत्याचार की वास्तविकता काका को अनुभव होती है, तभी उनका

उपदेशात्मक रूप मुखर हो उठता है, देखिए—

आए बाबू रात्रि को करके ठरा पान,
बीबी ने कुछ कह दिया, बरस पड़े श्रीमान्।
जिस घर में गृह की लक्ष्मी धक्के खाती है,
धन लक्ष्मी उस घर से दूर भाग जाती है।¹

उपर्युक्त छक्के की अंतिम दो पंक्तियाँ काका की सामाजिक संवेदना से उत्पन्न उपदेशात्मक प्रवृत्ति को प्रकट करती हैं। काका के कुछ नीतिपरक एवं सामान्य व्यवहार से संबंधित दोहे भी हैं जो 'कबीरदास जी' एवं 'रहीम' की दोहात्मक शैली का स्मरण कराते हैं। इनमें काका की विशुद्ध उपदेशात्मक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं, देखिए—

अति की बुरी कुरूपता, अति का भला न रूप,
अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप।
अति की भली न बेरूखी, अति का भला न प्यार
अति की भली न मिठाई, अति का भला न खार।²

काका ने अपने काव्य में मनुष्यों को राग-अनुराग से दूर रहकर निर्विकार व निर्लिप्त रहने का उपदेश दिया है। इन उपदेशों में काका ने सरल सुबोध भाषा एवं शैली का प्रयोग किया है। काका ने मनुष्यों की असीमित इच्छाओं को ही उसके समस्त संतापों का मूल माना है। प्रस्तुत पंक्तियों में काका बढ़ती लालसा से उत्पन्न हृदय के ताप को शांत करने का उपाय इस प्रकार बताते हैं—

आवश्यकता से अधिक, बढ़े राग-अनुराग,
पानी छिड़को त्याग का, बुझे हृदय की आग।³

त्याग और संयम ही ऐसे दो गुण हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति अपनी बढ़ती आकांक्षाओं, तीव्र लालसाओं पर रोक लगा सकता है। एक अन्य दोहे में काका भक्तकवियों के समान मानव को ईश्वर के समक्ष पूर्णतः समर्पित एवं नतमस्तक हो जाने को मानव-जीवन का सर्वोत्तम सुख मानते हैं। काका कहते हैं कि व्यक्ति अपनी समस्त बुराइयों को ईश्वर के चरणों में समर्पित करके स्वच्छ एवं निर्मल बन सकता है, जिससे उसकी अंतरात्मा प्रसन्नता का अनुभव करती है। संसार में दूसरों के प्रति छल एवं कपटपूर्ण व्यवहार एवं उन्हें कष्ट पहुँचाने से बड़ा कोई अन्य दुख नहीं है। काका की सूक्तिपरक निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

आप ठगा ठाकुर बनो, ठगो न दूजा कोय,
आप ठगाए सुख मिले, और ठगे दुख होय।⁴

उपर्युक्त पंक्तियों में काका कहते हैं कि यदि व्यक्ति ईश्वर के द्वारा स्वयं को 'ठगा' ले अर्थात् अपना सर्वस्व ईश्वर को सौंप दे तो उससे अधिक भाग्यवान एवं सुखी व्यक्ति संसार में दूसरा कोई नहीं हो सकता। लेकिन यदि वह अन्य के साथ छलपूर्ण व्यवहार करता है तो उसे स्वयं को पाप का भागीदार बनाकर कष्ट भोगने के लिए तैयार रहना चाहिए। यहाँ 'ठगने' का अर्थ भले और बुरे दोनों अर्थों में ग्रहण किया गया है। ईश्वर के द्वारा मनुष्य का ठगा जाना अच्छा है जबकि मनुष्य के द्वारा अन्य मनुष्यों को धोखा देना वर्जित है।

इसी प्रकार काका ने अनेक स्थलों पर आशा, तृष्णा को त्यागकर रूखा-सूखा खाने को

ही मानव-जीवन की पूर्ण संतुष्टि मान लेने की सलाह दी है। काका समाज में प्रतिष्ठा एवं सुयश-प्राप्ति पर बल देते हैं। नाम एवं प्रतिष्ठा केवल अच्छे कार्यों को करके ही प्राप्त की जा सकती है। समाज में दूसरों की सेवा एवं सहायता करने वालों को सम्मानपूर्ण दृष्टि से देखा जाता है, जबकि दूषित मनोवृत्ति वाले व्यक्ति अपने पाप-कर्म के द्वारा संसार में अपयश के भागीदार बनते हैं। काका लिखते हैं—

बद का रोगी दवा से, हो सकता है ठीक,
लेकिन जो बदनाम है, बिगड़े जीवन लीक।
अच्छे बनकर जियो, बदनामी से डरिए,
गंगाजल की बोतल में शराब मत भरिए।⁵

काका उपर्युक्त पंक्तियों में उत्पन्न सारगर्भित शैली में कहते हैं कि ईश्वर-द्वारा प्रदत्त गंगाजल के समान निर्मल मन में शराब के समान विषय-वासनाओं रूपी दृव्यों को नहीं भरना चाहिए बल्कि इसमें स्वस्थ एवं पवित्र भावनाओं को भरकर अपने जीवन को पवित्रता की ओर उन्मुख करना चाहिए। यदि एक बार बुरे कृत्यों का कलंक व्यक्ति के चरित्र पर लग जाता है तो उसे धोना असंभव हो जाता है। हमारे महापुरुषों ने भी कहा है कि धन एवं स्वास्थ्य में से स्वास्थ्य की कमी होना, मानव के लिए अशुभ है लेकिन चरित्रहीन व्यक्ति का संपूर्ण जीवन ही व्यर्थ है। काका मनुष्य के मान-सम्मान को ही उसकी सर्वश्रेष्ठ विशेषता बताते हैं। काका के अनुसार सम्मान घटने पर मनुष्य मृतक व्यक्ति के समान हो जाता है। देखिए—

इञ्जत जिसकी लुट गई, गया मान-सम्मान।
जीवित रहते हुए भी, मुरदा वह इंसान।⁶

मान-सम्मान के पश्चात् मनुष्य का सबसे बड़ा आभूषण उसका स्वास्थ्य है। स्वास्थ्यहीन व्यक्ति भी कभी-कभी मृतक प्रायः प्रतीत होने लगते हैं। काका व्यक्तियों को अपनी दिनचर्या को संयमित करके स्वस्थ रहने का उपदेश देते हैं—

उगते सूरज को करें, जो जन नित्य प्रणाम,
नेत्र-ज्योति में वृद्धि हो, चेहरा बने ललाम।⁷

उपर्युक्त पंक्तियों में काका एक कुशल चिकित्सक की तरह पूर्णतः वैज्ञानिक तथ्य का उद्घाटन करते हैं। भारतीय योग पद्धति भी सूर्य की अद्भुत शक्ति को पहचान कर ही 'सूर्य नमस्कार' जैसे आसनों को प्रयोग करने पर बल देती है। भारतीय धर्माचार्यों एवं मनीषियों ने भी सुबह के सूर्य की किरणों के स्पर्श किए जाने के कारण ही प्रातःकाल सूर्य को अर्घ्य देने का विधान किया है। इस प्रकार काका भी सूर्य की प्रथम रश्मि को वरदान मानते हुए समाज को सूर्योपासना करने पर बल देते हैं। हमारे ऋषियों ने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर व दंभ इत्यादि को मानव का महाशत्रु स्वीकार किया है और इनसे बचने का उपदेश दिया है। काका के काव्य में भी हमें यही स्वर सुनाई देते हैं। काका उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ होने के पश्चात् भी गर्व न करने तथा आचार एवं व्यवहार में समानता रखने का उपदेश देते हैं। 'कबिरा गर्व न कीजिए...' जैसी ही सारगर्भित एवं मर्म को स्पर्श करने वाली काका की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

ऊँचे चढ़ इतराओ मत, गर्व न करिए भूल,
फूल रहा कल फूल जो, आज चाटता धूल।⁸

काका मानव-जीवन के लिए भाग्य की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व देते हैं। कर्म के द्वारा ही मनुष्य सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ सकता है। अनेक स्थलों पर काका ने कर्म को भाग्य की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया है। काका कहते हैं कि भाग्य के सहारे बैठने वाले व्यक्ति सदैव अच्छा समय आने की प्रतीक्षा ही करते रह जाते हैं। जबकि कर्म करने वाले अपने गंतव्य को आसानी से प्राप्त कर लेते हैं। कर्म के द्वारा सफलता प्राप्त करने का एक मूलमंत्र है कर्म के प्रति निष्ठा। देखिए—

चढ़ निष्ठा की नाव में, पकड़ कर्म-पतवार,
निर्भयता से कीजिए, जीवन-नदियाँ पार।⁹

काका आगे कहते हैं कि हो सकता है कि प्रथम प्रयास में हमें अपेक्षित सफलता प्राप्त न हो परंतु फिर भी हमें धैर्य और विश्वास को नहीं छोड़ना चाहिए और बार-बार कठिन परिश्रम करते रहना चाहिए। ज्ञानियों का अनुभव यही कहता है कि मेहनत का फल कभी भी व्यर्थ नहीं जाता है। निम्न छक्के में काका यही कहते हैं—

मेहनत पर भी सफलता, नहीं मिले श्रीमान्
फिर दुगुनी मेहनत करो, पूर्ण होय अरमान
सफल तजुर्बेकारों ने यह बात कही है
देर भले हो जाय, मगर अंधेर नहीं है।¹⁰

काका भाग्याधीन व्यक्तियों को कामचोर एवं कायर घोषित करते हैं। ऐसे व्यक्ति मानते हैं कि भाग्य में जैसा लिखा है, वैसा ही होना है तो फिर व्यर्थ में श्रम क्यों किया जाए। 'उद्योगेन हि सिद्ध्यन्ति...' की शैली में भी काका निम्न पंक्तियों में लिखते हैं—

कामचोर बनकर रहे, समझ भाग्य का खोट,
बैठा-बैठा निठल्लू, लल्लू तोड़े रोट।
ऐसा मानव पशुओं-सी जिंदगी बिताता
तोड़ प्रगति की डोर, भाग्य के धक्के खाता।¹⁰

उपर्युक्त पंक्तियों में काका निष्क्रियता को पाशविक प्रवृत्ति बताते हुए मानव को नित्यप्रति कर्म करने की प्रेरणा देते हैं। 'आहार, निद्रा, भय, मैथुन च...' की शैली पर ही काका यहाँ क्रियाशीलता को ही प्रगतिशीलता की प्रथम सीढ़ी बताते हैं। आलस्य व्यक्ति का सबसे बड़ा शत्रु है, क्रियाशील व्यक्ति सदैव स्वस्थ रहता है। काका कहते हैं कि भरपेट भोजन करने से शरीर में आलस्य उत्पन्न होता है, जिससे उसका संपूर्ण जीवन प्रभावित होता है। इसलिए काका व्यक्ति को आधा पेट भोजन करने की सलाह देते हैं। लंबी आयु एवं स्वस्थ जीवन जीने के लिए आवश्यक कुछ तथ्यों को काका एक ही दोहे में व्यक्त कर देते हैं। देखिए—

भोजन आधा पेट कर, दुगुना पानी पीउ,
तिगुना श्रम, चौगुनी हँसी, वर्ष सवा सौ जीउ।¹²

बिहारी के समान 'गागर में सागर' भरने की कला हमें काका की इन पंक्तियों में दृष्टिगोचर होती है। काका शताधिक वर्षों तक जीवित रहने के लिए अल्पाहार, भोजन से दुगुनी मात्रा में जल का सेवन एवं उससे तीन गुना श्रम व चारगुनी हँसी हँसने की सलाह देते हैं। काका स्वयं भी इसी नियम का पालन करते थे। यही कारण है कि उन्होंने दीर्घायु प्राप्त की थी।

भारतीय योगाचार्यों ने हास्य को समस्त रोगों को दूर करने की अचूक औषधि बताया है। हास्य से तन एवं मन दोनों की विकृतियाँ दूर हो जाती हैं। आधुनिक विज्ञान एवं चिकित्साशास्त्र भी हास्य के मानवीय स्वास्थ्य पर लाभदायक प्रभाव को स्वीकार करता है। प्रस्तुत पंक्तियों में काका लिखते हैं—

हँसते रहते हमेशा, भाग्यवान वे लोग,
काया की नस-नस हिले, दूर होयँ सब रोग
हँसने से मुख-मंडल हँसमुख हो जाता है
मनहूसों का चेहरा विकृत हो जाता है।¹³

काका मानते थे कि हँसते रहने वाले मनुष्य का चेहरा एक अद्भुत आभा से दीप्त रहता है जबकि हँसी से परहेज करने वालों का चेहरा विकृत प्रतीत होने लगता है। काका कभी न हँसने वालों को मनहूस कहते हैं।

सामाजिक क्षेत्र में काका ने रिश्तों की बदलती मर्यादा एवं घटते सम्मान के प्रति जनता को तीव्र शब्दों में चेतावनी दी है। परिवार को सामाजिक जीवन की पाठशाला मानते हुए काका पारिवारिक प्रेम को सर्वोपरि मानते हैं तथा कहते हैं—

जो लड़के माँ-बाप का, करते हैं अपमान,
यही कर्म अपनाएगी, उनकी भी संतान।¹⁴

इसी प्रकार दहेज-प्रथा, बेमेल विवाह, धनलिप्सा आदि बुराइयों पर काका ने अपने उपदेशों के द्वारा समाज में शिवत्व की प्रतिष्ठा की है। आशा, तृष्णा, भोग इत्यादि से बचकर ही मानव-जीवन को सुखी एवं संतुष्ट बनाया जा सकता है। काका का काव्य मंगलभवन अमंगलहारी के उद्देश्य को लेकर चलने वाला है। उनके काव्य का शिवत्व हास्य-व्यंग्य के साथ एवं हास्य-व्यंग्य से इतर दोनों ही रूपों में ग्राह्य है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि काका के काव्य में कल्याणकारी उपदेश बहुतायत में प्राप्त होते हैं, जिन्हें पूर्णरूपेण व्यवहार में लाकर मानव-जीवन एवं समाज को सफल बनाया जा सकता है। काका के उपदेशों में हमें कबीरदास जी जैसी स्पष्टवादिता, बिहारी के समान बहुज्ञता, रहीम के समान नीतिपरकता दृष्टिगोचर होती है। काका के साहित्य-सागर में छिपे कुछ बहुमूल्य रत्नों को सामने लाने का एकमात्र उद्देश्य यही है कि आधुनिक कबीर की वाणी से समाज के सभी वर्ग लाभान्वित हों।

संदर्भ

1. काका की चौपाल, काका हाथरसी, डायमंड पॉकेट बुक्स, संस्करण 2006, पृ० 95
2. लूटनीति मंथन करी, काका हाथरसी, हिंदी साहित्य निकेतन, संस्करण 2003, पृ० 8
3. लूटनीति मंथन करी, पृ० 17
4. लूटनीति मंथन करी, पृ० 17
5. हास्य के गुब्बारे, काका हाथरसी, संस्करण 2005, पृ० 27
6. लूटनीति मंथन करी, पृ० 18

7. लूटनीति मंथन करी, पृ० 20
8. लूटनीति मंथन करी, पृ० 22
9. लूटनीति मंथन करी, पृ० 49
10. कक्के के छक्के, संस्करण 2007, पृ० 146
11. हास्य के गुब्बारे, पृ० 80
12. लूटनीति मंथन करी, पृ० 108
13. कक्के के छक्के, पृ० 146
14. लूटनीति मंथन करी, पृ० 62

□ द्वारा श्री विजयकुमार सिंघल,
9/41, शिवपुरी, बुलंदशहर (उ०प्र०)

भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति के निर्धारक तथा 1990 के दशक से इसमें आए परिवर्तन

सुदीपकुमार (शोध छात्र)

डॉ० रोचना मित्तल (शोध निर्देशिका)

रीडर राजनीतिशास्त्र विभाग,

शंभुदयाल स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाज़ियाबाद (उ०प्र०)

दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात् विश्व के राजनीतिक रंगमंच पर अनेक ऐसे परिवर्तन आए, जिन्होंने विश्व-राजनीति को कई ढंग से प्रभावित किया। इस महायुद्ध ने जहाँ पुरानी महाशक्तियों—ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली, जापान इत्यादि को शक्तिहीन बनाया, वहीं युद्ध के पश्चात् बदले राजनीतिक घटनाचक्र में इन महाशक्तियों के अधीन औपनिवेशिक देशों में 'आत्मनिर्णय' तथा 'स्वाधीनता' की आवाज़ भी तेज़ होने लगी। ऐसी विषम परिस्थितियों में इन महाशक्तियों के लिए अपने अधीन उपनिवेशों में इस 'आत्मनिर्णय' तथा 'स्वाधीनता' की माँग को दबाना कठिन होता गया। परिणामस्वरूप 1945 के पश्चात् इन उपनिवेशों का एक के बाद एक आज़ाद होना आरंभ हो गया। इसके पश्चात् भी इनकी परेशानियाँ समाप्त नहीं हुईं तथा दुनिया अमेरिका व सोवियत संघ के नेतृत्व में पुनः दो भागों में विभाजित होने लगी। इन विषम परिस्थितियों में 'तीसरी दुनिया' के इन नवस्वतंत्र राष्ट्रों के लिए अपनी स्वतंत्रता व पहचान को बचाए रखना कठिन प्रतीत होने लगा। फलस्वरूप भारत की पहल पर 'तीसरी दुनिया' के इन देशों ने किसी भी गुट के साथ न जुड़कर 'तटस्थ मार्ग' को अपनाने की दिशा में कार्य करने शुरू कर दिए। ऐसे प्रयासों के फलस्वरूप ही विश्व-धरातल पर 'गुटनिरपेक्ष आंदोलन' नामक संगठन अस्तित्व में आया।

गुटनिरपेक्षता की इस धारणा को स्पष्ट करते हुए गुटनिरपेक्षता-आंदोलन के प्रमुख सूत्रधार भारतीय प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था, 'जब हम गुटनिरपेक्षता की विदेशनीति की बात करते हैं तो निश्चित रूप से इसका अर्थ है, सैन्य शक्तियों से अलग रहना। किंतु यह निरपेक्ष नीति नहीं है, बल्कि यह बिल्कुल ही सापेक्ष है।' ¹

फोटाना डिक्शनरी ऑफ़ मॉडर्न थॉट में इसकी और भी सटीक व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'शीतयुद्ध की स्थिति में दो परस्पर विरोधी शक्ति-समूहों में से किसी का भी पक्ष लेने से इंकार करना। तटस्थता की अपेक्षा गुटनिरपेक्षता, जिसने तटस्थवाद का स्थान लिया, कम अलगाववादी थी और निष्क्रिय तटस्थतावाद के स्थान द्वि-ध्रुवीयता को खुले सैनिक संघर्ष में परिवर्तित होने से रोकने के लिए किए जानेवाले सामूहिक हस्तक्षेप से संबंधित थी।' ²

गुटनिरपेक्षता-आंदोलन शीतयुद्ध तथा द्वि-ध्रुवीय विश्व-व्यवस्था के विरुद्ध नवस्वतंत्र

राष्ट्रों का एक ऐसा सशक्त अभियान था, जिसके अंदर अंतर्राष्ट्रीय शांति, सद्भावना तथा आर्थिक समृद्धि के साथ-साथ उन सभी राष्ट्रों के राष्ट्रीय हित व महत्वाकांक्षाएँ बड़ी ही सुंदरता के साथ गुम्फित थीं। भारतीय प्रधानमंत्री स्व० जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रतिपादित पंचशील के सिद्धांतों को इसकी सैद्धांतिक व्याख्या माना गया है, जिसमें नवस्वतंत्र राष्ट्रों से आग्रह किया गया है कि वे सभी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में व्याप्त दोनों गुटों से अलग रहते हुए विश्वशांति के लिए सक्रियता के साथ कार्य करें तथा विश्व में व्याप्त इस गुटबंदी की बेड़ियों को तोड़ने का प्रयास करें।

पीटर विलेट ने गुटनिरपेक्षता की नीति का विश्लेषण करते हुए कहा है कि '... तटस्थता में सभी संघर्षों से दूर रहना सम्मिलित है, वहीं गुटनिरपेक्षता में केवल शीतयुद्ध से दूर रहना निहित है। इसका तात्पर्य उपनिवेशवादी विरोधी संघर्ष के विषय में अथवा विकासशील और विकसित देशों के बीच के संघर्ष में तटस्थता नहीं है।' ³

गुटनिरपेक्षता की नीति आज अपने चार दशक पूरे करके पाँचवें दशक की ओर अग्रसर है। आज स्थिति यह है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के भी दो-तिहाई से अधिक सदस्य इस नीति को व्यावहारिक रूप से अपना चुके हैं, परंतु गुटनिरपेक्षता शब्द जिस नीति अथवा दृष्टिकोण का द्योतक बन गया, उसका बोध करानेवाला यही एकमात्र शब्द नहीं है अपितु 'अप्रतिबद्धता, अपृथकता, तटस्थता, स्वतंत्र और सक्रिय नीति, गतिशील तटस्थता, सकारात्मक तटस्थता और शांतिपूर्ण सक्रिय सहअस्तित्व भी कहा जाता है। एम०एस० राजन के अनुसार 'इसमें से कुछ शब्द और शब्दबंध तो केवल अर्थजाल के द्योतक हैं और यह जाल गुटनिरपेक्षता के ऐसे आलोचकों ने बना है, जिन्हें या तो इससे सहानुभूति नहीं रही या जिन्हें इसके बारे में पूरी जानकारी ही नहीं रही। भले ही कभी-कभी गुटनिरपेक्ष देशों के प्रवक्ता और इसके संपर्क भी इन शब्दों का प्रयोग कर लेते हैं।' ⁴

'जॉर्ज श्वार्जनबर्गर ने गुटनिरपेक्षता को स्पष्टता से अभिव्यक्त करने हेतु इससे संबंधित छह अर्थों की व्याख्या की है तथा गुटनिरपेक्षता को इन सबसे भिन्न बतलाया है। ये छह धारणाएँ हैं— अलगाववाद, अप्रतिबद्धता, तटस्थता, तटस्थीकरण, एकपक्षवाद और असंलग्नता।' ⁵

जॉर्ज श्वार्जनबर्गर के अभिमत में 'गुटनिरपेक्षता वास्तव में मैत्री संधियों अथवा गुटों से बाहर रहने की नीति है। गुटनिरपेक्षता का सारतत्त्व यह है कि अंतर्राष्ट्रीय मामलों में विशेषतः दोनों सर्वोच्च शक्तियों के प्रति नीतियों और अभिवृत्तियों के संदर्भ में, नीति और कार्यवाही की पर्याप्त स्वतंत्रता बनाए रखी जाए। गुटनिरपेक्षता का अर्थ शक्तिमूलक राजनीति से पृथक रहना तथा सभी राज्यों के साथ शांतिपूर्ण ढंग से रहना है, चाहे वे राज्य गुटबद्ध हों या गुटनिरपेक्ष हों।' ⁶

सन् 1961 में गुटनिरपेक्षता के तीन कर्णधारों—नेहरू, नासिर और टीटो ने इसके पाँच आधार स्वीकार किए थे—

1. सदस्य देश स्वतंत्र नीति पर चलता हो।
2. सदस्य देश उपनिवेशवाद की नीति का विरोधी हो।
3. सदस्य देश किसी सैन्य गुट का सदस्य न हो।
4. सदस्य देश ने किसी महाशक्ति के साथ द्वि-पक्षीय समझौता न किया हो।
5. सदस्य देश ने अपने क्षेत्र में किसी महाशक्ति को सैनिक अड्डा बनाने की अनुमति न दी हो। ⁷

अर्थात् दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वे ही देश गुटनिरपेक्ष माने जा सकते हैं, जोकि न केवल विरोधी शक्तिगुटों से अलग रहते हैं, वरन् युद्ध की विभीषिका टालने वाले, तनाव को कम करनेवाले तथा शांति का समर्थन करते हैं।

जॉर्ज लिस्का के अनुसार 'किसी विवाद के संबंध में यह जानते हुए कि कौन सही है तथा कौन ग़लत, किसी का पक्ष न लेना तटस्थता है, किंतु गुटनिरपेक्षता का अभिप्राय है सही और ग़लत में विभेद करते हुए सदैव सही का समर्थन करना।'⁸

स्वतंत्रता-प्राप्ति के साथ ही भारत ने गुटनिरपेक्षता को अपनी राष्ट्रीय नीति के रूप में अपनाया। बर्मा ने भी इससे प्रभावित होते हुए इसके प्रति अपनी पक्षधरता घोषित की। डच उपनिवेशवादियों के प्रति अमेरिकी व ब्रिटिश रुख से चिढ़कर इंडोनेशिया को भी गुटनिरपेक्षता की नीति को अपनाना उपयोगी लगा। यूगोस्लाविया पहले ही गुटनिरपेक्षता की ओर बढ़ चुका था।

भारत के इस नीति के प्रति आकर्षण के लिए कई कारक व परिस्थितियाँ जिम्मेदार थीं—

1. भारत द्वारा किसी भी महाशक्ति के हाथों का मोहरा न बनने की अभिलाषा :

भारत की आज़ादी अनेक स्वतंत्रता-सेनानियों के बलिदान का परिणाम थी, जिसे यह आसानी से नहीं खो सकता था। इसके अतिरिक्त कई अन्य ऐसे कारक मौजूद थे, जोकि इसे 'द्वि-ध्रुवीय विश्व' का हिस्सा न बनने देने के लिए उत्तरदायी थे— सर्वप्रथम, ऐसा करने से उसकी स्वतंत्रता को खतरा था, क्योंकि किसी भी गुट के साथ जुड़ने ही उसे उस गुट की संधि व व्यवस्थाओं को भी अंगीकार करना आवश्यक था, जोकि 'प्रधान' राष्ट्र के हितों को ध्यान में रखते हुए बनाई जाती थी। दूसरे, यह भी सत्य है कि किसी भी एक गुट के साथ जुड़ने ही उस गुट के सभी सदस्य राष्ट्रों की मित्रता उसे प्राप्त हो जाती, परंतु इस बात में भी इतनी ही सच्चाई है कि दूसरे गुट के सदस्य राष्ट्रों की शत्रुता भी उसे इतनी ही सरलता से प्राप्त हो जाती। तीसरे, अपनी कमज़ोर दशा के कारण भी भारत किसी भी महाशक्ति की शत्रुता को आमंत्रित नहीं कर सकता था, क्योंकि यह ग़लती उसके लिए आत्मघाती सिद्ध हो सकती थी।

डॉ० अप्पादौराई ने गुटनिरपेक्षता के प्रति भारतीय दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए कहा है कि 'किसी भी देश के साथ सैनिक संधि और विशेषतया किसी साम्यवादी या पश्चिमी गुट के साथ किसी भी राष्ट्र के साथ सैनिक संधि में शामिल न होना।'⁹

अतः ऐसी विषम परिस्थितियों में किसी भी एक गुट के साथ जुड़ने की अपेक्षा भारतीय नीति-निर्माताओं ने भारत के लिए दोनों गुटों से अलग एक पृथक मार्ग को ही उचित समझा, क्योंकि ऐसा करके वह न केवल किसी भी महाशक्ति की शत्रुता से अपना बचाव कर सकता था वरन् एक ही साथ दोनों गुटों की मित्रता भी प्राप्त कर सकता था। इसके साथ अपने आपको दोनों गुटों से अलग रखकर भारत दोनों गुटों के मध्य शक्ति-संतुलन कायम रखते हुए दोनों ही गुटों को अतिवादी मार्ग पर जाने से रोक सकता था।

4 दिसंबर, 1947 को भारत के इसी दृष्टिकोण को प्रकट करते हुए पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था 'हम लोगों ने दोनों में से किसी भी गुट में सम्मिलित न होकर विदेशी गुटबंदी से अलग रहने का जो प्रयास किया है, इसका परिणाम यह हुआ है कि हम दोनों ही गुटों से अपनी आवश्यकता के समय सहायता प्राप्त करने में सफल रहे हैं।'¹⁰

2. भारत द्वारा साम्यवाद बनाम पूँजीवाद के वैचारिक संघर्ष में न पड़ने की इच्छा :

स्वतंत्रता के साथ ही भारत ने पाया कि विश्व वैचारिक तौर पर अमेरिका व सोवियत संघ के नेतृत्व में साम्यवादी बनाम पूँजीवादी गुटों में बँटना शुरू हो गया था। इन दोनों ही देशों—अमेरिका व सोवियत संघ की विचारधाराओं व नीतियों में दिन-रात का अंतर था। क्योंकि अमेरिका में जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था का बोलबाला था, वहीं सोवियत संघ ने साम्यवादी क्रांति (1917) के पश्चात् समाजवादी व्यवस्था को अपना लिया था। समाजवाद की यह विचारधारा उस पूँजीवादी संसार के समक्ष एक सशक्त चुनौती के रूप में उभर रही थी। इन सब कारणों के फलस्वरूप अमेरिका व सोवियत संघ के मध्य गंभीर वैचारिक मतभेद व कटुता में बढ़ोत्तरी होने लगी थी।

20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह प्रतिद्वंद्विता एक निर्णायक मोड़ पर पहुँच गई थी। जबकि दोनों गुटों ने अपने-अपने अनेक संधि-संगठनों को बनाना आरंभ कर दिया था। ऐसे संगठनों में 'नाटो', (नार्थ अटलांटिक ट्रीटी आर्गनाइजेशन), 'सेंटो' (सेंट्रल ट्रीटी आर्गनाइजेशन), 'सीटो' (साउथ ईस्ट एशिया ट्रीटी आर्गनाइजेशन), 'ओआस' (अमेरिकी राज्यों का संगठन), रीमो पैक्ट, वार्सा समझौता इत्यादि मुख्य थे।

ऐसी विषम परिस्थितियों ने भारत सहित 'तीसरी दुनिया' के राष्ट्रों के समक्ष एक गंभीर चुनौती उत्पन्न की, जिसका समाधान उन्हें गुटनिरपेक्षता की नीति में ही दिखाई दिया। भारत के इसी मंतव्य को उद्घाटित करते हुए भारतीय प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने 8 मार्च 1949 को अपने एक वक्तव्य में कहा था कि 'इस प्रकार हमारी नीति न केवल शक्तिगुटों से दूर रहने की होगी बल्कि मैत्रीपूर्ण सहयोग को संभव बनाने की भी होगी।' ¹¹

3. स्वतंत्र विदेशनीति-निर्माण की इच्छा :

लंबे राष्ट्रीय मुक्ति-आंदोलन और ब्रिटिश शासन के दौरान आर्थिक शोषण एवं राजनीतिक दमन के कारण भारतीय स्वतंत्रता-सेनानी यह महसूस कर चुके थे कि स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ क्या होता है तथा किसी भी राष्ट्र के राष्ट्रीय हितों के निर्धारण में इसकी क्या उपयोगिता है।

अपनी साम्राज्यवाद रूपी शिकंजे से मुक्ति के साथ ही जहाँ भारत को विश्व धरातल पर अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने का मौका मिला, वहीं तत्कालीन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय पूँजीवादी तथा साम्यवादी गुटों द्वारा अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रों के विस्तार के प्रयत्नों के चलते इसके लिए अपनी स्वतंत्र पहचान व अस्तित्व को बचाए रखना आसान नहीं था। ऐसी विकट परिस्थितियों में गुटनिरपेक्षता की नीति ही एक ऐसा सार्थक मार्ग था, जोकि भारत को एक सही व सुखद भविष्य की ओर ले जा सकता था।

भारतीय नीति-निर्माताओं के इसी दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए एम०एस० राजन ने कहा है कि 'विशेषतया तथा नकारात्मक रूप से गुटनिरपेक्षता का अर्थ राजनीतिक या सैनिक संधियों की अस्वीकृति, सकारात्मक रूप से इसका अर्थ था विषय के लाभों के आधार पर जब कभी भी या जैसी आवश्यकता हो, अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर 'तदर्थ निर्णय लेना।' ¹²

गुटनिरपेक्षता की नीति को उचित ठहराते हुए भारतीय प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने सही कहा था कि, 'शीत युद्ध के इस युग में गुट-निरपेक्षता को अपनाना भारत के राष्ट्रीय हितों

की प्राप्ति का यही सबसे अच्छा साधन है।’¹³

अतः हम कह सकते हैं कि स्वतंत्र विदेशनीति-निर्माण की इसी इच्छा के कारण भारत ने गुटनिरपेक्षता की नीति को अपनाया था।

4. विश्वशांति तथा सुरक्षा की प्राप्ति का उपयोगी माध्यम :

भारत की प्राचीन विचारधारा ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ शांति व सहिष्णुता जैसे सिद्धांतों पर आधारित थी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भारत प्राचीन समय से ही ‘विश्वबंधुत्व की भावना’ में विश्वास करता रहा है, इसके साथ ही भारत की विचारधारा में अहिंसा का भी विशेष स्थान रहा है। भारत बुद्ध, अशोक व गांधी का देश रहा है, जिन्होंने जीवनभर शांति तथा भ्रातृत्व की भावना ही है, जिसके कारण भारत ने कभी भी अपने पड़ोसियों पर आक्रमण न करके सदैव भाईचारे व सौहार्द का समर्थन किया। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि भारत अपनी नियति से ही विश्वशांति व सुरक्षा का पुजारी रहा है।

यह सत्य है कि स्वतंत्रता-आंदोलन के दौरान कुछ लोगों के द्वारा भारत की इस शांतिवादी नीति का विरोध किया गया, किंतु भारत के राष्ट्रवादी नेतृत्व में जिसका नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथों में था, भारतीय विदेश नीति के निर्माण हेतु भारत की पुरातन विचारधारा के आधार की ही वकालत की।

1939 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, जोकि भारत का एक मुख्य राष्ट्रवादी दल था, ने अपने हरिपुरा अधिवेशन के दौरान इस प्रकार के सिद्धांतों पर आधारित विदेशनीति का खाका प्रस्तुत किया, जोकि बाद में भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति के प्रति रुझान के लिए उत्तरदायी सिद्ध हुआ। इसका प्रारूप मुख्यतः इस प्रकार था :

‘भारत का संकल्प सभी राष्ट्रों से मित्रतापूर्ण और सहयोगपूर्ण संबंध बनाए रखने तथा सैनिक व अन्य ऐसे ही गठबंधनों से दूर रहने का है, जो विश्व को परस्पर विरोधी समूहों में विभाजित करते हैं और इस प्रकार विश्वशांति के लिए ख़तरा उत्पन्न करते हैं।’¹⁴

भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति के आलोचकों को साफ़-साफ़ शब्दों में जवाब देते हुए पं० जवाहरलाल नेहरू ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि ‘हमारे लिए यह मानने की कोई ज़रूरत नहीं है कि पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच कोई मार्ग नहीं है।’¹⁵ भारत का इस प्रकार का वैचारिक दृष्टिकोण ही भारत द्वारा गुटनिरपेक्ष आंदोलन हेतु पहल करने का प्रमुख आधार बना।

5. आर्थिक दृष्टिकोण से औचित्य :

‘तीसरी दुनिया’ के सभी देशों को साम्राज्यवादी देशों द्वारा बुरी तरह से निचोड़ लिया गया था। इन साम्राज्यवादी देशों ने अपनी वाणिज्यिक पूँजी, औद्योगिक पूँजी तथा वित्तीय पूँजी की सहायता से इन उपनिवेशी राष्ट्रों का ऐसा निर्मम शोषण किया था कि ये राष्ट्र लंबे समय तक अपने पैरों पर खड़े नहीं हो सकते थे। भारत भी, जोकि ‘तीसरी दुनिया’ का एक मुख्य देश था, इसका अपवाद नहीं था। उपनिवेशी शासकों ने बड़े ही व्यवस्थित तरीके इसकी अर्थव्यवस्था को अपने हितों के अनुकूल ढाल लिया था तथा यहाँ पर ऐसी संस्थागत आर्थिक प्रणालियाँ लागू कर दी थीं कि जिनके चलते इसका बड़े ही व्यवस्थित तरीके से शोषण होता जा रहा था। ऐसी व्यवस्था के चलते ही यह दरिद्रता के दलदल में बुरी तरह से फँसता चला जा रहा था। लंबे अरसे

तक इसकी संपदा का दोहन होते रहने के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था पंगु हो चुकी थी। ऐसे समय में भारत के सामने अपने आर्थिक पुनर्निर्माण की समस्या स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् सबसे बड़ी समस्या के रूप में सामने आ खड़ी हुई। इस समस्या का समाधान खोजना ही इसकी मुख्य प्राथमिकता थी।

‘आर्थिक तथा तकनीकी दोनों ही क्षेत्रों में अविकसित होने के कारण आवश्यक था कि वह दोनों महाशक्तियों— अमेरिका व सोवियत संघ से आर्थिक व तकनीकी सहायता प्राप्त करे।’¹⁶ भारतीय विदेश नीति के निर्माताओं का मानना था कि मात्र गुटनिरपेक्षता की नीति को अपनाकर ही अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति सुंदरतम व सुखद रूप से की जा सकती है।

भारत की यह गुटनिरपेक्षता की नीति पलायनवाद की प्रतीक नहीं है। एशिया के प्रमुख राष्ट्र के रूप में भारत ने कभी भी अपने उत्तरदायित्व को नहीं नकारा।

भारत के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए प्रो०ए० अप्पादौरइ ने कहा है, ‘शांति कायम रखना, शांतिपूर्ण तरीकों जैसे वार्ता, जाँच, मध्यस्थता, समझौता एवं न्यायिक निर्णय की दिशा में प्रयत्न करना, किसी भी पक्ष की आक्रमणकारी के रूप में भर्त्सना करने से तब तक संकोच करना जब तक किसी अंतर्राष्ट्रीय जाँज द्वारा तथ्यों के आधार पर आक्रमण निर्विवाद रूप से सिद्ध न हो जाए, दोनों पक्षों की सदाशयता पर तब तक विश्वास करना जब तक इसके विपरीत कोई बात सिद्ध न हो जाए, वार्ता की संभावनाओं की पूरी खोज करना और कम-से-कम युद्ध को स्थान विशेष तक सीमित रखना।’¹⁷

किसी भी विवाद के शांतिपूर्ण समाधान के लिए भारत की मध्यस्थता की सेवाएँ सदैव उपलब्ध रही हैं। कोरिया, हिंद-चीन, मिस्र एवं इजरायल के विवाद इसके उदाहरण हैं। परंतु 1990 के दशक से भारत की विदेश नीति में कुछ ऐसे बदलाव आए, जिन्होंने भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति पर व्यापक असर डाला। इस बदलाव के लिए जहाँ अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ जिम्मेदार थीं, वहीं घरेलू वातावरण भी कुछ हद तक जिम्मेदार था।

1991 ई० में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में कई नाटकीय परिवर्तन उदित हुए, जिनमें सोवियत संघ का विघटन, वार्सा संधि का लुप्त होना, जर्मनी का एकीकरण, शीतयुद्ध की समाप्ति आदि। अतः यदि देखा जाए तो जिन कारणों व मुद्दों पर गुटनिरपेक्ष आंदोलन का अस्तित्व कायम था, वे सभी समाप्त हो गए थे। अतः ऐसी परिस्थितियों में गुटनिरपेक्षता की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न लगना स्वाभाविक ही था। ‘सितंबर 1991 ई० में अंकारा (तुर्की) में गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के विदेश मंत्रियों के सम्मेलन में यह बात प्रकाश में आई। जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि ‘क्यों न इस आंदोलन को समाप्त कर दिया जाए अथवा इसका नाम बदलकर ऐसा रखा जाए कि जिससे यह बोध हो कि निर्गुट राष्ट्र अब ‘तीसरी दुनिया के आर्थिक हितों की लड़ाई लड़ेंगे।’¹⁸ यहाँ यह बात भी ध्यान रखने-योग्य है कि गुटनिरपेक्ष आंदोलन को समाप्त करने का प्रस्ताव भी मिस्र के प्रतिनिधि की तरफ से आया, जोकि इसके जन्म में मुख्य सहयोगी था। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि निर्गुट आंदोलन अपनी प्रासंगिकता खो चुका है।

सितंबर 1992 में इंडोनेशिया की राजधानी जकार्ता में संपन्न हुए शिखर सम्मेलन में यद्यपि कई राष्ट्रों के प्रतिनिधियों द्वारा भाग न लेने के कारण सम्मेलन को वह गरिमा नहीं मिल सकी, जोकि पूर्व के सम्मेलनों को मिलती थी, फिर भी कई दृष्टिकोणों से यह सम्मेलन अभूतपूर्व

रहा। क्योंकि इस सम्मेलन की सफलता ने जहाँ निर्गुट आंदोलन की समाप्ति की आशाओं को निर्मूल सिद्ध किया, वहीं कई ऐसे मुद्दे भी उठाए गए, जिन्होंने इसको पुनर्जीवन प्रदान किया। इस सम्मेलन में जहाँ बोस्निया और इराक के ज्वलंत प्रश्नों पर गंभीर मतभेद के बावजूद एकता व सर्वसम्मति पर आधारित घोषण-पत्र जारी किया गया, वहीं सदस्य राष्ट्रों द्वारा पृथ्वी रक्षाकोष की स्थापना पर भी सहमति व्यक्त की गई। 'यह सम्मेलन भारत के दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण रहा, क्योंकि इस सम्मेलन में जहाँ भारत द्वारा रखे गए आतंकवाद के प्रस्ताव पर सदस्य राष्ट्रों द्वारा भी आतंकवाद के विरुद्ध कार्यवाही की माँग की गई, वहीं तत्कालीन पाकिस्तानी प्रधानमंत्री नवाज शरीफ़ द्वारा उठाए गए कश्मीर मुद्दे को ज्यादा तबज्जो नहीं मिल सकी।' ¹⁹ इसके पश्चात् (अक्टूबर 1995) में कोलंबिया की राजधानी कार्टेगेना में सम्पन्न 11वें शिखर सम्मेलन, सितंबर 1998 में दक्षिण अफ्रीका के डरबन शहर में सम्पन्न 12वें शिखर सम्मेलन तथा 2003 ई० में कुआलालम्पुर शिखर सम्मेलन व 2006 ई० में हवाना शिखर सम्मेलन के माध्यम से भारत ने विभिन्न समसामयिक समस्याओं पर सदस्य राष्ट्रों का ध्यान आकर्षित करते हुए उनके निराकरण के लिए कदम उठाने का आह्वान किया गया। इन सम्मेलनों के दौरान जहाँ भारत ने गुटनिरपेक्ष आंदोलन की उपादेयता को सिद्ध किया, वहीं गुट-निरपेक्ष आंदोलन के भविष्य व इसकी भूमिका के यथार्थ व व्यावहारिक विश्लेषण की सराहना की गई और बदलती हुई वास्तविकताओं के साथ सामंजस्य स्थापित करने में आंदोलन के लिए आवश्यक स्थिति-निर्धारण तथा दिशा-निर्देशों में एक महत्वपूर्ण योगदान माना गया।

भारत ने समय-समय विभिन्न मुद्दों विशेषकर मानवाधिकारों, आतंकवाद व निशस्त्रीकरण जैसे संवेदनशील मुद्दों पर संतुलित व रचनात्मक रुख अपनाया है तथा आंदोलन के प्रति अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त की है।

संदर्भ

1. गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया पब्लिकेशन्स, इंडियाज फ़ौरन पॉलिसी, सलेक्टेड स्पीचेज ऑफ़ जवाहरलाल नेहरू, सितंबर 1946, अप्रैल 1961
2. समसामयिक संदर्भ में गुटनिरपेक्ष-आंदोलन की प्रासंगिकता, क्रोनिकल, अगस्त 1995, पृ० 332
3. पीटर विलेट, द नॉन-एलाइंड मूवमेंट : ओरिजिन्स ऑफ़ थर्ड वर्ल्ड एलायंस (न्यूयार्क : 1984) पृ० 58
4. पीटर लीओन, न्यूट्रीलिज़्म, लिसेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस, 1965, पृ० 17
5. ए०सी० हमीद, इन परस्यूर ऑफ़ पीस, (नई दिल्ली 1998), पृ० 32
6. वही, पृ० 41
7. के०सी० चौधरी, नान एलाइंड सिमिस्ट्री (कैपिटल प्रकाशन, दिल्ली, 1988), पृ० 21
8. दृष्टि : द विज़न, पृ० 132
9. के०पी० मिश्रा, नान समिट एडिट वाए वी०डी० चोपड़ा, पैट्रायट, नई दिल्ली, 1986
10. प्रेम अरोड़ा, इंटरनेशनल रिलेशन, (बुक राइवे, नई दिल्ली, 1984)
11. भारत की विदेशनीति : निरंतरता और बदलाव, प्रतियोगिता दर्पण, मई 2007, पृ० 1797
12. वही, पृ० 1797

13. गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया पब्लिकेशन्स, इंडियाज फ़ौरन पॉलिसी, सलेक्टेड स्पीचेज ऑफ़ जवाहरलाल नेहरू, सितंबर 1946, अप्रैल 1961
14. हरीजय सिंह, इंडिया एंड नॉन एलाइंड वर्ल्ड : सर्च फार ए न्यू आर्डर, पृ० 53
15. दृष्टि, द विजन, पृ० 132
16. यू०एस० बाजपेई, नॉन एलाइनमेंट : प्रसेप्स एंड प्रोस्पेक्ट्स, पृ० 101
17. ए० अप्पादौराड, डोमेस्टिक रूट ऑफ़ इंडियन फ़ौरन पॉलिसी, 1947-1972
18. गुटनिरपेक्ष आंदोलन अतीत से भविष्य की ओर, प्रतियोगिता दर्पण, दिसंबर 2006, पृ० 834
19. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति, (लक्ष्मी प्रकाशन, नई दिल्ली), पृ० 297

□ शास्त्री कालोनी, गली नं० 2,
मन्० 1700/31, सोनीपत (हरियाणा)

‘अरुंधती’ महाकाव्य का वस्तु और शिल्प-विधान

डॉ० सभापति मिश्र (डी०लिट्०)

अध्यक्ष, हिंदी विभाग, हंडिया पोस्ट ग्रेजुएट कालेज,
हंडिया, इलाहाबाद (उ०प्र०)

‘अरुंधती’ महाकाव्य आधुनिक युग में ‘कामायनी’ का पुनराख्यान है। यह महाकाव्य वाग्देवी का साक्षात् विग्रह है। कवि ने रामकथा का आधार ग्रहण करके भी अपनी काव्य-प्रतिभा एवं नवनवोन्मेषशालिनी कल्पना के रंग में प्रस्तुत महाकाव्य को रंगकर ऐसे रसमय वह काव्यपुरुष का साक्षात् अवतरण है। आचार्य भामह जब धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी पुरुषार्थ-चतुष्टय को काव्य का प्रयोजन कहकर परिभाषित करते हैं और कलानैपुण्य, विलक्षणता, प्रीति और कीर्ति का विस्तार करना ही उसकी सिद्धि मानते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने ऐसे ही महाकाव्य को ध्यान में रखकर अपनी काव्य-संबंधी परिभाषा निर्मित की है।¹

प्रस्तुत महाकाव्य जगद्गुरु रामभद्राचार्य द्वारा विरचित है। यह काव्य वस्तुविन्यास, शिल्प और काव्यसौंदर्य की दृष्टि से जयशंकर प्रसाद की अमरकृति ‘कामायनी’ से प्रतिस्पर्धा करता हुआ परिलक्षित होता है।

वस्तु-विन्यास : ‘अरुंधती’ महाकाव्य कुल पंद्रह सर्गों में विन्यस्त है। कथा के नायक ब्रह्म-प्राण-समुद्भूत ब्रह्मर्षि वशिष्ठ और नायिका उनकी धर्मपत्नी अरुंधती हैं। अरुंधती महर्षि कर्दम की दुहिता और प्रजापति की दौहित्री हैं। इन दोनों की कथा ही इस महाकाव्य की आधिकारिक कथा है। प्रासंगिक कथा के रूप में रामकथा का समावेश हुआ है। यही इस महाकाव्य की ‘पताका’ भी है। राजा विश्वरथ का प्रतिक्रियात्मक औद्धत्य-कर्म, मन्थरा की कुमंत्रणा और षड्यंत्र के साथ-साथ कैकेयी की बुद्धि का उलटफेर आदि इसकी ‘प्रकरी’ है। इसमें कल्पना का समन्वय किया गया है। कथानक के इस उपक्रम में यह महाकाव्य पूर्ण सफल है। वशिष्ठ, विश्वामित्र और अरुंधती इतिहास-प्रसिद्ध पात्र हैं। यही नहीं, ये वैदिक मंत्रों के द्रष्टा ऋषि भी हैं।²

कार्यावस्था की दृष्टि से वशिष्ठ और अरुंधती का सहज प्रणय ‘आरंभ’, ब्रह्माजी के वर से उनका प्रणय-सूत्र में बँधकर भगवद्-आराधना करना, इंद्रिय-संयमादि द्वारा राजर्षि विश्वरथ की हिंसक प्रक्रिया को ऋषि-दंपती द्वारा स्वाभाविक ढंग से क्षमा कर देना ‘प्रयत्न’ नामक कार्यावस्था है। राम के अवतरण एवं ऋषि वशिष्ठ तथा अरुंधती के वानप्रस्थ हेतु प्रयाण करते हुए ब्रह्माजी द्वारा परब्रह्म के दर्शन होने का आशीर्वाद प्रदान करना ‘प्राप्त्याशा’ तथा राम का वन-हेतु प्रयाण ‘नियतापत्ति’ नामक कार्यावस्था है। राम का वन से प्रत्यानयन एवं अयोध्या में आकर अरुंधती-वशिष्ठ को आह्लादित करना ‘फलागम’ नामक कार्यावस्था है।

कथोपकथन : 'अरुंधती' महाकाव्य की संवाद-योजना में कवि पूर्णतः सफल है। इस महाकाव्य के संवाद प्रसंगानुकूल एवं भावों की अभिव्यक्ति में सहायक हैं। चरित्र-चित्रण पात्रों के सर्वथा अनुकूल है। कथोपकथन स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत हुआ है। वशिष्ठ और अरुंधती का संवाद सर्वथा परिस्थितियों के अनुकूल है। यथा—

वशिष्ठ : अवलोक प्रिया का बदन चंद्र उमड़ा मुनि मानस प्रणय सिंधु; सुस्मित मुख से रस में बोले कैसे आई हो दयित बंधु।³

अरुंधती : ओ जन्म-जन्म के प्रिय सहचर? अब पूछ रहे मेरा संस्तव; सरिता का परिचय कहो भला? विस्मृत करता क्या सलिलार्णव। आश्चर्य अहो यह महाश्चर्य जोत्सना को शशि जानता नहीं; हा हंत! अंशुमाली भ्रम-वश छाया को पहचानता नहीं।⁴

सौंदर्य-निरूपण : मानव-हृदय सदैव से ही सौंदर्य का उपासक रहा है। वह चाहे प्रकृति का सौंदर्य हो या रूप-सौंदर्य। यही कारण है कि आदिकाल से ही सभी काव्यों में सौंदर्य-निरूपण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। ललित-कलाओं का लालित्य ही इसी सौंदर्य में अधिष्ठित है। सौंदर्य मन को मोहित करता है, चाहे वह दृश्य-सौंदर्य हो अथवा नाद-सौंदर्य।

'अरुंधती' महाकाव्य में जिस रूप-सौंदर्य का निरूपण हुआ है, वह वासनामूलक अथवा उत्तेजक न होकर सात्त्विक है। कवि के लिए नारी भोग की वस्तु नहीं है। वह प्रेम, श्रद्धा, ममता, त्याग, अनुराग, करुणा और प्रेरणा की प्रत्यक्ष प्रतिमूर्ति है। यही कारण है कि कवि ने अरुंधती के सौंदर्य-निरूपण में रीतिकालीन अथवा भारतेंदुयुगीन कवियों की दृष्टि से देखकर अपना सौंदर्य-निरूपण नहीं किया है। अरुंधती महाकाव्य का सौंदर्य-चित्रण सर्वथा नवीन दृष्टिकोण से हुआ है। यह सौंदर्य-निरूपण उत्तेजक तथा लालसापूर्ण नहीं है। इसमें अंग-प्रत्यंग की सुषमा का भव्य चित्रण किया गया है।

नव स्वाति जलद के सलिल बिंदु चातकी चतुर थी चाह रही;

शारद शशांक से विभावरी संगम अभिलाष निबाह रही।⁵

प्रकृति-सौंदर्य : प्रकृति अनादिकाल से मानव की सहचरी रही है। आँख खोलते ही मानव का सर्वप्रथम साक्षात्कार प्रकृति से होता है। मानव प्रकृति के क्रोड में रहता हुआ उसके सौंदर्य तथा रूप पर अभिभूत हो उठता है। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो, जो भोर की पहली किरण को देखकर आमोदपूरित न हो। इसी तरह चंद्रमा, सूर्य, रजनी, वितान, भूधर, प्रपात, निर्झरिणी आदि उसे आह्लादित करते हैं। कवि भी ऐसे सौंदर्य की आभा को देखकर अभिभूत होता है। सौंदर्य उसके सामने चंचल आँखों को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। यथा—

कल-कल करते निज नीड़ ओर सानंद उड़ रहे विहग वृंद;

था चलता मर-मर मलय मरुत सुरभित शीतल मधु मंद-मंद।

संध्या में अब ये दीख रहे शित, श्याम, अरुण वर तीन रंग;

मानो प्रयाग में विलस रहे पावन त्रिवेणी का त्रय तरंग।⁶

रस-निरूपण : भारतीय वाङ्मय में 'रस' को ब्रह्मानंद-सहोदर कहा गया है। इस सृष्टि का सौंदर्य है। वह काव्य का प्राणतत्त्व है। रस ब्रह्म है, वह सृष्टि का परम सौंदर्य और

परम आनंदभाव है।⁷ इसी आनंदभाव की प्राप्ति के लिए कवि और रचनाकार अपने काव्य की सृष्टि करता है। इस उपक्रम में जब वह भावनाओं के प्रबल आलोड़न, गाढ़ अनुभूतियों और नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा की त्रिवेणी में आद्यंत आप्लावित होकर जिस अमृत-तत्त्व का अवगाहन करता है, वही उसका परम मधु नवनीत है। यही उसकी रसदशा है। इसी रसदशा को प्राप्त करके कवि ने अपने अरुंधती महाकाव्य को पूर्ण किया है। इसीलिए इसमें विभिन्न रसों का सुंदर परिपाक संभव हो सका है। अंगीरस के रूप में यद्यपि इसमें शांतरस प्रधान होकर आया है, किंतु कवि ने अन्य रसों को विस्मृत नहीं होने दिया है। इसी कारण शृंगारादि रस उसके सहायक बनकर रसोत्कर्ष में सहायता प्रदान करते हैं। कवि ने अपने काव्य में जिन अन्य रसों की नियोजना की है, वे वीर, रौद्र एवं करुण हैं। इन रसों की नियोजना महाकाव्य में अनेक स्थलों पर हुई है। यथा—

शृंगाररस : नवनील विलोचन के अंजन दिखते अंचल के कोने से;
ये असित-पुष्प में छिपे हुए लगते मृदु मधुकर छौने-से।
कर कर-सरोज संपुट भामिनी कुछ मंद-मंद हँसकर बोली;
मुनिवर मानस मानस-सर में दांपत्य सुधारस को घोली।⁸

रौद्ररस : ऋषि को भर्त्सित कर राजपुत्र खूँखार अधिक विकराल हुआ,
अब उमड़ पड़ा अभिमान सिंधु आनन कराल उस काल हुआ।⁹

करुणरस : निर्दोष धेनु का आक्रंदन सुन खगमृग तरुण रोते थे,
यह देख धर्म का तिरस्कार वनदेव क्षुब्ध-से होते थे।¹⁰

‘अरुंधती’ महाकाव्य में कवि ने अनेक रसों का पूर्ण परिपाक दिखाया है। कवि की रसयोजना पाठकों को आनंदानुभूमि में निमज्जित करने में पूर्ण समर्थ है।

बिंबविधान एवं चित्रमयता : काव्यभाषा में बिंब अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इनसे काव्य में चमत्कार की सृष्टि होती है। इनके द्वारा काव्य में एक प्रकार का भाववर्धित शब्द चित्र, ऐंद्रिय माध्यम द्वारा आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक सत्त्यों तक पहुँचने का मार्ग-सा निर्मित हो जाता है। बिंब एक प्रकार से अमूर्त भाव अथवा विचार की पुनर्निर्मिति हैं। ‘अरुंधती’ महाकाव्य में कवि ने दृश्य बिंब, श्रवण बिंब, स्वाद बिंब, सूक्ष्म बिंब, स्थूल बिंब, स्मृति बिंब तथा गति बिंब के अनेक चित्र निर्मित किए हैं—

दृश्य बिंब : संध्या में अब दीख रहे शित, श्याम, अरुण वर तीन रंग।¹¹

श्रवण बिंब : कल-कल करते निज नीड़ ओर सानंद उड़ रहे विहग बृंद।¹²

स्वाद बिंब : अधरों पर आज मचलती थी, मुस्कान मधुर हल्की लाली।¹³

सूक्ष्म बिंब : सुरभित शीतल मधु मंद-मंद।¹⁴

स्थूल बिंब : थे गात सिहरते पुलक पूर्ण कर में थी पूजा की थाली।¹⁵

स्मृति बिंब : झिल्ली कुल की झनकर मधुर मंगल संगीत रचाती थी।¹⁶

गति बिंब : चलती थी हंस गमन मंथर खोयी-सी कुछ अलसाई-सी।¹⁷

कवि द्वारा प्रयुक्त काव्यबिंबों से उसकी सर्जना में सौंदर्य, अनुभूति एवं चमत्कार की जो प्रस्तुति हुई है, वह काव्य को द्विगुणित रसात्मकता से अभिर्मंडित कर देती है। सूक्ष्म अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में कवि ने अपनी कलात्मकता का पूर्ण प्रदर्शन किया है।

अलंकार-योजना : अलंकार काव्य के शोभाकारक धर्म हैं। इनके द्वारा काव्य में चमत्कार का प्रदर्शन होता है। अलंकरण के प्रति मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है। सौंदर्य के प्रति उसका खिंचाव जन्मजात है। कवि जब-जब अपनी अनुभूतियों को सशक्त अभिव्यक्ति देना चाहता है, तब उसे अलंकारों की आवश्यकता होती है। इसीलिए अलंकारों के महत्व का निषेध नहीं किया जा सकता। काव्य का केंद्रीय तत्त्व अनुभूति ही होती है। किंतु जब कवि अपनी विशिष्ट अनुभूति के क्षणों को काव्यबद्ध करता है, तब अलंकारों से भाषा अनायास ही मंडित हो जाती है। इस प्रकार अलंकारों का काव्य में उपयोग जितना ही सहज होगा, काव्य की श्रेष्ठता उतनी ही असादिग्ध होगी।¹⁸ प्रतिभा से युक्त होने पर कवि की अभिव्यक्ति स्वभावतः अलंकृत होकर प्रकट होती है। कवि अपने अलंकार-निरूपण के प्रति पूर्णतया सजग है। किंतु अलंकारों के मोह में पड़कर वह अपनी कविता के सौंदर्य को नष्ट नहीं करना चाहता है। अलंकार उतने ही महत्वपूर्ण हैं, जितना वे नवयौवना के सौंदर्य में उत्कर्ष कर सकें। अलंकारों के सुष्ठु प्रयोग से कवि के रचना-विधान में लालित्य आ गया है। मानवीकरण, अनुप्रास और उपमा के साथ ही विभिन्न अलंकारों का विनियोग 'अरुंधती' महाकाव्य में हुआ है।

मानवीकरण : मारुत के मंद झकोरों से कर रही लता, तरु परिरंभण।¹⁹

अनुप्रास : निर्भर प्रेम पयोद मग्न शिशु, पद का रहा अँगूठा चूस,
पाटल पुष्प पयोज चषक से, शशि को सौंप रहे पीयूष।²⁰

उपमा : निखिल लोक लावण्य धाम अभिराम जलद-सा श्यामल तन;
जिस पर दमक रहा दामिनि-सा झिलमिल झिलमिल पीत बसन।²¹

कवि ने अलंकारों का सायास प्रयोग न करके उसे सहज ढंग से ही प्रयुक्त किया है। इसके द्वारा काव्य में सौंदर्य एवं चमत्कार की वृद्धि हुई है।

भाषा-विधान : भाषा भावाभिव्यक्ति का माध्यम है। संप्रेषणीयता इसका प्रधान गुण है। कवि और पाठक के मध्य जो संवाद स्थापित होता है, वह सेतु भाषा ही है। 'अरुंधती' महाकाव्य का कवि इसके महत्व से भलीभाँति परिचित है। साथ-ही-साथ वह संस्कृत, हिंदी और अवधी भाषा का प्रकांड विद्वान भी है। धर्म, संस्कृति और देववाणी की पताका उसके स्पर्शमात्र से धन्य होने की अनुभूति पाती है। फलतः कवि की कृति में संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्राधान्य हो जाना स्वाभाविक है। किंतु भाषा के व्यावहारिक पक्ष से वह अनभिज्ञ नहीं है। इसका प्रमाण 'अरुंधती' महाकाव्य है। इसमें भाषा के तीन स्तर परिलक्षित होते हैं— 1. संस्कृतनिष्ठ भाषा 2. तत्सम-तद्भव मिश्रित व्यावहारिक भाषा और 3. देशज एवं विदेशी शब्दयुक्त भाषा।

कवि ने अपने स्वाभाविक कवि-कर्म की रक्षा करते हुए किसी भी प्रकार के शब्दों की उपेक्षा नहीं की है और न ही उसे ढूँढ़-ढूँढ़ कर अपने काव्य में पिरोया ही है। भावों के सहज प्रवाह में जो शब्द आ गए, कवि ने उन्हें प्रयुक्त कर लिया है। इन शब्दों को तौलकर, उनकी सही गुणवत्ता परखकर ही अपने काव्य में प्रयुक्त करने में कवि सफल रहा है। कहावतों और मुहावरों के प्रयोग से कवि की काव्यभाषा चटख और चोखी हो गई है।

छंद-विधान : छंद कविता के कलेवरस्वरूप हैं। वे उस कल-कल छल-छल करती हुई तटनी के उन किनारों की भाँति हैं, जिसके मध्य से अमृतमयी कविता प्रवाहित होती है। छंद भावों की अभिव्यक्ति में सहायता प्रदान करते हैं। इनके ही कारण कविता में अनुरणन,

गेयता और नाद बिंब का समावेश होता है। कवि ने प्रस्तुत महाकाव्य में इसी बात को दृष्टि में रखकर अपनी छंद-योजना की है। उसके द्वारा प्रयुक्त छंदों में मंद्राक्रांता, शिखरिणी, इंद्रवज्रा, उपेंद्रवज्रा, वंशस्थ, द्रुतबिलंबित, मालिनी, उपजाति आदि विविध छंदों और अनेक गीति-पद्धतियों का प्रयोग हुआ है। प्रायः एक सर्ग में एक ही छंद का प्रयोग करके सर्गांत में छंद-परिवर्तन किया गया है। इसके द्वारा कवि ने अगले सर्ग की कथावस्तु की ओर संकेत कर नवीन वस्तु की पीठिका को तैयार किया है, जिससे पाठकों, श्रोताओं को एक संबल मिल जाए और वे आगे की कथा को सुनने के लिए मानसिक रूप से तैयार रहें।

इस प्रकार कथावस्तु के विविध आयामों एवं शिल्पविधान के वैविध्य के कारण 'अरुंधती' महाकाव्य 'कामायनी' का परवर्ती सृजन प्रतीत होता है। यह काव्य सर्वथा निर्दोष होकर रसव्यंजना के कारण एक कालजयी कृति के रूप में प्रतिष्ठित है। यह हिंदी साहित्य की एक स्थायी निधि है। इसका अनवरत मनन और मूल्यांकन होना चाहिए।

संदर्भ

1. भामह, काव्यालंकार 1.2
2. ऋग्वेद 1.21, 140, 4 तथा 10.3.3
3. अरुंधती महाकाव्य, द्वितीय सर्ग, छंद 26
4. वही, छंद 44
5. वही, छंद 35
6. वही, छंद 26
7. रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनंदी भवति। तैत्तरीयोपनिषद् (ब्रह्मानंदवल्ली) अनुवाक 7, मंत्र 2
8. अरुंधती महाकाव्य, द्वितीय सर्ग, छंद 43
9. वही, षष्ठ सर्ग, छंद 140
10. वही, छंद 142
11. वही, द्वितीय सर्ग, छंद 26
12. वही, छंद 26
13. वही, छंद 27
14. वही, छंद 26
15. वही, छंद 32
16. वही, छंद 27
17. वही, छंद 33
18. डॉ० सभापति मिश्र, भारतीय काव्यशास्त्र एवं पाश्चात्य साहित्य-चिंतन, पृ० 50
19. अरुंधती महाकाव्य, षष्ठ सर्ग, छंद 7
19. वही, प्रथम सर्ग, छंद 11
21. वही, छंद 14

□ सावित्री सदन खदरान,
हंडिया, हलाहाबाद (उ०प्र०)

वामनोक्त गुण एवं उनकी सूक्ष्म चिंतन दृष्टि

डॉ० अल्पना जोशी

अध्यक्ष हिंदी विभाग,

राज० स्नात० महाविद्यालय, ऋषिकेश (उत्तराखंड)

गुणों पर विचार 'नाट्यशास्त्र' प्रणेता भरतमुनि से प्रारंभ हो गया था। भरतमुनि ने गुणों की संख्या दस बताई—

श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पद सौकुमार्यम्।

अर्थस्य च व्यक्तिरूदारता च काँतिख्यकाव्यस्य गुणा दशैते।¹

किंतु भरत ने दोष वर्णन के पश्चात् उनके विपर्यय को काव्य-गुण कहा—

गुण विपर्ययाद् एवां माधुर्यौदार्यलक्षणः।

एत एव विपर्यस्तागुणाः काव्येषु कीर्तिताः।²

भरतमुनि के उक्त कथन से गुण दोषाभाव रूप प्रतीत होते हैं। हालाँकि इस पर भी अभिनवगुप्त³ नगेंद्र⁴ प्रभृति आचार्यों के अपने तर्क हैं।

भरतमुनि के पश्चात् आचार्य दंडी, भामह, भोजराज, पंडितराज जगन्नाथ आदि ने भी गुणों पर चिंतन किया। भामह ने 'काव्यालंकार' में माधुर्य, ओज और प्रसाद का निरूपण किया⁵ तो दंडी ने गुणों के दस भेदों का तो उल्लेख किया, किंतु उसकी सुस्पष्ट परिभाषा नहीं दी। मात्र अलंकारों के संदर्भ में गुणों पर अपने विचार व्यक्त किए—

एते वैदर्भमार्गस्य प्राणः दश गुणाः स्मृताः।⁶

सर्वप्रथम रीतिसिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य वामन ने ही गुणों के सुस्पष्ट लक्षण दिए और उन पर सर्वथा नई दृष्टि से विचार किया। उन्होंने गुणों को काव्यशोभाकारक धर्म कहा—

काव्यशोभायाः कर्त्ता रौ धर्माः गुणाः।⁷

इस तरह गुणों को उन्होंने काव्य-सौंदर्य की सृष्टि का मूल तत्त्व माना। वामन ने गुणों का अभिधान तो भरतमुनि के समान ही रखा, किंतु उन्हें शब्द और अर्थ के भेद से द्विविध कर अपनी मौलिक चिंतन-दृष्टि का परिचय दिया। उनके अनुसार शब्दगुण वर्णयोजना या पदबंध के सौंदर्यविधायक धर्म हैं और अर्थगुणों के अंतर्गत उन्होंने समस्त अंतरंग सौंदर्य को समाविष्ट कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि रीति-सिद्धांत मात्र काव्य-शरीर अथवा शैली नहीं अपितु यह काव्य की आत्मा का भी स्पर्श करता है।

वामन ने 'गाढबंधत्वमोजः'⁸ कहकर पदों की सामासिकता, संयुक्ताक्षरत्व में शब्दगुण ओज माना तो 'अर्थस्यप्रौढिरोजः'⁹ कहकर अभिधेय अर्थ के प्रौढत्व में अर्थगुण ओज

स्वीकार किया। उनके अर्थगुण ओज की यह प्रौढ़ता—

पदार्थे वाक्यवचने वाक्यार्थे व पदाभिधा प्रौढिव्यासमासौ च साभिप्रायत्वमेव च।¹⁰

इन पाँच रूपों में दिखाई देती है।

प्रसाद-गुण-विवेचन में भरतमुनि और दंडी शब्द और अर्थ दोनों को साथ समेटकर चलते हैं, जबकि आचार्य वामन ने क्योंकि अभिधान एक होते हुए भी शब्द और अर्थ के अलग-अलग गुण माने जाते हैं। अतः उनके प्रसाद-गुण-विवेचन में भी नितांत भिन्नता है। वे 'शैथिल्यं प्रसादः' की शिथिलता में प्रसाद शब्द गुण कहते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि शिथिलता के कारण पद-रचना में गुण कैसे? दोष क्यों नहीं? इसका समाधान करते हुए वामन कहते हैं कि ओज के मिश्रित होने से शैथिल्यरूप प्रसाद भी गुण है।¹² तात्पर्य यह है कि जहाँ 'ओज' और 'प्रसाद' दोनों मिले-जुले रहते हैं, वहाँ 'प्रसाद' गुण होता है। ओजसहित बंधशैथिल्य में गुण है, जबकि ओजरहित बंधशैथिल्य में दोष ही है।

अर्थगुण प्रसाद में वामन अर्थ की निर्मलता और स्पष्टता देखते हैं।¹³ अर्थात् जहाँ अभिप्रेत अर्थ के लिए उतने ही शब्दों का प्रयोग हो, जितने से वह अर्थ स्पष्टता के साथ उजागर हो जाए, वहाँ अर्थगुण प्रसाद की स्थिति है।

पदों की मसृणता (चिकनापन) अर्थात् जहाँ बहुत से पद एक पदवत् प्रतीत हों, वहाँ शब्दगुण श्लेष है¹⁴ तो 'घटना श्लेषः'¹⁵ कहकर अर्थगुण श्लेष में भी वामन की मौलिकता चिंतन का विषय है। ये घटनाक्रम, कौटिल्य अनुल्बणत्व तथा उपपत्ति के योग से सुसंबद्धता में देखी जा सकती है। इस गुण का पूर्ण सौंदर्य प्रबंधकाव्यों में अधिक देखने को मिल सकता है। वैसे मुक्तकों में भी इसके आंशिक दिग्दर्शन हो सकते हैं।

रचना-शैली के अभेद अर्थात् आद्यन्त एक समान रचना-शैली के प्रयोग में समता शब्द गुण¹⁶ और अर्थ में व्यवधान न आने के लिए क्रम से वर्णन में समता अर्थ गुण¹⁷ वामन की सूक्ष्म दृष्टि के ही परिचायक हैं।

इसी तरह 'समाधि' गुण विवेचन में वामन की सर्वथा नई सोच चमत्कृत करती है। भरतमुनि ने उपमादि अलंकारों तथा यत्नपूर्वक अभीष्ट अर्थों से युक्त रचना में 'समाधि' गुण माना।¹⁸ दंडी भी भरत की भाँति 'समाधि' गुण को अर्थ में देखते हैं। किंतु वामन का 'समाधि' शब्द गुण आरोह और अवरोह के क्रम में है।¹⁹ आरोह का अर्थ है दीर्घादि गुरु अक्षरों का प्राचुर्य और अवरोह का अर्थ है लघु आदि शिथिल अक्षरों का प्राचुर्य। समाधिमूलक अर्थ गुण में भी अयोनि और अन्यछायायोनि की कल्पना उनकी सूक्ष्म दृष्टि को ही इंगित करती है। 'अयोनि' और अन्यछायायोनि से उनका अभिप्राय क्रमशः कवि की स्वप्रतिभा से उच्छलित रचना तथा अन्य कवि की छाया या प्रभाव से प्रेरित रचना से है।

'माधुर्य' गुण के संदर्भ में वामन से पूर्व भरतमुनि और दंडी ने प्रकारांतर से वचन की रसात्मकता में ही इसे देखा। जबकि वामन का माधुर्य शब्दगुण रचना का गुण होने से नितांत भिन्न है। वे पृथकपदता या समासरहितता में 'माधुर्य' शब्दगुण²⁰ तो अर्थगुण माधुर्य उक्ति की विचित्रता या भंग्यंतर से कहे गए कथन से आए अर्थसौंदर्य में देखते हैं।²¹

भरतमुनि सरल शब्दों व सुकोमल अर्थ से युक्त रचना में 'सौकुमार्य' गुण मानते हैं।²² दंडी उस रचना में जिसमें प्रायः कठोर अक्षर न हों।²³ यहाँ वामन का 'सौकुमार्य' लक्षण शब्दांतर

से दंडी के लक्षण से मेल खाता प्रतीत होता है— ‘अजरठत्वं सौकुमार्यम्’²⁴ में वे अकठोर शब्दप्रयोग में सौकुमार्य शब्दगुण देखते हैं। अर्थगुण ‘सौकुमार्य’ कठोर बात को भी कठोर न लगने वाले अंदाज़ में कहे जानेवाले प्रसंगों में देखा जा सकता है।²⁵

‘उदारता’ शब्द-गुण में भी पूर्ववर्ती भरत एवं दंडी से नितांत भिन्न लक्षण देते हुए वामन उन पदों में उदारता देखते हैं, जो नृत्यत्राय एवं ध्वन्यात्मक हों²⁶ और ग्राम्य प्रसंग में भी ग्राम्यता न आनेवाले शिष्ट प्रसंगों में वामन के अर्थगुण ‘उदारता’ को देखा जा सकता है।²⁷

स्पष्ट अवबोधन करानेवाले पद-प्रयोगवाली साफ़-सुथरी रचना में ‘अर्थव्यक्ति’ शब्दगुण²⁸ तथा वस्तु के सहज स्वाभाविक वर्णन से ‘अर्थव्यक्ति’ अर्थगुण देखा जा सकता है।²⁹ उनका अर्थगुण वहाँ है, जहाँ कवि किसी वस्तु का स्वाभाविक वर्णन करता है।

इसी तरह अंत में कांति गुण-विवेचन में प्राचीन कवियों की छाया से मुक्त नूतन अथवा मौलिक रचना में जो चमक होती है, वही वामन का ‘कांति’ शब्दगुण है।³⁰

कांति अर्थगुण में भी वामन की मौलिकता प्रदर्शित करते हुए शृंगार आदि रसों की दीप्ति में कांति अर्थगुण मानते हैं।³¹ यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि वामन ने अपने कांति अर्थगुण में रसों का समाहार उस समय किया, जब रस केवल ‘नाट्यशास्त्र’ का विषय था।

निष्कर्षतः वामन का गुण-विवेचन शब्द और अर्थ के विविध आयामों को अपने में समेटे हुए है। उनके शब्दगुण में जहाँ रचना का शैलीगत सौंदर्य उजागर हुआ है, वहाँ अर्थगुणों में काव्य का सारा भावपक्षीय सौंदर्य समाया हुआ है। विशेषकर अर्थगुण तो बहुत ही व्यापक हैं। इनके विवेचन में वामन ने अपनी बहुत ही सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है। माधुर्य, श्लेष, ओज और कांति गुणों के अंतर्गत तो काव्य के समस्त अंगों का समावेश हो जाता है। वामन के सामने रस और अलंकार सिद्धांत तो थे, किंतु ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य सिद्धांत तब भविष्य के गर्भ में थे। काव्य में भले ही इन सिद्धांतों का नाम न रहा हो, उनका अर्थ-सौंदर्य तो तब भी था। वामन ने अपने अर्थगुणों में उस सौंदर्य को समाविष्ट करने का प्रयास किया। ‘ओज’ की पंचम प्रौढ़ि में ‘शब्दी व्यंजना’, अर्थगुण ‘प्रसाद’ में ‘आर्थी व्यंजना’, कांति में ‘रस’ के संकेत मिलते हैं। काव्य की तीन उक्तियाँ रसोक्ति, स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के संकेत कांति, अर्थव्यक्ति और माधुर्य में दिखाई दे जाते हैं। समस्त रीतियाँ ही गुणों पर आश्रित हैं, गुण रीतियों पर नहीं। गुणों की अपनी पृथक् सत्ता और अस्तित्व है। निश्चय ही कालांतर में आनेवाले सिद्धांतों के लिए पूर्व पीठिका बनकर खड़ा रीति-सिद्धांत अपने गुण-विवेचन के कारण ही महनीय बन सका, क्योंकि इस विवेचन में वामन ने अपनी बड़ी सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है।

संदर्भ

1. नाट्यशास्त्र, 16/96
2. नाट्यशास्त्र, 16/91, 95
3. काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन, डॉ० शोभाकांत मिश्र, पृ० 3
4. डॉ० नगेंद्र, हिंदी काव्यालंकार सूत्र की भूमिका, पृ० 59
5. काव्यालंकार, 2/1, 3

6. काव्यादर्श 1/42
7. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति, 3, 1, 1
8. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 3/1/5
9. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 3/2/2
10. भारतीय साहित्यशास्त्र कोष, डॉ० राजवंशसहाय हीरा, पृ० 497
11. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 3/1/6
12. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 3/1/7
13. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 3/2/23
14. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 3/1/11
15. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 3/2/4
16. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 3/1/12
17. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 3/2/5
18. नाट्यशास्त्र, 17/101
19. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 3/1/13
20. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 3/1/21
21. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 3/2/11
22. नाट्यशास्त्र, 17/104
23. काव्यादर्श, 1/69
24. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 3/1/22
25. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 3/2/12
26. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 3/1/23
27. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 3/2/13
28. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 3/1/24
29. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 3/2/14
30. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 3/1/25
31. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 3/2/15

दसवें दशक की हिंदी-कहानियों में राजनीतिक उच्चवर्ग का चित्रण

सुभाषकुमार (शोध-छात्र)

डॉ० मीना अग्रवाल (शोध निर्देशिका)

रीडर हिंदी विभाग,

रानी भाग्यवती देवी महिला महाविद्यालय, बिजनौर (ऊप्र०)

वर्तमान राजनीति में राजनेताओं का एकमात्र उद्देश्य सत्ता प्राप्त करना ही रह गया है। सत्ता-प्राप्ति के लिए वे बड़े-से-बड़ा और छोटे-से-छोटा कार्य करने को तत्पर रहते हैं। दसवें दशक के कहानीकारों ने नेताओं की इस प्रवृत्ति को अपनी कहानियों में विविध रूपों में प्रस्तुत किया है। इन कहानियों में नेताओं की अदम्य लालसा और उसकी पूर्ति के लिए उनके द्वारा किए जानेवाले उचित-अनुचित उपायों, कूटनीतियों तथा षड्यंत्रों को उजागर किया गया है। देश की राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार और भाई-भतीजावाद को इन कहानियों में प्रमुख प्रतिपाद्य बनाया गया है। कहानीकारों ने राजनीति में विशेष रूप से सत्ता-पक्ष की दोषपूर्ण नीतियों और योजनाओं के परिणामस्वरूप देश की निरंतर बिगड़ती हुई व्यवस्था को लक्षित किया है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में शासन और शासित के मध्य बढ़ती जा रही दूरी के लिए भी शासकवर्ग को ही उत्तरदायी माना है। इसका कारण यह है कि पूरी व्यवस्था का संचालन एवं नियंत्रण उनके अधिकार-क्षेत्र में है। पूँजीवादी तत्त्वों के साथ गठबंधन होने के कारण राजनीतिक उच्च वर्ग का जनविरोधी चरित्र भी उभरकर आया है, जिससे उनकी सत्ता-लोलुपता, स्वार्थपरता तथा व्यक्तिवाद स्पष्ट रूप में दिखाई देता है।

शासक वर्ग सत्ता-प्राप्ति के पश्चात् सदैव राजसत्ता पर नियंत्रण करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह सत्ता में बने रहने के लिए जनसाधारण में भय और आतंक फैलाकर, उन्हें सही मुद्दों पर सोचने का अवसर न देने के लिए पूरे प्रयास करता है। शासक वर्ग कभी भी यह नहीं चाहता कि देश में सच्चा लोकतंत्र स्थापित हो, जनता अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो, बेहतर कार्य-स्थितियों और वेतन की माँग करे। वह चाहता है कि जनता चुपचाप नीचे गर्दन झुकाए, शांतिपूर्वक अपने जीवन के बोझ को ढोती रहे। शिक्षित जनता शासक वर्ग के प्रति विद्रोही हो सकती है, इसलिए जनता को अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित बनाए रखने में ही वे अपना हित समझते हैं। शासक वर्ग की सदैव यही आकांक्षा होती है कि जनता को बस जीने-योग्य स्थितियाँ ही उपलब्ध करायी जाएँ। वह सामान्य जनजीवन के लिए आवश्यक दैनिक उपभोग की वस्तुओं के अभाव का माहौल भी बनाए रखने का प्रयास करता है ताकि सत्ता पर नियंत्रण रखने के लिए ऐसी अराजक स्थिति का

अधिकाधिक उपयोग किया जा सके। इसके पीछे पूँजीवादी शक्तियाँ भी सक्रिय रहती हैं। उनकी धन-संपत्ति में निरंतर वृद्धि होने का अर्थ यही है कि अन्य वर्गों के पास धन घटता चला जाए। अतः यह मानना अनुचित नहीं है कि ऐसी शासन-व्यवस्था में शासक वर्ग रूपी कठपुतली की डोर सदैव पूँजीपतियों के हाथों में ही होती है और वे पर्दे के पीछे से उसे परिचालित करते हैं।

राजनीतिक उच्चवर्ग : शासक वर्ग :

वस्तुतः 'शासन' शब्द राजनीति से संबद्ध है और 'वर्ग' अर्थ-दर्शन से। इसका सहज ही यह अर्थ लगाया जा सकता है कि आर्थिक स्थितियाँ राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इस तथ्य में सत्यता होते हुए भी सभी विद्वान इसके लिए एकमत नहीं हैं। सी० राइट मिल्स की मान्यता है कि 'वह सिद्धांत कभी सही सिद्ध हो सकता है और कभी ग़लत...। 'शासक वर्ग' शब्द समूह अपने सामान्य राजनीतिक अर्थों में राजनीति व्यवस्था और उसके अभिकर्ताओं को पर्याप्त स्वायत्तता प्रदान नहीं करता तथा यह सेना के बारे में मौन है। ...हम यह मानते हैं कि 'आर्थिक नियतिवाद' के इस साधारण दृष्टिकोण की विशद व्याख्या 'राजनीतिक नियतिवाद' और 'सैनिक नियतिवाद' के आधार पर की जानी चाहिए। इन तीनों क्षेत्रों के उच्चतर अभिकर्ता (अधिकारी) अब प्रायः पर्याप्त मात्रा में स्वायत्तता का उपभोग करते हैं, तथा वे बहुत कठिनाई से सहमत हो पाते हैं।'¹ इसलिए वे 'शासक वर्ग' के स्थान पर 'शक्ति-अभिजन' शब्द को पसंद करते हैं।

'शक्ति अभिजन' की परिभाषा देते हुए आगे यह कहा गया है कि 'शक्ति अभिजन' वे लोग हैं, जो आदेश देने के पदों पर आसीन हैं।'² विश्व का निरंतर परिवर्तनशील इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि भूमंडल से नैतिक सत्ताएँ विलुप्त होती जा रही हैं। उनके स्थान पर लोकतांत्रिक अथवा समाजवादी लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ उदित हो रही हैं। ऐसे में सैनिकों के सर्वोच्च सेनापति भी जनसाधारण द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के आदेश-अनुपालक बन गए हैं। आदेश देने की संपूर्ण शक्तियाँ जनप्रतिनिधियों के हाथों में केंद्रित होती जा रही हैं। पिछले कुछ वर्षों का इतिहास बताता है कि किसी भी प्रकार की सैनिक तानाशाही असह्य होती जा रही है। यहाँ तक कि सर्वकल्याण की भावना से युक्त साम्यवादी तानाशाहियों के विरुद्ध भी विभिन्न देशों में विद्रोह हुए हैं और उनमें राज्य-प्रणालियाँ बदल रही हैं। पोलैंड, हंगरी, पूर्वी जर्मनी, रोमानिया तथा रूस आदि साम्यवादी देशों में यह परिवर्तन विशेष रूप से देखा जा सकता है। इसलिए सैनिक अधिकारियों की स्थिति वर्तमान काल में आदेश देने की सर्वोच्च शक्ति से संपन्न नहीं मानी जा सकती। वे स्वयं शासक न होकर शासकों के तथा शासन-व्यवस्था के सहयोगी-संरक्षक के रूप में कार्य करते हैं। पाकिस्तान तथा बंगला देश में भी जहाँ सेनाएँ प्रभावपूर्ण दबाव-शक्तियाँ बनी हुई हैं, वे भी प्रत्यक्षतः निर्वाचित शासनाधक्षों के अधीन हैं।

इस वर्ग विशेष की चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति दसवें दशक की अनेक कहानियों में मिलती है। विषय की महत्ता को देखते हुए इसके लक्षणों, कारक तत्त्वों तथा प्रेरक शक्तियों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

शासक वर्ग की चेतना :

दसवें दशक की हिंदी कहानियों में देश की राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार और भाई भतीजावाद को प्रमुख विषय बनाया गया है। राजनीति में विशेष रूप से सत्ता-पक्ष की दोषपूर्ण नीतियों एवं योजनाओं और उनके परिणामस्वरूप देश की निरंतर बिगड़ती हुई व्यवस्था को

कहानीकारों ने लक्षित किया है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में शासक और शासित के मध्य की दूरी निरंतर बढ़ती जा रही है। इसके लिए भी शासक वर्ग को ही उत्तरदायी माना गया है। इसका प्रमुख कारण यह है कि संपूर्ण व्यवस्था का परिचालन और नियंत्रण उसी के अधिकार-क्षेत्र में है। पूँजीवादी तत्वों के साथ गठबंधन होने से उसका जन-विरोधी चरित्र भी कहानियों में उभरकर सामने आता है। उसकी सत्ता-लोलुपता, स्वार्थपरता, व्यक्तिवाद भी हमारे सामने आ जाता है। चुनाव के समय सभी दल जनता से मत प्राप्त करने के लिए झूठे वायदे करते हैं और उनके कार्य पूरे होने का आश्वासन देते हैं। इसका भंडाफोड़ परदेशी जी ने अपनी कहानी 'अपराध किसका?' में संध्या के माध्यम से किया है— 'कोरी बातें करने वाले नेता और अनुयायी किसी निर्णय को सफलतापूर्वक नहीं पा सकते।' ³ परंतु नेताओं के इन झूठे वादों के पीछे एक ही उद्देश्य होता है— सत्ता-पावर अथवा कुर्सी। इस साध्य के लिए वे किसी भी साधन को हेय नहीं समझते। वे 'गरीबी हटाओ' का नारा देकर जनता को दिग्भ्रमित करते हैं, हर हाल में चुनाव जीतने के लिए शराब और पैसा बाँटते हैं।

सत्ता-सुख शासक वर्ग को अंधा बना देता है। सत्ता से उसे इतना मोह हो जाता है कि उसे न्याय-अन्याय कुछ भी दिखाई नहीं देता। अपने जन्म-काल से ही राज्यसत्ता वर्ग विभक्त समाज की प्रकृति के अनुरूप सत्ता-प्राप्त वर्ग द्वारा शेष वर्गों पर आधिपत्य कायम रखने का साधन मात्र रहा है। इस अर्थ में राज्य-सत्ता का चरित्र प्रायः अपरिवर्तनीय बना रहता है। केवल बाह्य परिवर्तन सत्ता-वर्ग के परिवर्तन के साथ होता है। दूसरों पर शासन करने की प्रवृत्ति कभी नहीं बदलती। पार्टी चाहे कोई भी क्यों न हो, सत्ता-परिवर्तन यदि होता भी है तो दूसरा नेता भी उसी मुखौटे को धारण कर नियम, व्यवहार और आचरण में वैसा ही हो जाता है। गिरिराज किशोर की कहानी 'पेपरवेट' मानव-समाज की इसी विडंबना को उजागर करती है— 'आप भी शांतिशरण जैसी ही बातें कर रहे हैं। आखिर विभाग आपके पास है या मुख्यमंत्री के? मुख्यमंत्री कहते हैं, आप लोग शांतिशरण को तो बेईमान और कम अकल समझते थे। अब तो मैंने विधानसभा के सबसे ईमानदार और आप लोगों के विश्वासपात्र को उसी विभाग का मंत्री बना दिया। अब भी आप मेरे पास ही दौड़ते हैं।' ⁴

सत्ता-प्राप्ति के पश्चात शासक वर्ग सदैव राज्य में अपना नियंत्रण रखने के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह जनसाधारण में भय और आतंक फैलाकर, उसे सही मुद्दों पर सोचने का अवसर नहीं देता है। निस्संदेह शासक वर्ग कभी भी यह नहीं चाहता कि देश में सच्चा लोकतंत्र स्थापित हो। जनता अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो और बेहतर कार्य-स्थितियों की माँग करे। वह चाहता है कि जनता चुपचाप नीचे गर्दन झुकाए शांतिपूर्वक अपने जीवन का बोझ ढेती रहे। शिक्षित जनता शासन के प्रति विद्रोही हो सकती है इसलिए जनता को अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित बनाए रखना ही उसके लिए लाभकर होता है। शिवानी जी की कहानी 'दंड' में पात्र धाधू ऐसी ही व्यवस्था का वर्णन करते हुए कहता है— 'हुकूमत चाहती है कि आम आदमी नासमझ रहे ताकि अपने अधिकारों का उसे ज्ञान न हो। शासन-व्यवस्था आम आदमी का ध्यान सस्ते मनोरंजन की तरफ खींचना चाहती है ताकि उसे मौलिक अधिकारों का ध्यान ही न आए।' ⁵

हिमांशु जी की कहानी 'समुद्र और सूर्य के बीच' में एक ऐसे ही षड्यंत्रकारी नेता का चित्रण किया गया है, जिसने सत्ता एवं धन के लालच में देश और देश की प्रगति को गृहयुद्धों के द्वारा लगभग समाप्त ही कर दिया है— 'अदालत पूरी जाँच और पड़ताल के पश्चात् इस निर्णय पर

पहुँची है कि अपने चालीस साल के सक्रिय राजनीतिक जीवन में, जनसेवा के नाम पर तुमने सवा तीन करोड़ रुपए एकत्रित किए हैं। भ्रष्टाचार फैलाने में तुम्हारी दुहरी नीतियाँ फलप्रद रही हैं। अपने निहित तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति के लिए तुमने जातीयता एवं प्रांतीयता को इस कदर बढ़ावा दिया कि देश पुनः विभाजन की स्थिति में आ पहुँचा है। देश को गृहयुद्ध की-सी इस भयावह अराजक स्थिति में ला खड़ा करने का दायित्व तुम पर है...।'⁶

इस प्रकार भारतीय राजनीतिक परिदृश्य पर दृष्टिपात करने पर हमें ऐसे घटना-चित्र नितांत विश्वसनीय प्रतीत होते हैं। सत्ता प्राप्ति के लिए जोड़-तोड़ में तो सभी राजनेता व्यस्त रहते हैं, किंतु इसकी प्राप्ति के पश्चात् सत्ताधारी नेताओं का हरसंभव यही प्रयास होता है कि वह हमेशा सत्ता-सुख प्राप्त करते रहें।

सर्वोच्च लक्ष्य : सत्ताधिपत्य :

राजनीतिक दलों की तो यह इच्छा रहती ही है कि वे हमेशा सत्ता में बने रहें, किंतु इन राजनीतिक दलों के नेताओं की भी यही इच्छा रहती है कि वे हमेशा सत्ता में बने रहें। इन राजनीतिज्ञों का सर्वोच्च लक्ष्य होता है कि वे किसी भी प्रकार सत्ता और राजनीति में सर्वोच्च स्थान पर ही रहें। कोई-न-कोई महत्त्वपूर्ण पद उनके पास रहे।

रमेश सिद्धार्थ की कहानी 'दृष्टिभ्रम' में नेताओं की इसी कुर्सी-प्रियता तथा सत्ता-लोलुपता को दर्शाया गया है। कहानी में उन सभी हथकंडों का पर्दाफाश किया गया है, जिन्हें राजनीतिज्ञ चुनाव में विजय प्राप्त करने के लिए प्रयोग करते हैं। कहानी में राजनीति के दाँव-पेंचों, छल-प्रपंचों की सही परिप्रेक्ष्य में अभिव्यंजना हुई है। कहानी के विभिन्न पात्र वर्तमान राजनीति पर न केवल कटाक्ष करते हैं, बल्कि प्रत्यक्ष रूप से इन पार्टियों को चोर, दल-दल, गंदगी, तमाशनीनों का तमाशा और नशेबाजों का नशा आदि संबोधनों से संबोधित करते हैं।

मार्क्स ने समाज की व्याख्या करते हुए अर्थतत्त्व पर सर्वाधिक बल दिया है, तथापि गैर-मार्क्सवादी भी इसकी महत्ता को एकदम अस्वीकार नहीं करते हैं। पूँजीवादी समाजों में शासक वर्ग के हित पूँजीपतियों से भिन्न नहीं होते, बल्कि परस्पर संगुणित होते हैं। अतः सामान्य रूप से यह माना जा सकता है कि व्यापारी ही हमारे शासक वर्ग का निर्माण करते हैं। बुर्जुआ-शासन में 'निजी संपत्ति की पवित्रता' की रक्षा करना उसका परम कर्तव्य होता है। इसलिए इस व्यवस्था में अंतिम शक्ति बड़े पूँजीपतियों, धन-कुबेरों के हाथों में होती है।

शासक वर्ग की एक कुप्रवृत्ति यह भी रही है कि इन्होंने शासन-सत्ता के लोभ से निम्नवर्ग के लोगों में अशांति फैलाई है। ये लोग ऐसा इसलिए करते हैं ताकि गरीब मजदूर व निस्सहाय लोग आपस में लड़-झगड़कर न्याय के लिए अंततः इनकी शरण में ही आएँ हैं। उनमें पारस्परिक तनाव का वातावरण बना रहता है। इससे ये लोग अपना शासन बनाए रखने में कामयाब रहते हैं। डॉ० नूरजहाँ के शब्दों में— 'हम शक्तिशाली हैं। जो हमारी बात काटेगा, हम उसका सिर काट लेंगे।'⁷ शासक वर्ग ने हमेशा अपनी तानाशाही चलाई है और जो उनके मार्ग में बाधा बना है उसे उन्होंने मृत्यु-दंड देने में ज़रा भी संकोच नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि शासक वर्ग ने अपने स्वार्थ के लिए गरीब, निस्सहाय व बेसहारा लोगों को सदैव यातनाएँ दी हैं। ये लोग केवल वही कार्य करते हैं, जिसमें उनका लाभ होता है। इन्हें उस जनता की तनिक भी चिंता नहीं होती, जो इन्हें राज-सत्ता का सुख दिलाती है।

जनसामान्य से विमुखता :

समाज में सत्ता वर्ग-विशेष के हितों का ही संरक्षण करती है। समाज के ऐतिहासिक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि सत्ता ने सामंतीकाल में सामंत वर्ग और पूँजीवादीकाल में पूँजीपति वर्ग के हितों की रक्षा की है, जबकि जनसाधारण सदैव उपेक्षित रहा है। स्वतंत्रता के उपरांत नेताओं ने अपने चारों ओर सुविधा और सुरक्षा का ऐसा तानाबाना बुन लिया है कि जनसाधारण एकदम अलग-अलग हो गया है। वे केवल चुनाव के समय ही जनता के बीच वोट माँगने जाते हैं, फिर पाँच वर्ष तक उनका जनता से कोई संपर्क-संबंध नहीं रहता।

भारतीय राजनीति की इस विडंबना को डॉ॰ पूरनचंद्र जोशी ने इस प्रकार व्यक्त किया है— 'आज राजसत्ता पर हावी जो वर्ग है, उनका जनता से किए गए अपने ऐतिहासिक वायदों, प्रतिज्ञाओं और वचनबद्धताओं से नाता टूटता चला आ रहा है, जिसके द्वारा इन्होंने जनसाधारण से समर्थन और विश्वास पाया था और जिसके द्वारा इनकी प्रभुत्व की आकांक्षा को वैधता मिली थी।'⁸

सभी राजनीतिज्ञ पद एवं प्रतिष्ठा के भूखे हैं, उन्हें उस जनता की कोई चिंता नहीं, जिसके बल पर वे कामयाब होते हैं। सत्ता पक्ष द्वारा अपनी भ्रष्ट योजनाओं में विपक्षियों को भी सम्मिलित कर लेना शासन की महान सफलता है। इस प्रकार पक्ष-विपक्ष दोनों मिलकर जनसाधारण का दोहन करते रहते हैं। वे देश के धन का अपव्यय हैं। इस धन से सर्वसाधारण की भोजन, वस्त्र और घर जैसी मूलभूत समस्याओं का समाधान किया जा सकता है, किंतु इससे नेताओं की सुख-सुविधाएँ तो कायम नहीं रह सकती हैं। इन्हीं सुख-सुविधाओं को कायम रखने के लिए वे जनता के साथ धोखा करते हैं और जनता और देश की पूँजी का दोहन करते हैं। हिमांशु जोशी कृत कहानी 'समुद्र और सूर्य के बीच' नामक कहानी में राजनेताओं की इस विडंबना को व्यक्त किया गया है— 'बीस करोड़ रुपए की लागत से, पाँच साल की मेहनत के बाद बना सप्तवर्ण नदी का बाँध पहली ही बरसात में टूटकर बह गया। सीमेंट के बदले रेत डलवाकर तुमने चार लाख की बचत की थी।'⁹ इस कहानी में हमें नेताओं की धनलोलुपता स्पष्ट दिखाई देती है।

स्वतंत्रता के पश्चात् जनमानस में नई आशाएँ उदित हुई थीं, किंतु इस बुर्जुआ लोकतंत्र का मूल चरित्र ब्रिटिश राजतंत्र जैसा ही रहा। जनसाधारण के शोषण का अंत नहीं हो पाया। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान नेताओं का जो सेवक रूप दिखाई पड़ता था, वह शनैः शनैः सत्ता के भूखे षड्यंत्रकारी के रूप में परिवर्तित हो गया। दसवें दशक के हिंदी-कहानीकारों ने शासक वर्ग के इस चरित्र को खूब पहचाना है कि आज भी जनता में फूट डालकर यह अपना उल्लू सीधा कर रहा है। पूँजीपतियों से उनकी मैत्री ने उसे जनसामान्य के विमुख कर दिया है। संविधान में घोषित जनतंत्र समाजवाद का उपहास करता प्रतीत होता है। इस स्थिति पर आस्कर वाइल्ड का सटीक कथन बैठता है— 'जनतंत्र का अर्थ जनता को जनता द्वारा जनता के लिए डंडों से पीटना है।'¹⁰

उच्चवर्ग अपने हितों की रक्षा के लिए अति उत्साही और अति जागरूक होता है। वह नहीं चाहता कि आम जनता अपने अधिकारों और हितों के बारे में सचेत हो, क्योंकि जनता जागरूक होने पर इनका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। उच्चवर्ग जनता से इतनी दूरी बनाए रखता है कि इस दूरी का आम लोगों को अहसास रहे कि वे अलग-अलग हैं। पांडेय बेचन शर्मा उग्र की कहानी 'सनकी अमीर' में यदुनाथ चौधरी उच्चवर्ग का प्रतीक है। वह नहीं चाहता कि उसका नौकर, पादरी द्वारा दी गई शिक्षाओं को ग्रहण कर उसके विरुद्ध बगावत करे। इसीलिए वह अपने नौकर को पादरी के निकट न

फटकने की हिदायत देता है—‘कहाँ जाता है? पादरी का भाषण सुनने? जा, मेहमानखाने में अवस्थी जी की सेवा में हाज़िर रह, उन्हें किसी तरह की तकलीफ़ न हो। होशो-हवास रखकर पेश आना।’¹¹

एक बार निर्वाचित होने के पश्चात् नेतागण अपने मतदाताओं से काफ़ी दूरी बनाए रखते हैं। आवश्यकता पड़ने पर कभी-कभी ही वे दिखावे के लिए उनके बीच में आ जाया करते हैं, किंतु वे मन से नहीं चाहते कि इन छोटे लोगों में जाकर अपना दिमाग़ और समय ख़राब करें। यह सब तिकड़मबाज़ी वे अपने पद पर बने रहने के लिए ही करते हैं। इन तिकड़मबाज़ियों से जब साधारण नेता को मंत्री जैसा महत्त्वपूर्ण पद मिल जाता है तो उसका दिमाग़ तो सातवें आसमान पर पहुँच जाता है। पांडेय बेचन शर्मा की कहानी ‘विचित्र चित्र’ में एक नेता असीम संवैधानिक अधिकार पाकर कानूनों तथा बंधनों से ऊपर हो जाता है। भ्रष्टाचार, रिश्वत आदि के बल पर वह अपार धन अर्जित कर लेता है और गुंडों, बदमाशों, असामाजिक तत्त्वों के दम पर बादशाह बन जाता है। वह निम्नवर्ग की किसी छोटी सी भूल पर भी अत्याचार करता है, क्योंकि वह शासक जो है—‘मैं उसे अभी पकड़वा मँगाता हूँ। मेरी इच्छा ही आज्ञा है इस शहर में। यह तस्वीर नहीं, मानहानि है—‘क्लीयर।’ नेता की मान-हानि का नतीजा जान-हानि, साले की जान न ले लूँ, तो मेरा नाम कंचनराय नहीं।’¹²

किसी भी समस्या का समाधान करने में नेताओं की रुचि नहीं होती। वे मानते हैं कि यदि समस्या नहीं रहेगी, तो उनका अपना अस्तित्व भी नहीं रहेगा। इसलिए वे जनता को समस्याओं में उलझाए रखते हैं और स्वयं अपनी कुर्सी की रक्षा के लिए जनता की बलि देने से भी परहेज नहीं करते। यहीं से उसके चरित्र में दंभ, अभिमान, स्वेच्छाचार, निरंकुशता, अनैतिकता और भ्रष्ट आचरण जैसे तत्त्व आ जुटते हैं, जो उसकी कुर्सी की रक्षा में उसकी मदद करते हैं।

लक्ष्य-प्राप्ति का साधन : षड्यंत्र तथा अपराधपूर्ण राजनीति :

राजनीति अपराध और षड्यंत्रों का ताना-बाना है। कुटिल षड्यंत्रों के बिना कुशल राजनीति संभव नहीं है। सिद्धांतहीन व्यक्ति, जो वास्तव में न तो दक्षिणपंथी होते हैं और न वामपंथी, वे वास्तव में तिकड़म पंथी होते हैं। सत्ता, अधिकार, कुर्सी, सम्मान और वैभव की प्राप्ति के लिए तिकड़मबाज़ी अनिवार्य होती है, इसलिए इनके आकांक्षी इसी में लीन रहते हैं और अपनी सब मर्यादाएँ, नैतिकताएँ दाँव पर लगा देते हैं। रामदरश मिश्र कृत कहानी ‘भेता’ में दूबे जी भी एक ऐसे ही तिकड़मबाज़ नेता हैं, जिन्होंने एम.पी. की कुर्सी पाने के लिए अपराधपूर्ण राजनीति को अपनाया। विश्वविद्यालय के कुलपति लेखक के सामने इसका वर्णन करते हुए कहते हैं—‘अरे, तब क्या वह चुनाव लड़ा और जीत गया। विश्वविद्यालय की उसकी गुंडापाटी ने उसका ख़ूब प्रचार किया, ख़ूब गुल खिलाए, ख़ूब जाली वोट डलवाए, बूथ कैप्चर किए।’¹³

राजनीति में अपराधी किस्म के नेताओं की वृद्धि हुई है। चुनाव जीतने के लिए अपने विरोधियों का मुँह बंद करने के लिए बाकायदा संगठित गिरोह का प्रयोग किया जाता है। इन्हीं गिरोहों की मदद से वे चुनाव में अपने विरुद्ध खड़े प्रत्याशी की हत्या कराते हैं। इन अपराधी प्रवृत्ति के राजनेताओं के डर से कोई सच्चा और ईमानदार नेता तो चुनाव-क्षेत्र में उतरता ही नहीं और यदि किसी कारणवश उतर भी जाता है तो उसे डरा-धमकाकर बैठा दिया जाता है और यदि वह न माने तो सरेआम उसकी हत्या कर दी जाती है। बिहार के तत्कालीन विधायक सरदार कृष्णानंदन सिंह के अनुसार—‘इसमें कोई बुराई नहीं है, बल्कि संगठित गिरोहों के कारण वे लोगों और प्रशासन में प्रशंसित होते हैं और ‘बहादुर’ कहलाते हैं।’¹⁴ कर्पूरी ठाकुर के मंत्रीमंडल के विधायक कपिलदेव

सिंह ने तो विधासभा में स्वीकार भी किया था— 'वे गुंडे रखते हैं, क्योंकि उसके बिना चुनाव जीतना असंभव है।' ¹⁵

राजनीतिज्ञ एक-दूसरे के प्रभाव को कम करने के लिए आतंक का सहारा लिया करते हैं। इसके लिए ओछे से ओछा हथकंडा अपनाने में भी इन्हें कोई बुराई प्रतीत नहीं होती है। शिवानी जी की कहानी 'विनिपात' में भी राजनीति का कुत्सित रूप प्रकट हुआ है। कहानी का मुख्य पात्र महेश, जो एक अध्यापक है और मंत्री जी ने उसे अच्छा वेतन देकर अपनी एकमात्र पुत्री को घर पर शिक्षा देने के लिए नियुक्त किया है। वह शिवानी जी के समक्ष मंत्री जी की गुंडा पार्टी का वर्णन करते हुए कहता है— 'ये बड़े लोगों के सौजन्यता की नकाब में छिपे चेहरे, बहुत भयानक होते हैं। ऐसे-ऐसे लोग वहाँ आते हैं कि रोंगटे खड़े हो जाते हैं, कुटिल चेहरे वाले गुंडे, हत्यारे इन सबके छिपने का अररायकी है वह गृह। एक अँधेरा तहखाना बना है, जहाँ यमराज भी नहीं पहुँच सकते। सारी रात मीटिंग होती है, पीने-पिलाने का दौर चलता है। धीमे स्वरों में बातें करते हैं, उस निशाचरी नगरी में, मैं साँस नहीं ले सकूँगा। शिवानी जी, आप उससे कह दें।' ¹⁶

अँग्रेजी शासन के संबंध में कहा जाता है कि उसकी नीति 'फूट डालो, राज करो' की थी अर्थात् अँग्रेज भारत के लोगों में फूट डालकर राज करते थे। स्वतंत्रता के पश्चात् देश के शासक भी अँग्रेजों की इस परम्परा का निर्वाह पूर्ण निष्ठा से कर रहे हैं। शासक नहीं चाहते कि जनता परस्पर शांति और सदभाव से रहे। देश में शांति-सदभाव की बात को सोचकर भी वे काँप उठते हैं, उनकी कुर्सी हिलने लगती है। इसलिए वे लोगों को एक-दूसरे का शत्रु बनाए रखने के लिए पूरा षड्यंत्र रचते हैं। हिमांशु जोशी की कहानी 'समुद्र और सूर्य के बीच' में इसी स्थिति का चित्रण किया गया है— '...तुम इन्हीं जोड़तोड़ की प्रवृत्तियों के बलबूते पर पिछले बीस साल से शासन-तंत्र पर जोंक की तरह चिपके रहे और तुमने सारी व्यवस्था खोखली कर दी...। अपने निहित स्वार्थों के लिए तुमने राष्ट्र की प्रगति दाँव पर लगाई। एक वर्ग, समाज या प्रांत ही नहीं, तुमने उभरते हुए एक मासूम देश की दिन-दहाड़े हत्या की। देखो, देखो! देखो। तुम्हारे हाथ अब तक गरम लहू से नये हैं। देखो ..।' ¹⁷

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि ये राजनेता अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए असामाजिक तत्त्वों को संरक्षण देते हैं। इन्हीं गुंडा तत्त्वों के बल पर सामान्य जनता पर अत्याचार और उनका शोषण करते हैं। अभिप्राय यह है कि इन नेताओं की चारित्रिक प्रवृत्ति दंभपूर्ण और षड्यंत्रकारी ही होती है।

भ्रष्टाचार का चित्रण :

राजनीति में भ्रष्टाचार को सफलता की कुंजी माना जाता है। रिश्वत, सिफारिश, जमाखोरी तथा कालाबाजारी आदि भ्रष्टाचार के विभिन्न रूप हैं। इनके मूल में प्रशासनिक शिथिलता प्रमुखता से पाई जाती है। आज जीवन के हर क्षेत्र में भ्रष्टाचार का बोलबाला है। चाहे सत्ताधारी हो या उनका विरोधी हो, सभी भ्रष्ट और निकृष्ट हो गये हैं। फिर यह आशा कैसे की जा सकती है कि लोग ईमानदारी से रहें। भ्रष्टाचार की स्थिति यह है कि आज वह समाज के प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक वर्ग में व्याप्त है।

दसवें दशक की हिंदी-कहानियों में भ्रष्टाचार का चित्रण बहुलता से देखने को मिलता है। 'गंदे नाखून' नामक कहानी में भ्रष्टाचार सिफारिश के रूप में दिखाई पड़ता है। इस कहानी में दर्शाया गया है कि वर्तमान युग में नियुक्तियाँ मैरिट के आधार पर न होकर नेताओं की सिफारिश

और रिश्वत से की जाती हैं। चाहे प्रत्याशी के अंक सबसे कम ही क्यों न हों? इस कहानी में भी विजय नाम का ऐसा ही प्रत्याशी है, जो किसी नेता की सिफारिश लाया है और इस सिफारिश के कारण उसे नौकरी मिल भी जाती है। चपरासी 'पैप्सोडेंट' इस भ्रष्टाचार का वर्णन करते हुए कहता है— 'इसी का होगा। ...होना ही था। किसी मिनिस्टर का लैटर लाया था चेयरमैन साहब के नाम।' ¹⁸

वर्तमान युग में सबसे अधिक भ्रष्टाचार राजनीति में ही देखने को मिलता है। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि राजनीति ही भ्रष्टाचार की जननी है। राजनीतिज्ञ पैसे के बल पर न जाने क्या-क्या दुष्कर्म करते रहते हैं। धन का सहारा लेकर वोट ही नहीं डलवाते हैं बल्कि चुनाव-परिणाम भी अपने हक में घोषित करवा देते हैं। ये लोग चुनाव के समय जनता से झूठे वायदे करते हैं। अपने स्वार्थ हेतु जनता के हृदय में अपना विश्वास बैठाने की डींगें मारना शुरू कर देते हैं। श्री रमानाथ त्रिपाठी जी ने अपनी 'फूल बेला के' कहानी में लिखा है— 'अब सब जने खड़े क्या पछता रहे हो? देख ली अपनी दुर्दशा, या अभी कुछ बाकी है। आज तुमने देख लिया न कि हमारे यहाँ कानून से नहीं लाठी से राज हो रहा है। आज हम इतने बेशरम हो गए हैं कि इतनी दुर्दशा होने पर भी कुछ नहीं बोलते। हम इतने स्वार्थी, इतने कायर न होते तो उनकी मजाल थी कि हमें कोड़ों से पीटते। जब तक तुम गुलाम बने रहोगे, उनकी सेवा-टहल करते रहोगे, तुम्हें भूसा-चोकर मिलता रहेगा, लेकिन जिस दिन तुमने कंधा टेढ़ा किया, उसी दिन मार पड़ने लगेगी। कब तक इस तरह मार खाते रहोगे?' ¹⁹

उच्चवर्ग सम्मान का भूखा है। सम्मान पाने के लिए वह भ्रष्टाचार फैलाता है। वह अपनी झूठी शान-बान और प्रसिद्धि पाने के लिए श्रेष्ठ लोगों से अपना कार्य करवाने के लिए उन्हें रिश्वत देता है ताकि वे भ्रष्ट हों, उसका कार्य करें और उनको प्रसिद्धि पाने में सहयोग दें। शिवानी जी की कहानी में मंत्री की एक ऐसी ही पुत्री को दर्शाया गया है, जो अयोग्य होते हुए लेखन-क्षेत्र में प्रसिद्धि पाना चाहती है। इसके लिए वह लेखिका से चाहती है कि वह उसके नाम से लिखे, बदले में वह उसे धन का प्रलोभन देती है— 'गंगा किनारे हमारी बहुत बड़ी कोठी हैगी। पूरा गैस्ट हाऊस आपका, एक कार निरंतर आपकी सेवा में खड़ी रहेगी। खाना-पीना सब हमारे साथ में, जितना कहें पाँच हजार, छह हजार आपको बराबर मिलता रहेगा।' ²⁰

आधुनिक कहानीकारों ने आर्थिक भ्रष्टाचार को सर्वोपरि मानते हुए कहा है कि यह शिक्षा संस्थाओं में नहीं बल्कि पूरे समाज में व्याप्त है। स्कूलों में अध्यापकों और प्रबंध समिति में भ्रष्टाचार पूर्ण रूप से व्याप्त है। कहानी 'इस सुबह को नाम क्या दूँ' में इसी प्रकार का वर्णन किया गया है— 'मालिक पूरी बात शायद आपको पता नहीं है। केंद्र पर हर लड़के से दो हजार की वसूली हुई है। देनेवालों को नकल की छूट है। कुछ लड़के गरीब हैं, दे नहीं सकते... उन्हें दबाया और परेशान किया जाता है। उनकी उत्तर पुस्तिका खराब करने की धमकी दी जाती है। आप जानते हैं कि इतना भ्रष्टाचार मैं नहीं सह पाता, इसलिए परीक्षा के समय मैं बाहर निकलता ही नहीं। मान लेता हूँ कि आँखों की ओट में कुछ भी होता रहे, पर कल कुछ लड़के मेरे पास आए थे... रो रहे थे। गरीब लड़के हैं... कैसा भी सही, मैं उनका मास्टर हूँ, संस्था का प्रधान हूँ। लड़कों के प्रति मेरी कुछ जिम्मेदारी बनती है ना? सक्सेना तो धाँधली मचाए है।' ²¹ इसी कहानी में एक अन्य स्थल पर शिक्षा के मंदिर स्कूलों में भी मंत्रियों के भ्रष्टाचार को दर्शाया गया है— 'आठ नंबर कमरे में ड्यूटी के लिए मंत्रीजी ने कहा है। उसमें वी० आई० पी० स्टूडेंट्स के रोल नंबर हैं।' ²² आशय यह है कि भ्रष्टाचार के कारण अध्यापकों का नैतिक पतन हो गया है।

वर्तमान में अर्थ ही भ्रष्टाचार की प्रमुख जड़ है। जिसकी जड़ें इतनी मजबूत हो गई हैं कि गरीब व्यक्ति को न्याय-व्यवस्था में भी विश्वास नहीं रहा है। परदेशी जी की कहानी 'हृदय-परिवर्तन' में अध्यापिका इस बात की पुष्टि करती है— 'मैंने उस दिन भी सोचा और आज भी सोचती हूँ— आत्महत्या कर लूँ। मुझे संसार से, इसके न्याय से, इसके विधान से, इसके कानून से, इसकी सचाई से अब कोई आशा नहीं रह गई है।' ²³

व्यक्ति और समाज की रक्षक तथा न्याय की एक कड़ी मानी जाने वाली पुलिस भी भ्रष्टाचार में पूरी तरह लिप्त है। पुलिस को जहाँ भी अवसर मिलता है, वहीं यह अपना भ्रष्ट आचरण प्रकट कर देती है। यह वर्ग ऐसा वर्ग है, जिसमें भ्रष्टाचार गहराई तक घर कर गया है। इसके पास कानून और ताकत दोनों हैं, अतः यह दोनों का प्रयोग करती है। दसवें दशक की कहानियों में पुलिस वर्ग के इस भ्रष्ट रूप को बड़े सजीव ढंग से प्रस्तुत किया गया है। पुलिस वर्ग को हम रक्षक समझते हैं, परंतु अब यह रक्षक न होकर भक्षक हो गया है। परदेशी जी की कहानी 'हृदय-परिवर्तन' में यह दर्शाया गया है— 'जब मैं पास के कमरे में द्वार की ओर पीठ करके, आईने में देखती हुई, कपड़े बदल रही थी, मुझ पर मेरे दुर्भाग्य ने तीसरी चोट की। थानेदार को मैंने अपने दाँतों और नखों से बहुतेरा घायल किया, परंतु उसके खूनी पंजों से मैं मुक्त न हो सकी।' ²⁴

शिवानी जी की कहानी 'माई' में भी पुलिस की भ्रष्टता के चित्र देखने को मिलते हैं— 'तू घबड़ा मत बेटी, तेरा बाप कभी कच्ची गोलियाँ नहीं खेलता, पच्चीस वर्ष की थानेदारी कर चुका हूँ। वह भी कुमाऊँ के सबसे बीहड़ अपराधी इलाके कत्यूर में। कल सुन लेना, थानेदार का दामाद कुमाऊँ मोटर यूनियन की बस से कुचला गया, सर अलग और धड़ अलग। अच्छा हुआ जो साला शराब के नशे से चूर था। जाँच होगी तो वही अपराधी सिद्ध होगा। डाइवर खीमसिंह बेदाग छूट जाएगा, वैसे भी मैंने डाइवर के बाल-बच्चों का पूरा इंतजाम कर दिया था।' ²⁵

इसी प्रकार ममता कालिया की कहानी 'जाँच अभी जारी है' में भी भ्रष्टाचार को दर्शाया गया है। कहानी की मुख्य पात्रा अपर्णा एक बैंक में क्लर्क है। वह बैंक में होनेवाली घपलेबाजी का वर्णन करते हुए कहती है— 'एक दिन कुर्सी पर खड़े होकर चीख-चीखकर सबको बताएगी कि इस राष्ट्रीयकृत बैंक में कैसे घपले और सौदेबाजी होती है। झूठे बिलों के ज़रिए हर आदमी हज़ारों रुपए डकारता है, चाहे वे मेडिकल बिल हों या यात्रा बिल या स्टेशनरी बिल। इस सब पर जाँच नहीं बैठाई जाती। जाँच उसके अठारह सौ के बिल पर बैठाई गई है, जिस पर अब तक अट्ठाईस हज़ार रुपए खर्च हो चुके हैं। उसे पता है, इस बैंक में छोटा-बड़ा कोई कर्ज बिना कमीशन के मंजूर नहीं होता। ऊपर से नीचे तक सबका परसेंटेज बँधा है।' ²⁶

मिथिलेश्वर की 'प्रेत की जट' नामक कहानी में भी समाज में फैले भ्रष्टाचार का वर्णन किया गया है। कहानी का मुख्य पात्र अभिषेक उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी बेरोज़गार है। प्रफुल्लराय, जो कि एक उच्च अधिकारी है और भ्रष्ट व्यक्ति है, अभिषेक के सामने अपनी लड़की रूबी से शादी का प्रस्ताव रखता है— 'मैं ऊपर वाले साहबों को अपने पास से रुपये देकर तुम्हारी नौकरी पक्की कर दूँगा। लेकिन तुम्हें नौकरी पाते ही रूबी से शादी करनी होगी। अगर शर्त मंजूर है तो बोलो?' ²⁷ उक्त कथ्य से ज्ञात होता है कि अधिकारी वर्ग में नीचे से लेकर ऊपर तक भ्रष्टाचार व्याप्त है। अधिकारी लोग अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए भ्रष्टाचार का मार्ग अपनाने में बिल्कुल भी संकोच नहीं करते हैं।

दल-बदल राजनीतिक जीवन का अभिशाप है। किंतु आज के नेता देश अथवा पार्टी के सिद्धांतों के लिए राजनीति में प्रवेश नहीं करते हैं, बल्कि निजी हितों की खातिर राजनीतिक पार्टी को अपनाते हैं। अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए ये गिरगिट की तरह रंग बदलने में बिल्कुल भी परहेज नहीं करते हैं। अपने स्वार्थों एवं हितों के प्रति नेता लोग इतने सचेत होते हैं कि उन्हें जिस ओर भी पलड़ा भारी दिखाई देता है, उसी ओर अपना रुख बदल लेते हैं अर्थात् दल-बदल कर लेते हैं। रमेश सिद्धार्थ की कहानी 'क्रान्तिवीर की व्यथा' में दल-बदल की नीति को स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है। कहानी में मानवेंद्र जी और विट्ठल भाई दो अलग-अलग राजनीतिक पार्टियों के नेता हैं। विधायक पद के लिए हुए चुनावों में मानवेंद्र जी जीत जाते हैं और विधायक बन जाते हैं। विट्ठल भाई एक उद्योगपति हैं, वह अपने फायदे के लिए अपनी पार्टी को छोड़कर मानवेंद्र जी की पार्टी में शामिल हो जाते हैं। मानवेंद्र जी इस बात की घोषणा बुलंद आवाज़ में करते हैं— 'सज्जनो, आपको यह जानकर हर्ष होगा कि आपके नगर के जाने-माने समाजसेवी व उद्योगपति विट्ठल भाई आज अपने हजारों समर्थकों के साथ एकता दल में शामिल हो गये हैं।' ²⁸

इसी प्रकार 'कवर बिज्जू' नामक कहानी में दर्शाया गया है कि विपक्ष का एक मंत्री किस प्रकार दल-बदल कर के सत्ता पक्ष में शामिल हो जाता है और मंत्री-पद प्राप्त कर लेता है। वह अपनी इस कामयाबी की चर्चा करते हुए कहता है— 'कौशल्या, इस बार के फेरबदल में राघव बाबू की नहीं चली। मंत्री हो गए हम।' ²⁹

दल बदलने के साथ इन नेताओं के आंतरिक चरित्र में तनिक भी परिवर्तन नहीं होता है। ये किसी भी दल में रहें, इनकी शोषण-प्रवृत्ति ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। सत्ताधारी अथवा सत्ताविहीन नेताओं का परीक्षण करने के उपरांत जनता अब इनसे निराश हो चुकी है। ये दोनों ही जनता की समस्याओं से दूर भागते हैं। यद्यपि वे इन समस्याओं में उलझे रहने का दंभ भरते रहते हैं, किंतु जनता अब जागरूक हो रही है। वह जान चुकी है कि इनके दल-बदल का सिद्धांत भी धोखा ही है।

व्यक्ति-पूजा :

प्रजातंत्र को प्रजा द्वारा प्रजा के लिए और प्रजा का राज्य माना जाता है, किंतु यह उस समय भयानक रूप धारण कर लेता है, जब प्रजा के स्थान पर इसमें व्यक्ति प्रमुख बन जाता है। ऐसी अवस्था में प्रजा की आवाज़ को दबा दिया जाता है। उसकी वाणी छीन ली जाती है। उसके हितों को अनदेखा किया जाने लगता है और व्यवस्था के नाम पर मनमानी होने लगती है। तब तानाशाही निरंकुशता जन्म लेती है और इसी के साथ व्यक्ति पूजा। भारत में सन् 1975 में घोषित आपातकाल के दौरान प्रजा की फुसफुसाहट को भी राजद्रोह की संज्ञा दी जाती थी। प्रेस की स्वतंत्रता छीन ली गई थी। प्रसार माध्यम सरकारी भोंपू बन गए थे। लोकतंत्र में व्यक्तिवादी निरंकुशता के साक्षात् दर्शन होते थे। तत्कालीन प्रधानमंत्री ने व्यक्तिगत स्वार्थ और अहंकार के वंशीभूत होकर उच्च न्यायालय के निर्णय की अवमानना की थी। देश के करोड़ों लोगों की उपेक्षा करते हुए उसने देश में आपात स्थिति लागू कर दी थी। उस समय देश पर ऐसा कोई राष्ट्रीय संकट नहीं था तथापि एक व्यक्ति के दंभपूर्ण आचरण ने संपूर्ण जनता को निजीव-सा कर डाला था। आतंक का शासन जमाकर यह मनवाया गया कि वही एकमात्र देश की रक्षक है, जिसके हाथों में जनता के हित सुरक्षित हैं। आकाशवाणी तथा दूरदर्शन पर वही विरुद-गान होता था। बड़े-बड़े पोस्टरों और अखबारों के माध्यम से भी यही प्रचार कराया जाता था कि प्रधानमंत्री महान लोकोपकारी शासिका

हैं। भय अथवा लोभ के कारण चाटुकारों का एक वर्ग जी-जान से उस शासन की प्रशंसा करने में जुट गया था। किसी ने उसे दुर्गा का अवतार कहा, तो किसी ने अम्बा का। दसवें दशक के हिंदी कहानीकारों ने भी अपनी कहानियों में व्यक्ति-पूजा के इस भाव का चित्रण किया है।

श्री भालचंद्र जोशी की कहानी 'कवर विज्जू' में हमें व्यक्ति पूजा के दर्शन होते हैं। कहानी में दर्शाया गया है कि गाँव की एक गरीब लड़की किस तरह अपने ही गाँव के एक मंत्री को देवता की तरह पूजती है, उसका आदर करती है। मंत्री के द्वारा शारीरिक शोषण किए जाने पर भी वह उसका बिल्कुल भी विरोध नहीं करती। इसका कारण यह था कि मंत्री ने उसके परिवार व उसके गाँव की उन्नति में बहुत सहयोग दिया था। वह मंत्री से कहती है— '...मना क्यों करती? सभी कहते हैं आपने पूरे गाँव और अक्खे देश के लिए भोत कुछ किया। मुझे तो यह सब नहीं मालूम लेकिन माँ कहती थी हमारे खानदान पर भी आपके भोत उपकार हैं। माँ ने बताया था, जब माँ विधवा हो गई थी तो आपने ही सबसे लड़-झगड़कर उनकी शादी बाबूजी से कराई थी।' ³⁰

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की कहानी 'विचित्र चित्र' में उच्च व्यापारी वर्ग अपने मनोरथों को सिद्ध करने हेतु इन भ्रष्ट नेताओं को भगवान की भाँति पूजा करते दिखाई पड़ता है। कहानी में कपड़ा-गल्ला का सौदागर तो नेताओं की व्यक्तिगत पूजा में दो कदम आगे ही दिखाई देता है। नेता कंचनराम का यशोगान करते हुए वह कहता है— 'भगवान के बाद नहीं, पहले श्रीमान का नंबर है। भगवान ने प्रकट फल किसी को दिया है? किसी भकुवे ने देखा है? और आपके फल चखने वालों की चतुरंगी-सेना... मैं तो सच कहता हूँ, आपके दर्शनों के बाद मेरी निगाहों के नीचे कोई दूसरा भगवान आता नहीं....।' ³¹

दसवें दशक की हिंदी-कहानियों के अध्ययन के आधार पर हम कह सकते हैं कि उच्च वर्ग के पास अपार धन है। वे लोग संसार की बहुमूल्य वस्तुओं को खरीदने में ज़रा भी संकोच नहीं करते। समाज में उच्च वर्ग का व्यवहार अन्य वर्ग के साथ मधुर नहीं है। यह वर्ग समाज के अन्य वर्गों का उत्थान नहीं चाहता क्योंकि यदि समाज के अन्य लोग खुशहाल होंगे तो इनकी धाक कैसे बनेगी। इस प्रवृत्ति ने उच्च वर्ग को कठोर प्रवृत्ति का बना दिया है। दसवें दशक की हिंदी कहानियों में यह भी स्पष्ट होता है कि समाज में होने वाले कुकृत्य भी उच्च वर्ग के लोग ही अधिक करते हैं। इस वर्ग के लड़के-लड़कियाँ आपस में शारीरिक संबंध रखने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करते। एक-दूसरे के साथ घूमने-फिरने के लिए भी उन पर पारिवारिक प्रतिबंध नहीं हैं। भले ही यह भारतीय संस्कृति के विपरीत क्यों न हो।

राजनीति में भी उच्च-वर्ग के लोगों का ही आधिपत्य है। ये लोग चुनाव जीतने अथवा जिताने के लिए कुछ भी करने को तैयार रहते हैं। शासन और सत्ता को अपने हाथ में रखने या उस पर अपना अधिकार बनाए रखने के लिए ये लोग अनेक प्रकार के हथकंडे अपनाते हैं। अपार धन के बल पर ये लोग अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जनता को बेवकूफ बनाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। अभिप्राय यह है कि उच्च वर्ग द्वारा आम जनता का शोषण करने के लिए राजनीति भी एक हथियार का काम करती है।

संदर्भ

1. अभिजन और समाज, टाम बाटमोर, पृ० 29
2. वही, पृ० 30
3. हृदय परिवर्तन, परदेशी, पृ० 79
4. समकालीन हिंदी कहानियाँ, संपादक नरेन्द्र मोहन, पृ० 47
5. शिवानी की श्रेष्ठ कहानियाँ, शिवानी, पृ० 148
6. समकालीन हिंदी कहानियाँ, संपादक नरेन्द्र मोहन, पृ० 164
7. हिंदी-कहानी में यथार्थवाद, डॉ० नूरजहाँ, पृ० 142
8. परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, पूरनचंद्र जोशी, पृ० 20
9. समकालीन हिंदी कहानियाँ, संपादक नरेन्द्रमोहन, पृ० 261
10. समाजशास्त्रीय निबंध, वात्सायनी, पृ० 416
11. न्यूजरील, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', पृ० 47
12. वही, पृ० 27
13. एक कहानी लगातार, डा० रामदरश मिश्र, पृ० 99
14. Sunday , 18-24 June, 1991, P. 28 "of Mafia dons and Mlas"
15. Sunday , 18-24 June, 1991, P. 28 , "I am honest enough to declare that I keep goondas (toughs). For, without them, it is virtually impossible to win elections."
16. शिवानी की श्रेष्ठ कहानियाँ, शिवानी, पृ० 35
17. समकालीन हिंदी कहानियाँ, संपादक नरेन्द्रमोहन, पृ० 262
18. कालचक्र, रमेश सिद्धार्थ, पृ० 66-67
19. फूल बेला के, रमानाथ त्रिपाठी, पृ० 58
20. शिवानी की श्रेष्ठ कहानियाँ, शिवानी, पृ० 31
21. इस सुबह को नाम क्या दूँ, संपादक डॉ० पुष्पपाल सिंह, महेश कटारे, पृ० 213
22. वही, पृ० 218
23. हृदय-परिवर्तन, परदेशी, पृ० 61
24. वही, पृ० 56
25. शिवानी की श्रेष्ठ कहानियाँ, शिवानी, पृ० 118-119
26. समकालीन हिंदी कहानियाँ, संपादक नरेन्द्रमोहन, पृ० 145-146
27. चल खुसरो घर आपने, मिथिलेश्वर, पृ० 40
28. कालचक्र, रमेश सिद्धार्थ, पृ० 79
29. नींद से बाहर, भालचन्द्र जोशी, पृ० 49
30. नींद से बाहर, भालचन्द्र जोशी, पृ० 56-57
31. विशिष्ट कहानियाँ, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', पृ० 117

□ ग्राम शेखपुर लाला
पो० जलालाबाद (बिजनौर)

भवानीप्रसाद मिश्र के काव्य में प्रकृति-चित्रण

राजेशकुमार शोध छात्र

डॉ० अनूप वशिष्ठ प्रोफेसर हिंदी विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ०प्र०)

भवानीप्रसाद मिश्र की कविताएँ प्राकृतिक साहचर्य से ओत-प्रोत हैं। उनकी कविताएँ साधारण भाषा में लिखी जाने के बावजूद असाधारण प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम हैं। कवि के अनुसार आज स्थिति ऐसी है कि हर जगह अविश्वास का माहौल है, स्वयं में आशा की जगह अवसाद है। फलस्वरूप लोग सहजता को भूलकर असहज हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में प्रकृति के साहचर्य से रोम-रोम पुलकित हो उठता है और ऐसा महसूस होता है कि किसी मोड़ पर अचानक प्रेयसी मिल गई हो, उस क्षण की अनुभूति सिर्फ महसूस की जा सकती है। शब्दों से उनका सिर्फ आवरण खींचा जा सकता है।

मिश्र जी के रचना-संसार में कई स्थानों पर प्रकृति और प्रेम एक-दूसरे के पूरक रूप में उभरे हैं। प्रेम के अभाव में प्रकृति भी विरस हो जाती है। मिश्र जी को पढ़ते हुए यह अद्भुत ढंग से लगा कि प्रकृति और स्त्री के बिना क्या कोई कविता पूर्ण नहीं होती? यह प्रश्न शायद जीवन के स्वरूप पर व्यापक रूप से भी महत्वपूर्ण हो। जो भी हो, मिश्र जी प्रकृति का पग-पग पर विनियोग करते हैं। जिंदगी की हर छोटी-बड़ी बातों को रखने के लिए प्रकृति का कमनीय और मुनासिब संबल लेना मिश्र जी की कविताओं में प्रायः सर्वत्र देखा जा सकता है। मिश्र जी बार-बार अपने अनुभवों और कथन के प्रारूप को मूर्त रूप देने के लिए प्रकृति को चुनते हैं—

चाँदनी से तर-ब-तर वह रात

वन के वृक्ष

वृक्षों पर सटी बैठी हुई

झंकारवंती झिल्लियाँ

सब याद है

फिर न उतना सुख

न इतना दुख मिले

फरियाद है।¹

मिश्र जी की कविताओं में प्रकृति को खोजना नहीं पड़ता। वे विचार से विचार, दर्शन से दर्शन, दुख से दुख, सुख से सुख और अपनी शब्द-यात्रा को ऐंद्रिक बनाने के फेर में नहीं पड़ते। बड़ी आसानी से प्रकृति के बीच रहते हैं, उसे अपना सहचारी बनाते हैं। यह खुलापन,

हल्कापन और सादापन उनकी प्राकृतिक-संवेदना का महत्वपूर्ण हिस्सा है—

सतपुड़ा के घने जंगल
नींद में डूबे हुए-से
ऊँघते अनमने जंगल।
इन वनों में खूब भीतर,
चार मुर्गे, चार तीतर,
पालकर निश्चित बैठे,
विजन वन के बीच पैठे
झोपड़ी पर फूस डाले
गोंड तगड़े और काले,
जबकि होली पास आती,
सरसराती घास गाती,
और महुए से लपकती,
मत्त करती बास आती,
गूँज उठते ढोल इनके,
गीत इनके बोल इनके!²

मिश्र जी एक आस्थाशील रचनाकार एवं चिंतक थे। फिर भी उन्होंने जीवनमूल्यों के स्वरूपों एवं आयामों की बहुरंगी प्रकृति को देखने-परखने के लिए न केवल भारतीय अपितु विश्व वाङ्मय के संपर्क में आने का प्रयत्न किया और उन्हें मानदंड बनाकर भारतीय परिप्रेक्ष्य में साहित्य की प्रभावकारी विधाओं के फलक पर उतारा। उनका विश्वास था कि मानवीय सत्य एवं जीवनमूल्य किसी देश, जाति, संप्रदाय या धर्म विशेष के ही नहीं, अपितु संपूर्ण मानव-चेतना के लिए श्रेयस्कर होते हैं। परिस्थिति एवं परिवेश के अनुसार उनके प्रायोगिक स्वरूपों में अंतर अवश्य आता है, पर वे समग्र काल एवं देश में मानवता के उद्धारक होते हैं। मानवीयमूल्यों की सत्ता में भूत, भविष्य का भेद नहीं होता। मिश्र जी की प्रकृति-चेतना अलग-अलग नहीं है। वे शब्द, धरती, मनुष्य और प्रेम सबको प्रकृति की भाषा में सुनते और गाते हैं। यहाँ तक कि जब भी वे अपनी और अपने समर्थ की छोटी-बड़ी समस्या से निजात पाना चाहते हैं तो प्रकृति उन्हें शब्द प्रदान करती है, निरर्थकता की निराशा को दूर कर आशा और विश्वास के प्रातःकालीन सूर्य का दर्शन कराती है। पर सब उद्धारण न तो काम्य हैं, न अपेक्षित। उनकी 'दूसरा सप्तक' में प्रकाशित बड़ी कविता 'सतपुड़ा के घने जंगल' ही पर्याप्त है। यह कविता शुद्ध रूप से प्रकृति की कविता है। आलंबन के रूप में प्रकृति का इतना सहज, विकुंठ और पारदर्शी बहते जल के प्रवाह-सा निर्मल प्रकृति-काव्यरूप प्रायः हिंदी की आधुनिक कविता में एक दुर्लभ संयोग है—

सतपुड़ा के घने जंगल
नींद में डूबे हुए-से
ऊँघते अनमने जंगल।
झाड़ ऊँचे और नीचे
चुप खड़े हैं आँख मींचे

घास चुप हैं, आस चुप है
 मूक शाल पलाश चुप है
 बन सके तो धँसो इनमें
 धँस न पाती हवा जिनमें
 सतपुड़ा के घने जंगल
 ऊँघते अनमने जंगल।

अजगरों से भरे जंगल
 अगम, गति से परे जंगल
 सात-सात पहाड़ वाले
 बड़े-छोटे झाड़ वाले
 शेर वाले, बाघ वाले
 गरज और दहाड़ वाले
 कंप से कनकने जंगल
 ऊँघते अनमने जंगल।³

यह एक लंबी कविता है। प्रकृति और सुंदरता के साथ-साथ मार्मिकता, उत्सवधर्मिता और जीवंतता के अविकल अनुवार को मिश्र जी की कविताएँ प्रयोगवादी दौर में भी वाल्मीकि, कालिदास जैसे बड़े क्लैसिक कवियों की याद दिलाती हैं। इनकी प्रकृति-चेतना से पूर्ण कविताओं में रस और बिंब का आस्वाद स्मरणीय एवं सराहनीय है। प्रकृति चेतना या कि कोई भी संदर्भ चेतना की ही दिशा है। चेतना की अभिव्यक्ति समग्र होती है। ऐसा नहीं कि विभाजित रूप में चेतना कविता में छंद हो। प्रकृति के तत्त्वों को ग्रहण करते समय अपनी चेतना की समग्रता का नवसृजन कितने संपूर्ण ढंग से किया है। प्रकट है कि समर्थ कवियों की वाणी इस संपूर्णता को उजागर करती है। भवानीप्रसाद मिश्र भी इसी कोटि के कलाकार हैं। वे प्रकृति को रचते नहीं, प्रकृति उनके भीतर से पुनर्रचित हो, उनकी निर्मल संवेदना से मज्जित हो, झर-झर फूलों-सी झरती है—

शब्द झरते हैं टपाटप फूल से
 अर्थ बन जाते हमारी भूल से।⁴

अपनी एक प्रेम और एकांत निवेदन करती प्रसिद्ध कविता में वे लिखते हैं—

फूल लाया हूँ कमल के
 क्या करूँ इनका
 पसारे आप आँचल
 छोड़ दूँ
 हो जाए जी हल्का
 किंतु होगा क्या
 कमल के फूल का?
 कुछ नहीं होता
 किसी की भूल का।⁵

यहाँ निवेदन के लिए कमल, मानसरोवर, मानस की गहराई प्रेम की स्वीकृति की दिशा में संभावित हृदय-कमल की प्रफुल्लता आदि बिंब-प्रतिबिंब प्राकृतिक चेतना का एक साथ निर्वचन, उनके प्रकृतिपरक काव्य-विवेक को सराहनीय रूप में प्रस्तुत करता है। मिश्र जी प्रकृति को अपने हृदय से जोड़े रहते हैं, प्रकृति में ही वे अपनी काव्यभाषा की सर्जनात्मक पहचान करते हैं। प्रकृति से रिश्ता रखना मनुष्य का आदिम स्वभाव है। वह प्रकृति की खेती करता है। प्रकृति को बनाता-बिगाड़ता है। उसे कहीं अपने से अलग करता है या कहीं उससे स्वयं जुड़ता है। कुल मिलाकर प्रकृति उसके जेहन में विचरण करनेवाली अपरिहार्य वास्तविकता है। यही कारण है कि सदा से कविताएँ प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में, प्रकृति की भाषा और प्रकृति के संदर्भ में लिखी जाती रही हैं। भवानीप्रसाद मिश्र की कविताएँ इसका अपवाद कैसे हो सकती थीं। प्रकृति और प्रेम को भाषा के स्तर पर एक करती उनकी कविताएँ छायावाद की कल्पना और प्रगतिशील काव्य की लोकचेतना दोनों को ही एकीकृत मुहावरे में प्रकट करती हैं—

पी के फूटे आज प्यार के पानी बरसा री।
हरियाली छा गई हमारे सावन सरसा री।
बादली आई आसमान से धरती फूली री।
अरी सुहागिन, भरी माँग में भूली-भूली री,
बिजली चमकी भाग सखी री, दादुर बोले री,
अंध प्राण ही बही, उड़े पक्षी अनमोले री।
छन-छन उठी हिलोर, मगन मन पागल बरसा री,
पी के फूटे आज प्यार के पानी बरसा री।⁶

पी के प्यार फूटने और पानी के बरसने का बिंब, प्रकृति का अनुभूतियों के साथ बिंब-प्रतिबिंब भाव मिश्र जी की इन कविता पंक्तियों को छायावाद की परंपरा में कुछ जोड़नेवाला महाकवि बना देता है। भाषा और कथन-शैली की परंपरित स्मृति में लोक, यथार्थ और किंचित् अधिक ऐंद्रियता उन्हें कवियों की श्रेणी में भिन्न ढंग से सम्मान देती है। इसी प्रकार प्रकृति-वर्णन के प्रसंग में ही मिश्र जी की बिंब-योजना का एक दूसरा उदाहरण देखा जा सकता है। प्रकृति और प्रिय की एकता, प्रकृति और प्रियजन की एकता, प्रकृति और मधुर छवियों की एकता का एकांत मिलन इन पंक्तियों में लक्षित किया जा सकता है। वास्तव में छायावाद तक की कविताओं में प्रकृति का मानवीकरण था, पर निराला की कविताओं का अपवाद लें तो ज्यादातर कविताओं में मानवीकरण के ऐंद्रिकीकरण की समग्रता उनमें कम थी। छायावादोत्तर कुछ-एक जिन कवियों में यह प्रसारण हुआ, उनमें मिश्र जी एक हैं—

बूँद टपकी एक नभ से
किसी ने झुककर झरोखे से
कि जैसे हँस दिया हो
हँस रही सी आँख ने जैसे
किसी को कस लिया हो
ठगा-सा कोई किसी की आँख
देखे रह गया हो

उस बहुत से रूप को, रोमांच रोके
रह गया हो।⁷

मिश्र जी बढ़ते ध्वनि-प्रदूषण से भी क्षुब्ध हैं इसलिए उनका स्वर कहीं-कहीं विशेष व्यंग्यात्मक हो उठता है। आज जंगल उजाड़े जा रहे हैं। मिश्र जी के विचार में इसके फलस्वरूप पर्यावरण के साथ-साथ हमारी सांस्कृतिक चेतना का भी क्षरण हो रहा है—

नगाड़े, नाच और रात
कब से नहीं सुने देखे
देखना सुनना हो तो कहाँ जाएँ?
अब कहाँ है?
जंगल में मंगल
बल्कि कहो
कहाँ है जंगल, कहाँ है मंगल।⁸

मिश्र जी की रचनाओं में कविता और प्रकृति में द्विधात्मक संबंध है, वे प्रकृति के सहारे कविता तक पहुँचते हैं और कविता के साथ प्रकृति तक। मिश्र जी भी अन्य कवियों के समान प्रकृति का विनियोग अपनी संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए करते हैं। प्राचीन विभाजन के अनुसार आलंबन और उद्दीपन दो रूपों में प्रकृति को काव्य का विषय बनाया जाता है। आधुनिक काल में यह विभाजन कोई विशेष महत्त्व का नहीं रह गया है। रस जब काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित था और भाव-प्रकाशन या रस-परिपाक काव्य का चरम लक्ष्य था, तब इस तरह के विभाजन का विशेष मतलब हुआ करता था। प्रयोगवाद और नई कविता के आते-आते प्रकृति, जीवन, कल्पना, भावना, विचार और दूसरे जितने भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तथ्य रचना के हो सकते हैं, वे सब इस तरह घुल-मिल गए कि रचना में रचना की तलाश तो की जा सकती है, उसके तत्त्वों की स्थूलता को रेखांकित करना कठिन हो जाता है। प्रकृति और स्त्री की खोज भी इसी तरह का पाठकीय प्रयास है। प्रकृति और मनुष्य के रिश्ते का स्वरूप इतना सघन है कि दोनों को अलग-अलग देखना, दुष्कर कार्य या अकरणीय कार्य है, ऐसी मान्यता भी पिछले दिनों सामने आई है। 'दूसरा सप्तक' के महत्त्वपूर्ण कवि भवानीप्रसाद मिश्र के काव्य-संसार में प्रकृति को खोजना इस विचारणीय स्थापना के साथ ही संभव है।

संदर्भ

1. शरीर कविता फसलें और फूल, भवानीप्रसाद मिश्र, पृ० 13
2. भवानीप्रसाद मिश्र, संचयिता, सं० प्रभात त्रिपाठी, पृ० 60
3. वही, पृ० 58
4. भवानीप्रसाद मिश्र और उनका काव्य संसार, डॉ० अनुपम मिश्र, पृ० 94
5. भवानीप्रसाद मिश्र, संचयिता, सं० प्रभात त्रिपाठी, पृ० 58
6. दूसरा सप्तक, भवानीप्रसाद मिश्र, पृ० 29
7. वही, पृ० 28
8. भवानीप्रसाद मिश्र और उनका काव्य संसार, डॉ० अनुपम मिश्र, पृ० 86

रामधारी सिंह 'दिनकर' के गद्य साहित्य में राष्ट्रीय बोध

संदीपकुमार यादव (शोध छात्र)
वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय
जौनपुर (उ०प्र०)

राष्ट्रीय शब्द अपने आधुनिक अर्थ में आधुनिक है, जिसमें जाति, संप्रदाय, धर्म, सीमित भू-भाग आदि की संकीर्णता के स्थान पर क्रमशः एक समग्र देश और उसके भीतर निवास करनेवाली समस्त जातियों, भिन्न-भिन्न भू-खंडों, संप्रदायों और रीति-रिवाजों के लोगों का संश्लिष्ट, सामूहिक रूप उभरता गया है। कहना न होगा कि अँग्रेजों के आने के समय तक अपनी सांस्कृतिक एकता के बावजूद भारत व्यावहारिक रूप से भिन्न-भिन्न राज्यों में बँटा हुआ था। वास्तव में पूरे भारतवर्ष की एकता के अर्थ में राष्ट्रीयता का विकास आधुनिक काल में हुआ। अँग्रेजों ने समूचे देश में एक शासन स्थापित किया, जिससे पूरे देश के लोग एक राजा की प्रजा का और पूरे देश को समान यातना का अनुभव हुआ। अपने-अपने में बँटे हुए लोगों को यह प्रतीत हुआ कि वे सब मिलकर एक हैं, वे चाहे किसी जाति या धर्म के हों, अँग्रेजों के गुलाम हैं और फिर जब अँग्रेजी शासन के विरुद्ध मुक्ति का अभियान आरंभ हुआ, तो मुक्ति की चेतना धर्म या प्रदेश में सीमित न रहकर पूरे देश में व्याप्त हुई। इस प्रकार आधुनिक काल में जो राष्ट्रीयता का स्वरूप उभरा और विकसित हुआ, उसके तीन आधार हैं— पूरे देश में अँग्रेजी शासन की स्थापना, समग्र भारतीय प्रजा द्वारा अँग्रेजी शासन से उत्पन्न यातना का समान अनुभव तथा स्वाधीनता-आंदोलन और उसका देशव्यापी प्रसार।

कहना न होगा कि स्वाधीनता-प्राप्ति तक प्रथम दो तत्त्व बहुत प्रबल रहे, किंतु स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् तीसरे तत्त्व की ही सार्थकता शेष रह गई, किंतु उससे जो बात आई, वह थी— देश की राजनीतिक व्यवस्था की प्रतिष्ठा और विकास करने का प्रयास तथा नवीन राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण उत्पन्न समस्याओं से जूझने और उनका समाधान खोजने की चेष्टा। वर्तमान समस्याओं और प्रश्नों के संदर्भ में जब हम अपने अतीत गौरव को देखते हैं, तब उससे अभिभूत होने के स्थान पर उसका पुनर्मूल्यांकन करते हैं और विचार के स्तर पर हम उससे अपने को जोड़ते या काटते हैं, उसके भीतर निहित द्वंद्वों, विसंगतियों और मानवीय संवेदनाओं की तलाश करते हैं। जहाँ तक आधुनिक हिंदी-कविता में राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि वह आधुनिककाल के रचनाओं से आरंभ होती है। किंतु

राष्ट्रीयता का रूप तबसे लेकर आज तक विकसित होता रहा है। आरंभ में छोटे-मोटे दुख दर्द में सहज भावनात्मक प्रतिक्रियाओं तथा अतीत स्तरण के रूप में लक्षित होने वाली राष्ट्रीयता धीरे-धीरे जटिल और संलिप्त होती गई तथा मानवीय और सार्वभौम प्रश्नों एवं संवेदनाओं से संपन्न होती चली गई। नई-नई राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने उसे जटिल रूप प्रदान किया। भारतीय राष्ट्रीयता बहुत कुछ हिंदी राष्ट्रवाद के रूप में दिखाई पड़ती है। इसका कारण सायास हिंदू राष्ट्रवाद का प्रसार नहीं था वरन् भारतीय दृष्टि का अभाव था। राष्ट्रीयता के सारे रूप कहीं खंडित रूप में, कहीं संलिप्त रूप में दिनकर जी में दिखाई पड़ते हैं। राष्ट्रीयता का जो सबसे स्थूल रूप है वह है— विदेशी शासन के अत्याचारों, उनसे प्रसूत जन-यातनाओं और जनता के मन में उठती हुई क्रोध तथा असंतोष की ललकारों का चित्रण। यह क्रिया बहुत स्थूल रूप में भी हो सकती है और बहुत सूक्ष्म तथा संलिप्त रूप में भी। इस प्रकार राष्ट्रीयता का महत्वपूर्ण स्तर दिनकर जी की रचनाओं में दिखाई देता है। दिनकर जी की रचनाओं में भारतीय जीवन को जकड़ती हुई विदेशी सत्ता, सामंतवाद और महाजनी सभ्यता के जिस जटिल और बुनियादी स्वरूप को उभारा गया है, उसे भावुकता से संचालित माना जा सकता है। इस प्रकार की राष्ट्रवादी रचनाएँ मुखरित नहीं हो सकती हैं। राष्ट्रीय जीवन की यातनाओं और आक्रोश के स्वर में एक नया उभार लक्षित होता है। दिनकर जी आरंभ से ही अपने को परिवेश से जोड़ने का प्रयास करते रहे, इसकी तड़प उनकी रचनाओं में दिखाई पड़ती है। दिनकर जी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अपने देश और युगसत्य के प्रति जागरूकता और चिंतन दोनों स्तरों पर ग्रहण करने में असमर्थ हुए हैं। दिनकर जी ने राष्ट्र को उसकी तात्कालिक घटनाओं, यातनाओं, विषमताओं, समताओं आदि के रूप में नहीं बल्कि सांस्कृतिक परंपरा के रूप में पहचाना है और उसके प्राचीन मूल्यों का नए जीवन-संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में आकलन कर उन्हें जीवंतता प्रदान की है, दूसरी ओर वर्तमान समस्याओं और आकांक्षाओं को महत्व देते हुए उन्हें जीवनमूल्यों से जोड़ना चाहा है। दिनकर ने राष्ट्रीयता की पहचान को मात्र भावनात्मक प्रतिक्रिया से उभरकर चिंतन, परीक्षण तथा आत्मालोचन का स्वस्थ रूप देने का प्रयत्न किया है, साथ ही इस राष्ट्रीयता को सार्वभौम मानवता के रूप में विकसित होने का स्वप्न देखा।

‘दिनकर’ जी ने राष्ट्रीय एकता के माध्यम से हिंदी का समर्थन किया है और कहा है कि राष्ट्रभाषा हिंदी द्वारा ही संपूर्ण भारत में एकता लाई जा सकती है। हिंदी ही एकमात्र भाषा है, जिसके द्वारा जनता तक अपनी बात पहुँचाई जा सकती है। इस प्रकार उन्होंने अपने काव्य तथा गद्यसाहित्य के द्वारा जन-जन तक अपनी राष्ट्रीयता को पहुँचाने का प्रयास किया है। उनको अपनी मातृभाषा से अधिक प्रेम अपनी राष्ट्रभाषा से है।

‘संस्कृत के चार अध्याय’ में दिनकर की राष्ट्रीयता का सांस्कृतिक स्वरूप स्पष्टतः परिलक्षित होता है। भारतीय राष्ट्रीय संस्कृति पर अपने विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने अत्यंत व्यापक और शुभ निष्कर्ष निकाला है। दिनकर मानते हैं कि भारतीय संस्कृति सामाजिक है और सहस्रों वर्गों में विकसित हुई है। भारतीय संस्कृति में अनेक धर्मों को स्वयं में समाहित करने की क्षमता है। उन्होंने भारत की चार बड़ी सांस्कृतिक क्रांतियों का उल्लेख किया है।

पहली क्रांति तब हुई, जब आर्य भारतवर्ष में आए अथवा जब भारतवर्ष में उनका

आर्येतर जातियों से संपर्क हुआ। आर्यों ने आर्येतर जातियों से मिलकर जिस समाज की रचना की, वही आर्यों अथवा हिंदुओं का बुनियादी समाज हुआ और आर्य तथा आर्येतर संस्कृतियों के मिलन से जो संस्कृति उत्पन्न हुई, वही भारत की बुनियादी राष्ट्रीय संस्कृति बनी। इस भारतीय संस्कृति के लगभग आधे उपकरण आर्यों के दिए हुए हैं।

दूसरी क्रांति तब हुई जब गौतम बुद्ध ने इस स्थापित धर्म या संस्कृति के विरुद्ध विद्रोह किया तथा उपनिषदों की चिंताधारा को खींचकर वे अपनी मनवांछित दिशा की ओर ले गए। इस क्रांति ने भारत की राष्ट्रीयता की अपूर्व सेवा की किंतु इसी क्रांति के सरोवर में शैवाल उत्पन्न हुए और भारतीय धर्म तथा संस्कृति में जो गंदलापन आया, वह काफी दूर तक, इन्हीं शैवालों का परिणाम था।

तीसरी क्रांति उस समय हुई जब विजेताओं के धर्म के रूप में इस्लाम भारत पहुँचा और इस देश में हिंदुत्व के साथ उसका संपर्क हुआ। चौथी क्रांति हमारे अपने समय में हुई, जब भारत में यूरोप का आगमन हुआ तथा उसके संपर्क में आकर हिंदुत्व एवं इस्लाम दोनों ने नवजीवन का अनुभव किया।

भारत पराधीन था और केवल ईसाई पादरी ही नहीं, बल्कि अँग्रेजी पढ़े लिखे भारतीय भी भारतीय धर्म और राष्ट्रीयता की निंदा कर रहे थे, तथा यूरोप का अनुकरण करा रहे थे, जो भारतीय संस्कृति के खिलाफ़ था। अभिनव भारत को जिस दिशा में जाना था, उसका स्पष्ट संकेत विवेकानंद ने दिया। विवेकानंद वह सेतु हैं, जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं। विवेकानंद वह समुद्र हैं, जिसमें धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता, अंतर्राष्ट्रीयता तथा उपनिषद् और विज्ञान सबके-सब समाहित होते हैं। नेताजी सुभाषचंद्र बोस ने लिखा है कि 'स्वामी विवेकानंद का धर्म राष्ट्रीयता को उत्तेजना देनेवाला धर्म था। नई पीढ़ी के लोगों में उन्होंने भारत के प्रति भक्ति जगाई, उसके अतीत के प्रति गौरव एवं उसके भविष्य के प्रति आस्था उत्पन्न की। उनके उद्गारों में से आत्मनिर्भरता और स्वाभिमान के भाव जगे हैं। स्वामी जी ने सुस्पष्ट रूप से राजनीति का एक भी संदेश नहीं दिया, किंतु जो भी उनके अथवा उनकी रचनाओं के संपर्क में आया, उसमें देशभक्ति और राजनीतिक मानसिकता आप से आप उत्पन्न हो गई।' ¹

दिनकर जी ने 'राष्ट्रभाषा हमारी सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की देन' नामक निबंध में लिखा है कि 'आज के प्रचलित अर्थ में राष्ट्र और राष्ट्रीयता ये दोनों शब्द भारत के लिए नए हैं, अर्थात् इनका चलन हमारे यहाँ तब आरंभ हुआ, जब अँग्रेजी शासन के विरुद्ध भारत में प्रतिक्रिया जगने लगी। भारतीय और यूरोपीय संस्कृतियों के संघर्ष से पिछली शताब्दी में जो महान सांस्कृतिक जागरण हुआ, उसी के परिणामस्वरूप नवीन भारत का जन्म हुआ है। यूरोप के भारतीय आक्रमणों से भारतीयता की रक्षा करने के क्रम में पहले सांस्कृतिक राष्ट्रीयता जन्मी, पीछे वही राष्ट्रीयता राजनीतिक राष्ट्रीयता में परिणत हो गई।' हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा बनाई जाए। इस प्रस्ताव को हम सामान्यतः भारत की राजनीतिक राष्ट्रीयता की देन मानते हैं, किंतु वस्तुतः वह हमारी सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की देन है। उन्नीसवीं शताब्दी के सांस्कृतिक महाजागरण ने नेताओं का ध्येय केवल भारत को स्वतंत्र कराना ही नहीं था, प्रत्युत वे एक ऐसे भारत का निर्माण करना चाहते थे, जो विज्ञान और बुद्धिवाद की विशिष्टताओं को ग्रहण करता हुआ अपनी आध्यात्मिक परंपराओं

के मार्ग पर आरूढ़ रहे। जो यूरोप का अंधानुकरण न करके संसार के सामने कोई ऐसा आदर्श रख सके, जिससे धर्म में हिलती हुई अवस्था को स्थिरता प्राप्त हो, जिससे विश्व में फैली हुई विभिन्न जातियों भाषाओं और सांस्कृतियों के बीच एकता बिठाई जा सके तथा विश्व-मानवता की असंभव कल्पना संभव बनाई जा सके। बड़े आधार पर विश्व में जितनी विविधताएँ देखने में आती हैं, छोटे आधार पर बहुत कुछ वैसी ही विविधताएँ भारत में विद्यमान हैं। अतएव भारतीय एकता को संभव बनाकर हमारे संत और सांस्कृतिक सुधारकों ने विश्व में यह कहना चाहा कि विविधता में एकता लाने का मार्ग वह है, जिस पर भारतवासी चल रहे हैं।²

भारतीयों ने अपनी संकुचित दृष्टि को पीछे छोड़कर उन्नति की दिशा में आगे कदम बढ़ाया है। सांस्कृतिक समन्वय पर दिनकर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं— संस्कृति का स्वभाव है कि वह आदान-प्रदान से बढ़ती है। जब भी दो देश वाणिज्य, व्यापार अथवा शत्रुता या मित्रता के कारण आपस में मिलते हैं, तब उनकी संस्कृतियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करने लगती हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे दो व्यक्तियों की संगति का प्रभाव दोनों पर पड़ता है। संसार में शायद ही ऐसा कोई देश हो, जो यह दावा कर सके कि उस पर किसी अन्य देश की संस्कृति का प्रभाव नहीं पड़ा है। इसी प्रकार, कोई जाति भी यह नहीं कह सकती कि उस पर किसी दूसरी जाति का प्रभाव नहीं है।³

राष्ट्रीयता की भावना का अर्थ केवल यही नहीं है कि हमें एक राष्ट्र की एकता के लिए एक-दूसरे के प्रति मात्र भाईचारे की भावना आवश्यक है। स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात् लोगों ने सोचा था कि अब पारस्परिक भेदभाव की खाई पट जाएगी, किंतु सांप्रदायिकता, क्षेत्रीयता, जातीयता, अज्ञानता और भाषागत अनेकता ने देश को आक्रांत कर दिया तो राष्ट्रीय स्वर के गायक रामधारीसिंह 'दिनकर' जी ने 'भारतीय एकता' की भूमिका में लिखा— 'स्वतंत्रता तो हमने प्राप्त कर ली लेकिन राष्ट्रीय एकता का प्रश्न ज्वलंत रूप में हमारे सामने खड़ा है। हमारे सारे इतिहास की शिक्षा है कि हम स्वतंत्र तभी रहते हैं, जब तक हम एक रहते हैं। जब भी एकता खिड़की से होकर निकल भागती है, हमारी स्वतंत्रता सदर दरवाजा खोलकर चल देती है।'⁴

राष्ट्रीय एकता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा सांप्रदायिकता की भावना है। सांप्रदायिकता एक ऐसी बुराई है, जो मानव-मानव में फूट डालती है। दिनकर जी इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे, फलतः उनके गद्य-साहित्य में हिंदू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, पारसी, जैन, बौद्ध आदि सभी मतावलंबी को समान स्थान दिया गया है। सांप्रदायिकता, सद्भाव और सौहार्द बनाए रखने के लिए वे प्रत्येक देशवासियों से कहते हैं— 'हिंदू-मुस्लिम एकता राष्ट्रीय एकता का बहुत बड़ा अंश है, किंतु वह पूरा सवाल नहीं है। जरूरत अब इस बात की भी है कि हम उत्तर-दक्षिण की एकता को भी मजबूत बनाएँ। हिंदू-हिंदू की एकता, हिंदू-मुसलमान की एकता, फिर सभी धर्मों और संप्रदायों की एकता—ये सारे पहलू एक ही समस्या के हैं।'⁵

राष्ट्रीयता प्रचार करने की वस्तु नहीं है, इसे तो अनुभूत करना होता है। इसका संबंध हृदय से होता है। इसमें राजनीति काम नहीं आती, वैसे भी राजनीति के मंच से राष्ट्रीयता या राष्ट्रीय एकता की जितनी बातें बोली जाती हैं, उतनी ही अनेकता भी फैलती है। सच्ची राष्ट्रीय एकता को जन्म देने के लिए कुर्बानी की जरूरत है, कुर्बानी हम नहीं दे पा रहे हैं। दुर्गा के जन्म को संभव करने के लिए देवताओं में से प्रत्येक को अपने रक्त का एक अंश दान करना पड़ा था।

भारतीय राष्ट्र की एकतारूपिणी दुर्गा भी तब तक आकार नहीं पा सकती, जब तक कि भारत का प्रत्येक राज्य अपनी विशिष्टता का एक अंश उसके निमित्त उत्सर्ग नहीं कर दे। जब प्रत्येक सदस्य एक हद तक कुर्बानी करने को तैयार रहता है, तब परिवार की स्थिति ठीक होती है। हम वैयक्तिकता के मिथ्या मोह में फँसे हुए हैं। नतीजा यह है कि हमारी राष्ट्रीयता बल नहीं पा रही है, हम उस रूप से मिलकर खड़े होने में असमर्थ हो रहे हैं, जिस रूप से खड़े हुए बिना हमारा उद्धार नहीं हो सकता।

भारत विविधताओं का देश है। इसकी संस्कृति में विभिन्न धर्मों तथा जातियों का सामूहिक योगदान रहा है और इस योगदान में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य भाषा है। 'भाषा' के अभाव में राष्ट्रीय एकता की कल्पना नहीं की जा सकती। दिनकर जी ने 'राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता में भारत की सभी भाषाओं का जन्म है' नामक निबंध में लिखा है— विविध होता हुआ भी अपना सारा भारतवर्ष एक है और देश में भाषाएँ चाहे, जितनी भी हों, लेकिन उन सबके भीतर भारत की एक ही आत्मा अपने को अभिव्यक्त करती है। एक ही गंगोत्री का जल है, जो अनेक नदियों में बह रहा है। एक ही सूर्य का बिंब है, जो अनेक पात्रों में जगमगाता रहा है और एक ही भाव है, जो अनेक छंदों में फूट रहा है। वेद, उपनिषद्, रामायण और महाभारत— ये ही वे घाट हैं, जहाँ पर हमारी सभी भाषाएँ पानी पीती हैं। भाषा मूक भी होती है। भाषा संकेत को भी कहते हैं और भाषा के इन रूपों को सभी लोग एक समान समझ भी लेते हैं। अतएव मुख्य वस्तु भाषा नहीं भाव है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने कहा है— अनूठों चाहिए, भाषा कोऊ होय। सो भाव की एकता को लेकर यह सारा देश एक रहा है और विभिन्न भाषाओं के भीतर से हम भावों की इसी एकता की अनुभूति करते रहे हैं। भारत की भारती एक है, उसकी वीणा में जितने भी तार हैं, उनमें एक ही गान मुखरित होता है। असल में ज्ञान की गाय हमारी एक ही है, ये सारी भाषाएँ उनके अलग-अलग थन हैं। जिनमें मुँह लगाकर भारत की समस्त जनता एक ही क्षीर का पान कर रही है। भारत की संस्कृति एक है। विभिन्न भाषाएँ उसी संस्कृति से प्रेरणा लेकर अपने-अपने क्षेत्र में साहित्य रचती हैं और इन सभी साहित्यों से अंततः उसी संस्कृति की सेवा होती है। उसी संस्कृति का रूप निखरता है, जो सभी भारतवासियों का सम्मिलित उत्तराधिकार है।⁶

राष्ट्रीय एकता तभी कायम हो सकती है, जब हमारी राष्ट्रीय भाषा हो परंतु भाषा को लेकर देश के भीतर व्यापक द्वंद्व है। प्रांतीय धरातल पर इस द्वंद्व के प्रमाण असम और पंजाब में देखे गए हैं। किंतु राष्ट्रीय धरातल पर यह द्वंद्व हिंदी और अँग्रेज़ी के बीच है।

'भारत की एकता और भारत की स्वतंत्रता एक ही तस्वीर के दो पहलू हैं। अगर एकता खिड़की से होकर चली गई, तो स्वतंत्रता सटर, दरवाज़ा, खोलकर भाग जाएगी। इसलिए सभी भारतवासियों का पहला कर्तव्य यह है प्राणप्रण से अपनी राष्ट्रीय एकता की रक्षा करें। हिंदुस्तान हिंदी से कहीं महान् है। वह अपनी समस्त भाषाओं से भी बड़ा और विशाल है। एकता की रक्षा के लिए यदि हमें अपमान सहना पड़े तो उसे सह लेना चाहिए। एकता की रक्षा के लिए यदि हमें अन्याय सहना पड़े, तो हम अन्याय को भी सहेंगे। यह सब इसलिए सहना है कि भारत की एकता जब पुष्ट और बलवती हो जाएगी, तब हमारा कोई अपमान नहीं करेगा, तब देश का एक भाग किसी दूसरे भाग के साथ अन्याय करना भी भूल जाएगा।'

संदर्भ

1. रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 502
2. रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 532
3. रामधारी सिंह 'दिनकर', रेती के फूल, पृ० 76
4. रामधारी सिंह 'दिनकर', भारतीय एकता, भूमिका।
5. वही।
6. रामधारी सिंह 'दिनकर', राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता, पृ० 2

समकालीन कविता की कालावधि

डॉ० रमाकांत पांडेय

(शोध छात्र)

वीर बहादुरसिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय

जौनपुर (उ०प्र०)

समकालीन कविता का आरंभिक संदर्भ मूलतः अपारंपरित कविता काल से होता है। इन दिनों इसकी चर्चा प्रायः दो अर्थों में की जाती है— काल-सापेक्ष के संदर्भ में तथा निकाय-विशेष के संदर्भ में। काल-सापेक्षता से इसका अभिप्राय हमेशा संपूर्ण अपारंपरित काल से लगाया जाता है और निकाय-विशेष से तात्पर्य है— सन् 1954 के बाद की रचनाधर्मिता से।

काव्यधारा के समग्र रूपांकन से यह परिलक्षित होता है कि हिंदी-कविता में 1935 के आस-पास ही परिवर्तन के चिह्न परिलक्षित होने लगे थे। परिवर्तन की इस मूल प्रवृत्ति में अनेक-अनेक मत-मतांतरों का समावेश होता गया और परिवर्तन के रूप में प्रगाढ़ता आती गई। इसमें एक तरफ़ सुमित्रानंदन पंत जी ने 'युगांत' के बाद युगवाणी या युग के जीवन को अभिव्यक्ति देने का बीड़ा उठाया तो दूसरी तरफ़ राष्ट्रीय काव्यधारा के कवियों ने राष्ट्रप्रेम के साथ-साथ जनजीवन के हाहाकार को काव्य में समेटने की भरपूर चेष्टा की। तीसरी तरफ़ एक और स्वरलहरी हिलोरें ले रही थी। निराला जैसे समर्थ छायावादी रचनाधर्मी नए छंद और नया दृष्टिकोण लेकर काव्य-जगत में प्रवेश कर रहे थे। इनकी रचनाओं में नया दृष्टिकोण, नए प्रतीक, नई बिंब-योजना और नई वस्तुधर्मिता के दर्शन होने लगे थे। एक और वर्ग रचना-संसार में अपनी सीट सुरक्षित रखे हुआ था, वह वर्ग था गीतकारों का। नरेंद्र शर्मा और बच्चन जी जैसे गीतकार भावना और भाषा की दृष्टि से जन-जीवन में अपना स्थान निर्धारित कर रहे थे। इन्हीं अनेक रूपों ने काव्य के क्षेत्र में परिवर्तन का एक नया रूप उजागर किया था।

समकालीन कविता की काल-सापेक्षता :

परिवर्तन के रूप और प्रकृति ने समकालीन कविता का स्वर तो निश्चित कर दिया, किंतु इसकी काल और अवधि के संबंध में स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। केवल अनुमान से ही इसके आरंभ का समय निर्धारित किया जा सकता है। वस्तुतः पंत की रचना 'रूपाभ' के प्रकाशन के साथ-ही-साथ अर्थात् ईस्वी सन् 1937 से ही काव्य-जगत में परिवर्तन का अंकुरण दिखाई पड़ने लगता है। इसमें परिवर्तन और प्रयोग दोनों का आरंभ गोचर होता है। इसमें परिवर्तन, प्रयोग और विकास तीनों का समावेश है। प्रायः सभी विद्वान इस बात को स्वीकारते हैं कि परिवर्तन का स्वरूप 'रूपाभ' में है किंतु वे 'रूपाभ' में केवल परिवर्तन की

धड़कन को ही सुनते हैं। इन रचनाकारों की मान्यता है कि 1938 ई० के आसपास समकालीन संकट की स्वीकृति, मानसिक विभाजन का प्रतिरोध और यथार्थवादी यथातथ्य काव्यभाषा का निर्माण तीनों शुरू हो गए थे। इस संदर्भ में प्रख्यात समीक्षक डॉ० नामवरसिंह का मत है, 'अपने यहाँ हिंदुस्तान में यूरोप-सा गतिरोध नहीं था लेकिन कविता में छायावाद का विकास रुक-सा गया था और कवि कुछ विचारों और व्यंजना के माध्यमों की खोज में थे।'¹

इसी संदर्भ में केशरीकुमार का मत है कि 'हिंदी-कविता में प्रयोगवाद का वास्तविक आरंभ 1936 ई० से 1938 ई० में लिखी गई नलिन शर्मा की कविताओं से होता है, जिनमें से कुछ ही पत्र संपादकों के हलक के नीचे उतर सकी थी।² इस मान्यता से भी अलग एक खेमा ऐसा है, जो निराला की रचनाओं में नई काव्यधारा का मूल उत्स खोजने का उपक्रम करता है— 'वस्तुतः निराला 'कुकुरमुत्ता' और 'नए पत्ते' में विगत से विरत दिखाई पड़ते हैं। प्रभाकर माचवे 1939 ई० में अपनी दो कविताएँ 'विशाल भारत' में छपवा लेने के बाद से ही नई कविता की शुरुआत मानते हैं।'³ इतना ही नहीं, डॉ० शिवकुमार मिश्र का मानना है कि 1955 के बाद की रचनाओं को ही नई कविता माना जाना श्रेयस्कर है।⁴ इन सभी मान्यताओं से अलग पंत जी की अवधारणा है कि किसी-न-किसी रूप में नई कविता के मूल बीज और उसकी उत्पत्ति के सभी कारक छायावादी काव्यधारा से विद्यमान हैं अर्थात् नई कविता का आरंभ किसी-न-किसी रूप में छायावाद से ही हुआ है। अपने कथन के संदर्भ में पंत जी का अभिमत है कि नई कविता की उत्पत्ति के उत्तरदायी कारणों की खोज छायावाद में ही की जा सकती है। उनका कथन है, 'छायावाद में शाश्वत तथा उदात्त का स्थान रहस्य ने ले लिया। वस्तु-जगत का स्थान भाव-जगत ने, सार्वलौकिकता का स्थान वैयक्तिकता ने ग्रहण कर लिया। उसमें वास्तविकता से आँख-मिचौनी खेलकर स्वप्न तथा आशा की सृष्टि की एवं कल्पना का सुंदर पट बुना। प्राचीन काव्य में भाव और वस्तु-जगत में तादात्म्य अथवा संतुलन मिलता है। छायावाद ने वस्तु-जगत को अपनी तूली से रंग दिया। नई कविता ने मानव भावना को छायावादी सौंदर्य के धड़कते हुए पलने से बलपूर्वक उठाकर उसे जीवन-समुद्र की उताल तरंगों में पेंगे भरने के लिए छोड़ दिया है। जहाँ वह साहस के साथ सुख-दुख, आशा-निराशा के घात-प्रतिघातों से बढ़ती हुई युग-जीवन के आँधी-तूफानों का सामना कर सके, अंतर्वेदना से मुक्त होकर सामाजिक व्यथा के अनुभव से परिपक्व हो सके।'⁵ पंत जी परिवर्तन के प्रति अत्यधिक आग्रहशील हैं। उन्होंने 'रूपाभ' के संपादकीय में लिखा है, 'इस युग में जीवन की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार धारण कर लिया है, उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्याण मूल हिल गए हैं। अतएव इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं चल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण सामग्री ग्रहण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है। इस प्रकार इन विचारकों की दृष्टि में सन् 1936 के बाद की कविता चाहे उसकी संवेदना और शिल्प का स्वरूप कुछ भी हो समकालीन कविता के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए।'⁶ वास्तविकता यह है कि सन् 1937 के बाद छायावादी काव्यसौंदर्य-दृष्टि यथार्थ की ओर मुड़ने लगी थी। इस संदर्भ में डॉ० श्याम परमार का मत है, 'राष्ट्रीय चेतना की संपृक्त काव्यधारा ने गौरवशाली अतीत को प्रश्रय देने के साथ ही देश की ग्रीबी और पीड़ाओं को देखा। मगर यह दृष्टि यथार्थ की ओर मात्र संवेदना-विगलित ही रही। 'ग्राम्या' में पंत पहली बार जीवन की वास्तविकता की ओर मुड़े। भाषा और विषय दोनों दृष्टियों

से उनके काव्य ने नई कविता के लिए एक भावभूमि की सृष्टि की।⁷ अतः समकालीनता के लिए उपयुक्त कालक्रम की स्थिति छायावादी युग से ही मानी जानी चाहिए।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण की व्यंजना के आधार पर हिंदी काव्यधारा में समकालीन कविता का आविर्भाव तार सप्तक के प्रकाशन-काल ई० सन् 1943 ई० से माना जाता है। कुछ विद्वान अनेक तर्क-वितर्क के बाद इस काव्यधारा को प्रयोगवादी दायरे में बाँधकर देखना चाहते हैं तो कुछ इस दायरे से बाहर तो रखते हैं, किंतु दूसरा सप्तक से प्रभावित और प्रेरित नई कविता के अंतर्गत मानने के पक्ष में होते हैं और कतिपय विद्वानों की अवधारणा है कि समकालीनता तीसरे-चौथे सप्तक की प्रतिनिधि है। अतएव यह कहना समीचीन नहीं प्रतीत होता है कि नई कविता ने अपनी जीवन की अवधि भोग ली है। इसलिए आज और अभी भी कविता समकालीन कविता है। 'समकालीन कविता के विकास व स्वभाव को प्रभावित करने में अनेक सामाजिक राजनीतिक संदर्भों की चर्चा समीक्षकों ने की है।'⁸ किंतु प्रायः सभी समीक्षकों ने 1962 ई० को इसका मूल बिंदु माना है, क्योंकि सन् 1962 ई० में चीनी आक्रमण ने भारत की विशेष विदेश नीति के खोखलेपन को उजागर कर दिया। तत्कालीन नेताओं व राजनीति के प्रति लोगों का मोह भंग हो चुका था। सन् 1983 ई० में प्रकाशित समकालीन हिंदी-कविता संवाद⁹ के लेख, कविता और विविध आंदोलन में डॉ० सुखवीर सिंह ने समकालीन कविता को तीन कालखंडों में एवं वर्गों में विभक्त होने का संकेत दिया है—

1. नई कविता (सन् 1950 से 1960 तक)
2. साठोत्तरी कविता (अकविता का समय, ई० सन् 1961 से 1970 तक)
3. विचार कविता (ई० सन् 1971 से 1980 तक)

इस विभाजन-सीमा के अंतर्गत प्रथम तथा द्वितीय 'तारसप्तक' के अनेक रचनाकारों के अतिरिक्त अन्य अनेक रचनाकार भी समाहित हो जाते हैं। जगदीश चतुर्वेदी के 'प्रारंभ' नाम संकलन से अकविता (समकालीन कविता) का आरंभ माना जाता है। इस धारा के प्रमुख हस्ताक्षरों में जगदीश चतुर्वेदी, सौमित्र मोहन, राजकमल चौधरी और मोना गुलाटी मुख्य हैं। नरेंद्र मोहन का मानना है कि विचार कविता का आंदोलन एक सहयोगी प्रयास था, जिसका आरंभ 'संचेतना'¹⁰ पत्रिका के 'विचार कवितांक' से माना जाता है। रामदरश मिश्र, राजीव सक्सेना, विनय, नरेंद्रमोहन, सुधा गुप्ता, हरिप्रकाश, ऋतुराज आदि कवियों ने रचनात्मक वैचारिकता से विचार कर कविता में इसकी रचनात्मक भूमिका पर बल दिया और इसकी स्थापना मूलतः समकालीन कविता के केंद्रीय बिंदु के रूप में स्वीकार की। डॉ० रोहिताश्व ने समकालीन कविता को दो रूपों में वर्गीकृत किया है—

1. पूर्व समकालीन कविता— छायावादोत्तर नई कविता बनाम प्रगति और प्रयोग का द्वंद्व।
2. समकालीन कविताकाल— 1962 ई० से वर्तमान काल तक।

डॉ० रोहिताश्व का मानना है कि 1962 ई० समकालीन कविता के कालनिर्धारण के लिए गुणात्मक बदलाव की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसका कारण वे समसामयिक राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि व सृजनात्मक अवधारणाओं के बदलाव की अवधारणा को मानते हैं।

समग्र रूप से विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि साठोत्तरी हिंदी-कविता के लगभग से प्रारंभ काल के लिए 'समकालीन' शब्द रूढ़ हो गया है। समकालीन कविता निरंतर

विकासशील है और इसका परिप्रेक्ष्य विस्तृत है। इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि यह प्रगतिवादी, जनवादी कविता, विकसित, परिष्कृत, संशोधित, सामर्थ्यमूलक रूप की है। यह सन् 1962 ई० के मोहभंग व विसंगबोध के गुणात्मक रूप से उत्पन्न वामपंथी जनवादी सर्जना में प्रवृत्त कलात्मक संप्रेषणीय काव्यधारा है। डॉ० रोहिताश्व इस संबंध में कहते हैं— ‘जनवादी जनपक्ष की कविता समकालीन कविता का मुख प्रवाह है, जो अभिजनों व शोषक वर्गों का विरोध करती है और लोकानुभूति सौंदर्य माध्यमों की कलात्मक संप्रेषणीयता से पक्षधरता में अभिव्यक्त करती है।’¹¹ अतः आज की कविता सार्थक सृजन-संसार की कविता है, जो मानव के मूल जातीय संदर्भ व संघर्ष को पहचानती है। आज की कविता मनुष्य के बुनियादी सरोकार, वयस्क समझदारी से पूर्ण अनुभव का संसार है तथा इसमें स्वस्थ संभावनाएँ परिलक्षित हो रही हैं।

समकालीन कविता आदि से आज तक :

हिंदी साहित्य के विकास में भारतेंदुयुग का योगदान-विशेष रूप से गद्य के क्षेत्र में, एक नूतन रचना-धर्म है, जिसमें विविध प्रवृत्तियों का समावेश समाहित है। हम सुस्पष्ट तौर पर यह कह सकते हैं कि भारतेंदुयुग विविध प्रवृत्तियों का युग है, जिसमें आधुनिक राष्ट्रीय चेतना के स्वर के साथ अतीत व सांस्कृतिक गरिमा का अंश रीतिकालीन ब्रजभाषा के रूप में दृष्टिगत होता है, परंतु गद्य में खड़ी बोली को ही भारतेंदु जी ने स्वीकार किया, जबकि पद्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा की परंपरा का उच्छेद या तो उन्होंने किया नहीं या कर ही नहीं सके। वैसे न कर पाना भारतेंदु जैसे मनीषी के लिए अशोभन चिंतन है, माना यही जाना चाहिए कि काव्य-जगत में ब्रजभाषा के सोच का लोभ वे संभवतः नहीं छोड़ सके। इससे एक बात अवश्य स्पष्ट होती है कि भारतेंदु जी के मन में गद्य और पद्य की भाषा-द्वैतता का अंतर्द्वंद्व अवश्य ही रहा होगा। वे काव्य की भाषा अलग और गद्य की भाषा अलग हो, शायद इसके पक्ष में रहे हों। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि खड़ीबोली की कविता की प्रतिस्थापना भी इसी युग में हुई।

खड़ीबोली हिंदीकाव्य का शुभारंभ भी भारतेंदु की ही रचना से आरंभ हुआ था। इन्हीं द्वारा संपादित ‘हरिश्चंद्र चंद्रिका’ में ही ‘मंद-मंद आवे देखो प्रात समीरन की’ शीर्षक से खड़ीबोली काव्य की प्रथम रचना 1857 ई० में छपी और इसके बाद तो एक स्वस्थ परंपरा का मानो आरंभ हो गया। भारतेंदु जी का ‘दशरथ मिलाप’ 1876 ई०, लक्ष्मीप्रसाद पांडेय कृत ‘मोगी’ 1876 ई० (गोल्डस्मिथ के हरमिट का अनुवाद), प्रेमघन का अरुणोदय, श्रीधर पाठक का ‘एकांतवासी योगी 1886 ई० तथा अयोध्याप्रसाद खत्री की खड़ीबोली की रचनाओं का महत्त्वपूर्ण उल्लेख किया जा सकता है।¹² गद्य और काव्य की भाषा के संदर्भ का यह विवाद दिनोंदिन गहराता गया। यह भाषा विवाद का गहरापन साहित्य के लिए अत्यंत विकृत रूप लेता जा रहा था। इस विकृति को दूर करने के लिए सन् 1887-1897 ई० के काल में ‘हिंदुस्तान’ कविता के माध्यम से आम रचनाकारों को यह संदेश दिया गया कि गद्य और पद्य की भिन्न-भिन्न भाषा होना हमारे लिए इतना अहंकार का विषय नहीं है, जितना लज्जा और उपहास का।’¹³

इसी समय हिंदी काव्यधारा में विदेशी काव्यरूपों-एलेजी, ओड और सानेट का प्रवेश हुआ। दूसरी ओर लोकप्रचलित पुराने गीतों और धुनों का भी प्रयोग साहित्य में धड़ल्ले से होता रहा। इस संदर्भ में भारतेंदु जी का मूल्यांकन करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है—

‘भारतेंदु से पूर्व हिंदी-साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेंदु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन व साहित्य के बीच जो विच्छेद था, उसे उन्होंने दूर किया। हमारे साहित्य को नए-नए विषयों की ओर प्रवृत्त करनेवाले हरिश्चंद्र ही हुए।’¹⁴ भारतेंदुयुगीन प्रवृत्तियों का निरूपण करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है— ‘भारतेंदु ने जिस प्रकार गद्य की भाषा-स्वरूप स्थिर करके गद्य साहित्य को देशकाल के अनुसार नए-नए विषयों की ओर लगाया उसी प्रकार कविता की धारा को भी नए-नए क्षेत्रों की ओर मोड़ा। नए रंग में सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति की वाणी का था। उसी से लगे हुए विषय लोकहित, समाज-सुधार, मातृभाषा का उद्धार आदि थे। सारांश यह है कि इस नई धारा की कविता के भतर जिन नए-नए विषयों के प्रतिबिंब आए, वे अपनी नवीनता से आकर्षित करने के अतिरिक्त नूतन परिस्थिति के साथ हमारे मनोविकार का सामंजस्य भी घटित कर चले।’¹⁵ इसप्रकार समकालीन व्यक्ति की ओर अग्रसर होते हुए भारतेंदुयुग में ही द्विवेदीयुगीन काव्यधारा के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि का निर्माण हो चुका था।

द्विवेदीयुगीन साहित्यधारा के रूपांकन का मुख्य श्रेय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा 1903 में संपादित ‘सरस्वती’ पत्रिका है। इस पत्रिका का संपादन करके द्विवेदी जी ने अपने युग की काव्यधारा को नूतन और सार्थक दिशा प्रदान की। यही कारण है कि हिंदी साहित्य की आधुनिक विकासधारा में द्विवेदी जी का योगदान अन्यतम माना जाता है। स्वामी चिंतामणि घोष के ‘संकल्प’ और नागरी प्रचारिणी सभा काशी के सहयोग से ‘सरस्वती’ पत्रिका का प्रथम अंक जनवरी 1, 1900 में प्रकाशित हुआ। इस पत्रिका की श्रेष्ठता का मापदंड इसका भाषा-परिष्कार था। समग्र रूप से यदि विचार किया जाए तो भाषा की शुद्धता व सौष्ठव तथा लोकमंगल का विधायक साहित्य का निर्माण ‘सरस्वती’ पत्रिका का एकमात्र उद्देश्य था और अपने इस लक्ष्य को प्राप्त करने में सरस्वती पत्रिका ने पूरा जोर लगाकर एक हद तक अपना लक्ष्य प्राप्त भी कर लिया था। इस संदर्भ में अज्ञेय का मानना है— ‘इस काल में खड़ीबोली हिंदी एक संस्कारी भाषा हो गई और तभी से इसे खड़ीबोली कहना भी आवश्यक हो गया—हिंदी संज्ञा भी उसी के लिए रूढ़ हो गई’¹⁶ इस प्रकार इस युग में गद्य और पद्य की दो भाषाओं का अंतर्द्वंद्व भी समाप्त हो गया और हिंदी के नाम पर खड़ीबोली का विकास तीव्रतर होता गया। द्विवेदी जी की शब्दावली का उल्लेख इसी संदर्भ में डॉ॰ रवींद्रसहाय वर्मा ने किया है— ‘गद्य और पद्य की भाषा पृथक्-पृथक् न होनी चाहिए। यह निश्चित है कि किसी समय बोलचाल की हिंदीभाषा ब्रजभाषा की कविता के स्थान को अवश्य ही छीन लेगी।’¹⁷ लेकिन द्विवेदी जी ने हमेशा भाषा की व्याकरण-सम्मतता व भाषा की शुद्धता पर बल दिया— ‘कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए, जिसे सब कोई सहज ही समझ ले। कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए।’¹⁸

यही कारण है कि इस युग की कविता पर पुनरुत्थान या नवजागरण का प्रभाव परिलक्षित होता है। दिनकर ने माना है— ‘हिंदी-प्रांतों में पुनरुत्थान का नेतृत्व मुख्यतः दयानंद सरस्वती ने किया। प्रवृत्ति का उत्थान, बुद्धि की स्वतंत्रता और नारियों की मर्यादा-वृद्धि ये तीनों इस पुनरुत्थानकारी आंदोलन के सबसे बड़े परिणाम हैं।’¹⁹ प्रवृत्तियों के उत्थान में निवृत्तिमार्गी जीवन-दृष्टि का निरूपण मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। भारतेंदुयुग की परंपरा और नवीनता का द्वंद्व इस युग की भाषा में यद्यपि दिखाई पड़ता है फिर भी

इसके रूप में नव्यता अवश्य है। आप का निदर्शन जगन्नाथदास रत्नाकर, सत्यनारायण कविरत्न तथा वियोगीहरि की रचनाओं में पर्याप्त रूप में होता है।

प्रयोगवादी कविता :

हिंदी-साहित्य में प्रयोगवादी काव्यधारा का विकास कब किसके माध्यम से हुआ, यह कह पाना संभव ही नहीं है और यह प्रयोग कब किसने किया। यह विवाद का विषय है किंतु अधिकांश विद्वानों की यह मान्यता है कि प्रयोगवादी कविता का अविर्भाव 'तार सप्तक' के प्रकाशन के साथ 1943 में ही हुआ। यह निर्विवाद सत्य है कि अज्ञेय ने तारसप्तक में प्रयोग पर बल दिया और उन्हें प्रयोगवाद का प्रवर्तक मान लिया गया। श्री विश्वंभरनाथ का मानना है, 'प्रयोगवादी काव्य का इतिहास एक प्रकार से तारसप्तक के प्रकाशन से आरंभ होता है। पुस्तक की भूमिका में संपादक अज्ञेय ने प्रयोग शब्द की चर्चा किसी प्रसंग में कर दी थी। अतः हिंदी के आलोचक को एक नया वाद बनाने का दृढ़ आधार मिल गया।' ²⁰ इस मान्यता के विपरीत स्वयं अज्ञेय ने प्रयोगवादी कविता का आविर्भाव श्रीधर पाठक और शिवाधार पांडेय की कविताओं से स्वीकार किया है। ²¹

संदर्भ

1. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, डॉ० नामवरसिंह, पृ० 29
2. अवंतिका (पत्रिका) केशरीकुमार, जनवरी 1954, पृ० 251
3. मेपल-प्रभाकर माचवे, भूमिका
4. नया हिंदी काव्य, डॉ० शिवकुमार मिश्र, पृ० 351
5. नई कविता, सुमित्रानंदन पंत, पृ० 3
6. 'रूपाभ' पत्रिका अंक-2 जुलाई, 1938 ई०, संपादकीय
7. अकविता और कला संदर्भ, डॉ० श्याम परमार, पृ० 2
8. समकालीन कविता और सौंदर्यबोध, रोहिताश्व, पृ० 24-30
9. समकालीन हिंदी-कविता संवाद, सं० विनय और अश्विनी पराशर
10. समकालीन कविता के बारे में, नरेंद्रमोहन 4047
11. समकालीन कविता और सौंदर्यबोध, रोहिताश्व, पृ० 22
12. हिंदीकाव्य पर आंग्ल प्रभाव, डॉ० रवींद्रसहाय वर्मा, पृ० 82-83
13. भारतेंदुयुग, डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० 146
14. हिंदी-साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, पृ० 246
15. वही, पृ० 319
16. हिंदी-साहित्य का आधुनिक परिदृश्य, अज्ञेय, पृ० 50-51
17. हिंदीकाव्य पर आंग्ल प्रभाव, डॉ० रवींद्रसहाय वर्मा, 93
18. वही, पृ० 93
19. पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर, पृ० 6
20. अवंतिका (पत्रिका) जनवरी 1954, पृ० 234
21. नई कविता : कथ्य एवं विमर्श, डॉ० अरुणकुमार, पृ० 34

भीष्म साहनी के नाटक 'कबिरा खड़ा बजार में' में मिथकीय दृष्टि

डॉ० (श्रीमती) स्वर्णलता दहिया

प्राध्यापिका, हिंदी विभाग, पं० नेकीराम शर्मा राजकीय महाविद्यालय
रोहतक (हरियाणा)

भारतीय साहित्य में पौराणिक कथाओं को आधार बनाया जाता रहा है। इसका कारण है कि पुराण और इतिहास साहित्यकारों को बहुत पहले से प्रेरित करते रहे हैं। अनेक साहित्यकार इन्हीं आधारों पर कालजयी साहित्य के रचनाकार बन गए हैं। हिंदी में इसके लिए 'पुराकथा' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। हिंदी में नवजागरण के बाद बुद्धिवादी प्रगतिशील और राष्ट्रीय आंदोलनों में मिथक का पुनः निर्माण हुआ है।

प्रसिद्ध समीक्षक डॉ० नगेंद्र ने मिथक पर गंभीरता से चिंतन करते हुए लिखा है—

'अति बौद्धिकता से उत्पन्न, अनास्था और संत्रास एवं व्यर्थता आदि की दुष्कल्पनाओं से अभिभूत वर्तमान युग के मानव की चेतना में जीवन के शाश्वत एवं अखंड प्रवाह में प्रतीति उत्पन्न कर मिथक विधा उसे अंधकार से प्रकाश की ओर, असत से सत की ओर, और मृत्यु से अमरतत्त्व की ओर प्रेरित करने का प्रभावी साधन है। इस प्रकार मिथक का ज्ञान जीवन की भौतिक सीमाओं को तोड़कर मानव-चेतना को परमतत्त्व अथवा परमार्थ के प्रति उन्मुख करता है।'¹

मिथम अँग्रेजी के मिथ शब्द का हिंदी पर्याय है और अँग्रेजी का मिथ शब्द यूनानी भाषा के 'माइथॉस' से उत्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है 'वाचन' या 'अतर्क्य वचन'। हिंदी में इसके लिए कल्पकथा या पुराकथा आदि शब्दों के प्रयोग किए जाते हैं। वर्तमान समय में मिथक शब्द बहुप्रचलित और सर्वग्राह्य बन गया है।

मिथ में प्राचीन संदर्भ के प्रति आस्था और विश्वास होता है। यहाँ यह भी कहना उचित है कि आस्था और विश्वास के आधार पर ही मिथक का रूप सामने आता है। साहित्य में प्रयुक्त समस्त मिथक मनुष्य के जीवन से संबंधित होते हैं और निर्माता भी मनुष्य ही होते हैं।

वर्तमान समय में मनुष्य को जो शक्ति विज्ञान से प्राप्त होती है, वही शक्ति प्राचीनता के आधार पर मिथक से मिलती है। मिथम को जड़ कहना उचित नहीं है, क्योंकि मिथक युग की चेतना को साथ बदलते रहनेवाले विशेष आधार हैं।

मिथक के उद्भव के विषय में अनेक विचारों में प्रमुख विचार प्रकृति पर आधारित है। सूर्य, चाँद और जल आदि, आदिकाल से मनुष्य के साथ रहे हैं। भारतीय मिथकशास्त्र में सूर्य को

सात घोड़ों के रथ पर सवार होने का तथ्य सामने आता है। वेदों में भी सूर्य को देवता के रूप में और अग्नि को इसी रूप में पूजा जाता है। ग्रीक मिथक में सूर्य देवता का नाम हेलियस माना गया है। निश्चय ही मिथक की अवधारणा मनुष्य की कल्पना, जिज्ञासा और भाव-गंभीरता के योग से हुई है।

भारतीय साहित्य में संस्कृति का सबल आधार मिलता है। ऐसे साहित्य को उत्तम कोटि में स्थान दिया जाता है। वेद, महाभारत, रामायण और पुराण में मिथक का प्रभावी रंग आद्योपांत देख सकते हैं। मिथक का संस्कृति से गहरा संबंध है। इस संबंध को देखकर कहा जा सकता है कि मिथक संस्कृति के सुंदर और मनोरम संवाहक हैं।

मिथक का साहित्य से गहरा संबंध है। मिथक को अपनाकर वर्तमान समय के संदर्भ को गंभीरता से रेखांकित किया जाता है। मिथक और साहित्य के निकट संबंध को रेखांकित करते हुए श्री भानुदास आगोडकर ने लिखा है—

‘मिथक और साहित्य का घनिष्ट संबंध है। साहित्य के माध्यम से पुरातन मिथकों को नई अर्थवत्ता प्राप्त होती है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि साहित्यिक विधाओं की परिपक्वता या परिकल्पना को साकार करने का प्रयास साहित्यकारों ने किया है। आजकल प्राचीन मिथकों का प्रयोग साहित्यकार अपने साहित्य में आधुनिक जीवन-संदर्भ के रूप में ज्यादा करते हैं।’²

भीष्म साहनी के नाटकों के विषयों में विविधता है। ‘हानूश’ दंत कथा पर, ‘कबिरा खड़ा बाजार में’ कबीर-जीवनी पर, ‘माधवी’ माधवी की घटना पर और ‘रंग दे बसंती चोला’ जलियाँवाले बाग के हत्याकांड पर आधारित हैं। इनमें अनूठा मिथक रंग है।

भीष्म साहनी जी का मिथकीय दृष्टि से महत्वपूर्ण होनेवाला पहला नाटक ‘कबिरा खड़ा बाजार में’ है। जैसे तो भक्तिकाल के प्रसिद्ध निर्गुण-परंपरा के संतकवि के जन्म, जीवन आदि के बारे में बहुत सी किंवदंतियाँ या दंतकथाएँ प्रचलित हैं। इन्हीं किंवदंतियों को आधार बनाकर भीष्म साहनी जी ने यह नाटक लिखा है। इससे उनके जीवन की कई घटनाएँ जिनके बारे में हमारे मन में संदेह है, हमारे सामने प्रस्तुत हो जाती है।

हिंदी-साहित्य के प्रथम व्यंग्यकार कहलाने वाले कबीर के जीवन की विडंबना है, उनके जन्म आदि के बारे में मत-मतांतर रहे हैं। भीष्म साहनी ने इस किंवदंती को अपनाया है कि कबीरदास का जन्म विधवा ब्राह्मणी से हुआ और वह उसे काशी के लहरतारा तालाब के किनारे छोड़ गई थी। कबीर और नीमा के संवादों से इस बात का पता चल जाता है।

जब कबीर नीमा से कुरेद-कुरेदकर पूछते हैं कि घूरे पर फेंक गई थी ना? तो नीमा कहती है—

नीमा : जिस दिन तू मुझे मिला, उस दिन मैं ब्याहकर तेरे बाप के घर आई थी। यह मुझे ब्याहकर पालकी में जा रहा था। हम गंगा पार कर जुलाहों की बस्ती की तरफ जा रहे थे। तभी मैं पानी पीने के लिए एक तालाब के पास उतरी। तू मुझे वहाँ पड़ा मिला। तेरे ओठों पर अभी भी तेरी माँ का दूध लगा था। तेरा बाप और मैं तुझे निहारते ही रह गए। मेरी गोद तो अल्ला-ताला ने मेरे ब्याह के पहले दिन ही भर दी थी।’³

अर्थात् यहाँ नीमा और नूरा ने कबीर का पालन-पोषण किया था, इस बात की पुष्टि हो जाती है, लेकिन कबीर का समाधान इससे नहीं होता है। वह और कुरेदकर पूछता है कि मुझे जन कर फेंककर चली जानेवाली वह औरत कौन है? क्या नीमा उसे जानती है? तो नीमा जवाब देती है—

नीमा : मिली थी। उसे पता चल गया था कि तुम्हें मैं उठा लाई हूँ। कहीं छिपकर देखती रही थी। वह हमारी झोंपड़ी के आसपास आकर मँडराती रहती, अंदर झाँककर देखती, फिर लौट जाती। एक दिन मैंने उसे देख लिया, तो बात खुल गई।

कबीर : कौन थी वह ?

नीमा : कोई बेवा बामनी थी।⁴

कबीर अपने फक्कड़ व्यक्तित्व के कारण किसी के भी सामने अपने कवित्त बोलने से जरा-भी हिचकता न था, इसी कारण उनके कवित्त को सुनकर लोग चिढ़ जाते हैं और कई बार कबीर को कोड़ों से पीटा जाता है। किसी कसाई को गाय ले जाते देखकर कबीर उसे सीधे कवित्त कह देता है। इसी कारण उस पर कोड़े बरसाए जाते हैं। जब नीमा को इस बात का अहसास हो जाता है, तो वह कहती है—

नीमा : यह क्या? तेरा कुर्ता कैसा गीला हो रहा है? अरे, खून? क्यों, कबीरा, तेरे कुर्ते पर खून कैसे लगा है?

कबीर : कुछ नहीं माँ, कुछ भी तो नहीं।

नीमा : सिर से पाँव तक काँप जाती है। आज तुझे फिर किसी ने कोड़े मारे हैं?'⁵

उस समय का धार्मिक बाह्याडंबर भी एक मिथक के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है। जातियाँ आडंबरों के आधार पर समझी जाती थीं। कबीरदास को ही सिर्फ कड़ी सजा उस समय नहीं दी जाती थी, बल्कि उसके पदों को गानेवाले लोगों को भी इसी प्रकार की सजा दी जाती है। अंधा भिखारी नंदू उसके पदों को गाता पाया जाता है, तो उसे पकड़कर उसे पाँच कोड़े मारने की सजा सुनाई जाती है। हालाँकि चौथे कोड़े में ही वह दम तोड़ देता है, परंतु कोतवाल द्वारा दी गई सजा को ही मानकर चलता है। उसके मन में दंभ है कि उसने जो कुछ किया, वह सही किया है। वह कहता है—

कोतवाल : अब तुम क्या समझते हो, हमने कबीरदास को क्यों नहीं पकड़ा? इस अंधे भिखारी को क्यों सजा दी?

मुसाहिब : इसलिए कि सब काम हिक्मत से किए जाते हैं। पाँच कोड़े खाने के बाद अब यह भिखारी कबीरदास के कवित्त नहीं गाएगा। यही नहीं, इस शहर में ही अब कबीरदास के कवित्त कोई नहीं गाएगा।'⁶

कबीर के गुरु रामानंद की गुरुदीक्षा उन्हें किस प्रकार मिली, इस बात को स्वयं वे ही बताते हैं—

कबीर : हम बताते हैं। हमें किसी ने कहा कि गुरु महाराज पौ फटने से पहले, हर दिन, स्नान करने के लिए पंचगंगा घाट पर उतरते हैं। हमने कहा, बस, ठीक है। रात पड़ते ही हम वहाँ पहुँच गए। हम घाट की सीढ़ी पर पसर गए और चादर ओढ़ ली। वहाँ सीढ़ियाँ साँकरी हैं। हमने सोचा, महाराज इधर से उतरेंगे, तो हमें छुए

बिना तो निकल नहीं सकते। उनका पाँव ज़रूर हमसे टकराएगा। उनके चरण हमें छू जाए, बस हमारी गुरुदीक्षा हो जाएगी।’⁷

जैसे ही कबीरदास धार्मिक बाह्याडंबरों के विरोध में सत्संग करने का निर्णय लेते हैं और शुरू करते हैं, तो उनके झोंपड़े को आग लगाई जाती है, लेकिन सत्संग फिर भी शुरू ही रहता है। कबीर के ब्याह और गृहस्थी के संबंध में जो कथा बताई जाती है, उस मिथक को भी भीष्म साहनी जी ने अपनाया है।

वैसे तो कबीरदास के दीक्षागुरु शेख तकी नहीं थे, रामानंद थे, परंतु उनके गुरु के रूप में शेख तकी का नाम भी लिया जाता है। इसी कारण सिकंदर जब कबीर के साथ मुलाकात करने के लिए आ जाते हैं, तो वे कबीर से कहते हैं—

सिकंदर : हम चाहते हैं कि तुम हमारे यहाँ दिल्ली में आओ, हम वहाँ तुम्हारी मुलाकात शेख तकी साहिब से कराएँगे।’⁸

इस प्रकार हम देखते हैं कि भीष्म साहनी जी के नाटक ‘कबीरा खड़ा बजार में’ में कबीर के जीवन की अनेकानेक घटनाओं के मिथक को प्रस्तुत कर दिया गया है। डॉ० सत्यवती त्रिपाठी ने इस नाटक के बारे में अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है—‘ भारतीय साहित्य और संस्कृति के एक साधक की दृष्टियों से एक तस्वीर प्रस्तुत करने की पहल इस नाटक में की गई है।’⁹

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भीष्म साहनी के इस नाटक में मिथकीय प्रयोग तो हुए हैं, परंतु साथ ही मिथक में कल्पना का मिला-जुला रूप भी देखने को मिलता है, जो इस रचना को अधिक प्रभावोत्पादक बना देता है।

संदर्भ

1. डॉ० नगेंद्र, मिथक और साहित्य, पृ. 28
2. भानुदास आगेडकर, जगदीशचंद्र माथुर के नाटकों में परंपरा और आधुनिकता, पृ. 75
3. भीष्म साहनी, कबीरा खड़ा बजार में, पृ. 19.20
4. भीष्म साहनी, कबीरा खड़ा बजार में, पृ. 20
5. भीष्म साहनी, कबीरा खड़ा बजार में, पृ. 21
6. भीष्म साहनी, कबीरा खड़ा बजार में, पृ. 39
7. भीष्म साहनी, कबीरा खड़ा बजार में, पृ. 51
8. भीष्म साहनी, कबीरा खड़ा बजार में पृ. 92
9. डॉ० सत्यवती त्रिपाठी, आधुनिक हिन्दी नाटकों में प्रयोगधर्मिता, पृ. 156

गुजरात के हिंदी-सेवी मनीषी : डॉ० अंबाशंकर नागर

डॉ० नीरू रस्तोगी

हिंदी अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त करने में जितनी हिंदीभाषियों की ऋणी है, उससे भी अधिक अहिंदीभाषी हिंदीसेवियों की है। मातृभाषा में कार्य करना अत्यंत सरल है किंतु जहाँ प्रादेशिक भाषा पृथक् हो और आप कार्य अन्य भाषा में कर रहे हैं, वहाँ पर कार्य करने में बहुत कठिनाई होती है। सर्वाधिक समस्या साहित्य के प्रकाशन व उसके प्रचार-प्रसार की होती है। किंतु कुछ ऐसे सुकृति मनीषी हैं, जिनके अध्यवसाय और अनन्य सेवाभाव से वह अहिंदीभाषी क्षेत्रों में भी पुष्पित-पल्लवित हो रही है और हिंदीभाषी क्षेत्रों से भी अधिक व्यवस्थित ढंग से हिंदी की सेवा संपन्न हो रही है। ऐसे ही एक महामनीषी डॉ० अंबाशंकर नागर जी से मेरी भेंट गुजरात की ब्रजभाषा सेवा के अध्ययन के संबंध में कार्य करने के दौरान हुई। मैं तो यूँ कहूँगी कि उनका लेख 'गुजरात की हिंदी को देन' पढ़कर ही मैं इस कार्य में प्रवृत्त हुई। लगभग 60 वर्षों से वे हिंदी साहित्य के लुप्तप्राय मध्ययुगीन ग्रंथों के अध्ययन और संपादन में लगे हुए हैं और उनको प्रकाशित करके हिंदी-जगत के समक्ष प्रस्तुत कर चुके हैं, जिनके बारे में हिंदीभाषी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। सुदूर गुजरात के सीमाप्रांत क्षेत्रों से मध्ययुगीन एवं उत्तर मध्ययुगीन साहित्यिक संपदा के अध्ययन और प्रकाशन में वे लगे हुए हैं तथा उन्होंने अपने तमाम शिष्य-शिष्याओं को शोधकार्य कराकर इस ओर प्रवृत्त किया है और अनेक दुर्लभ ग्रंथों का प्रकाशन भी किया है। किंतु उनकी मौन सेवा का हिंदीभाषी क्षेत्रों में उतना मूल्यांकन नहीं हो पाया, जितना कि वास्तव में होना चाहिए था। वास्तव में अहिंदी क्षेत्रों में हिंदी का कार्य करनेवालों के प्रति हिंदीभाषी क्षेत्रों में उपेक्षा का भाव रहता है जबकि अहिंदीभाषी अहिंदीभाषी क्षेत्रों में हिंदी का कार्य करनेवालों कारण ही आज हम उसके अंतर्प्रातीय स्वरूप की व अघोषित राष्ट्रभाषा के स्वरूप की रक्षा कर पा रहे हैं अन्यथा हिंदी की दशा दासी की होती और अँग्रेजी घर की मालकिन बन जाती।

डॉ० अंबाशंकर नागर जी का जन्म 6 अगस्त 1925 को जयपुर में हुआ था। आपकी शिक्षा-दीक्षा जयपुर में ही हुई। फलतः आपकी मातृभाषा हिंदी है किंतु आपने कर्मक्षेत्र के रूप में गुजरात का वरण किया। आप गुजरात यूनिवर्सिटी के भाषासाहित्य भवन में अध्यक्ष निदेशक पद पर कार्यरत रहे हैं। संप्रति आप प्रोफेसर, महात्मा गांधी चेयर तथा निदेशक भारतीय भाषा, हिंदी भवन, गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद, हिंदी साहित्य अकादमी, गुजरात राज्य के अध्यक्ष, हिंदी साहित्य परिषद के अध्यक्ष पद को सुशोभित कर रहे हैं। अपनी अध्यवसायी वृत्ति के फलस्वरूप उन्होंने मध्ययुगीन ब्रजभाषा संतसाहित्य के ऐसे अनेक दुर्लभ ग्रंथ ढूँढ निकाले, जिनसे हिंदी-संसार अपरिचित था। यह कार्य अत्यंत श्रमसाध्य, समयसाध्य व चिंतनसाध्य था। ग्रंथों के पाठ शुद्ध करना, उनके अंतःसूत्रों को जोड़ना, अर्थ निकालना, कई ग्रंथों की लिपि गुजराती किंतु हैं ब्रजभाषा के,

उनके अनुवाद करना, अरबी-फ़ारसी, उर्दू में लिखे हिंदुस्तानी ग्रंथों को मुस्लिम सहयोगियों के साथ अध्ययन करके उनके भाषायी मूल्यांकन सहित छापना, यह सब अत्यंत कठिन कार्य था किंतु डॉ० नागर जी ने निहैतुक सेवाभाव से इस कार्य को संपन्न किया।

मध्ययुगीन ब्रजभाषा साहित्य से संबंधित ऐसा ही एक ग्रंथ है 'गुजरात के संतों की हिंदी वाणी' जोकि सन् 1969 में गुर्जर भारती से प्रकाशित हुआ था। आचार्य काका कालेलकर जी ने इस ग्रंथ की भूमिका लिखी है। कालेलकर जी ने इस ग्रंथ की भूमिका में लिख है—

'अहिंदीभाषी प्रदेशों के संतों ने हिंदी की जो सेवा की है, उसका अध्ययन भाषा की दृष्टि से भी और सांस्कृतिक दृष्टि से भी होना चाहिए। आचार्य विनयमोहन शर्मा ने 'हिंदी को मराठी-संतों की देन' नामक अपने ग्रंथ में इस काम का अच्छा प्रारंभ किया है। ऐसे ही महत्त्व का श्री नागर जी का यह ग्रंथ है। अखिल भारतीय धर्म-संस्कृति के विकास का इतिहास लिखनेवालों को इन दोनों से पर्याप्त प्रेरणा मिल सकती है।'

प्रस्तुत ग्रंथ हिंदी संतसाहित्य की शृंखला की अत्यंत महत्त्वपूर्ण कड़ी है। यदि हम पूरे भारत के मध्ययुगीन हिंदी-साहित्य का आकलन करें तो उस दृष्टि से गुजरात प्रांत की हिंदीसेवा अग्रगण्य है। इस ग्रंथ से यह सहज सिद्ध है कि भारत में प्रवाहित सांस्कृतिक अंतःसलिला ने सहस्राब्दियाँ बीत जाने पर भी पूरे देश को राष्ट्रीय एकता के सूत्र में आबद्ध रखा। डॉ० अंबाशंकर नागर जी ने इस लुप्तप्राय अप्रकाशित संतवाणी को एकत्रित करने में अगाध श्रद्धा के साथ कार्य किया है। संतवाणी लोकजीवन में घुली-मिली रहती है क्योंकि वह लोकप्रेरणा का कार्य करती है और लोकजीवन से अस्तित्व पाती है। साहित्य-संरक्षण का कार्य विद्वानों का होता है। अतः वह धर्मसंस्थानों व ग्रंथागारों में सुरक्षित रहती है। सामान्य अध्येता वर्ग उससे दूर रहता है। डॉ० नागर जी ने विभिन्न ग्रंथालयों से संपर्क करके अथवा उनके मूल गुजराती पाठ से अध्ययन करके उसको प्रस्तुत किया है। इस कार्य को करने की प्रेरणा आपको प्रसिद्ध गांधीवादी विचारक व अनन्य हिंदीसेवी श्रीमगनभाई देसाई से मिली। इसका प्रारंभ आपने सन् 1956 में प्रस्तुत अपने शोध-प्रबंध 'गुजरात की हिंदी-सेवा' से किया और लगभग शताधिक हिंदीसेवी गुजराती संतों से हिंदीजगत का परिचय कराया।

'गुजरात के संतों की हिंदीवाणी' के लिए डॉ० नागर जी ने गुजराती भाषा के लगभग 100 ग्रंथों का अध्ययन और अनुचितन किया और उसके पाठभेदों का शुद्धिकरण, गुजराती लिपि का नागरी में लिप्यंतरण, लगभग 100 संतों में बीच में प्रयुक्त गुजराती शब्दों का हिंदी-भावार्थ, सदर्थ-ग्रंथों के अवलोकन सहित प्रस्तुत किया है। यह पूरा कार्य अत्यंत दुष्कर था किंतु नागर जी ने अपनी कर्मठ शक्ति द्वारा संपन्न किया। आचार्य विनयमोहन जी शर्मा ने ग्रंथ के संबंध में अपनी सम्मति लिखी है—

'डॉ० अंबाशंकर नागर ने 'गुजरात के संतों की हिंदीवाणी' प्रकाशित कर हिंदी-जगत का ही नहीं, देश की जाग्रत जनता का बड़ा उपकार किया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि देश को एकरूप में बाँधने का प्रयत्न संतों ने सदियों पूर्व से ही प्रारंभ कर दिया था और यह कार्य उन्होंने बहुजन भाषित हिंदीभाषा के माध्यम से किया था।' (पुस्तक के कवर पृष्ठ पर) सुप्रसिद्ध समाजसेवी गुरुदयाल मल्लिक ने इस ग्रंथ का मूल्यांकन करते हुए लिखा है—

'संतवाणी! विश्व की वाणी! क्योंकि संत विश्व और विश्वकर्ता की वाणी का एक माध्यम है, उसकी मधुर और मार्मिक वाणी में सत्य की एकता और एकता के सत्य को समझने

का प्रेरणारूप मंत्र होता है।' (पुस्तक के कवर-पृष्ठ पर)

भक्त नरसी मेहता (वि०सं० 1470-1536) इस ग्रंथ में प्रथम कवि के रूप में प्रस्तुत हैं और रंग अवधूत इस संकलन के अंतिम कवि हैं। इनका काल सं० 1955 से 2024 तक का है। ये सभी संत गुजरात में प्रचलित विभिन्न संप्रदायों से जुड़े हैं। उन सभी सांप्रदायिक मर्यादाओं का भी अनुशीलन आपने निश्चित रूप से किया होगा। जैसे भक्त प्राणनाथ प्रणामी अथवा घामी संप्रदाय के प्रवर्तक हैं। इनका रचनाकाल (सं० 1675-1751) है। आनंदघन (सं० 1660-1730) श्वेतांबर जैन कवि हैं। अरवा (सं० 1630-1715) ज्ञानमार्गी संत परंपरा के प्रतिनिधि कवि हैं। भोजाभगत (सं० 1841-1909) जलाराम के गुरु हैं। ब्रह्मानंद स्वामी (सं० 1828-1905) स्वामी नारायण संप्रदाय से जुड़े हैं। निरांत (सं० 1803-1908) रामानंदी संप्रदाय से जुड़े हैं।

इस प्रकार लगभग साढ़े पाँच सौ वर्षों की साहित्यिक संपदा का अध्ययन, चिंतन और मनन फिर उसमें से उन अमूल्य मोतियों की माला तैयार करके राष्ट्रभारती के चरणों में समर्पित करना निश्चित रूप से गंभीर अध्यवसायी वृत्ति का परिचायक है तथा आज के साहित्य-अध्येताओं के लिए भी प्रेरणा का कार्य है। अनेक संस्थाओं ने आपके इस कार्य की सराहना करते हुए पुरस्कृत भी किया है। सन् 1986 में बिहार सरकार ने आपको हिंदीसेवा हेतु पुरस्कृत भी किया है। सन् 1989 में उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान ने आपकी हिंदी-सेवाओं का मूल्यांकन कर सम्मानित किया। सन् 1995 में भारत के राष्ट्रपति ने आपको 'सुब्रह्मण्यम भारती' पुरस्कार से सम्मानित किया है। राजस्थान अकादमी ने 1996 में आपको सम्मानित किया। सांगीतिक क्षेत्र में आपकी विशेष अभिरुचि के कारण सुर-शृंगार संसद, बंबई द्वारा आपको 'सारंगदेव फैलोशिप' प्रदान की गई। तीन बार आपने भारतीय संस्कृति, हिंदीभाषा एवं साहित्य के प्रचारार्थ यूरोप एवं अमेरिका के प्रमुख नगरों का भ्रमण किया है।

लगभग 60 वर्षों से माँ भारती की सेवा में आदरणीय डॉ० नागर जी अनन्य भाव से लगे हुए हैं। आप गुजरात में हिंदी-संस्थाओं के निर्माता रहे हैं। लगभग शताधिक ग्रंथों का संपादन और पचास से अधिक ग्रंथों का आप प्रणयन कर चुके हैं। कुछ के नाम इस प्रकार हैं—

1. गुजराती-हिंदी कोश (1963) 2. प्राचीन हिंदी कविता (1965) 3. गुजरात के हिंदी गौरव ग्रंथ (1964) 4. महाकवि बिहारी के अज्ञात कवित्त (1967) 5. दयाराम सतसई (1968) 6. गुजरात के संतों की हिंदीवाणी (1969) 7. राष्ट्रभाषा हिंदी और गांधी जी (1970) 8. चाँद, चाँदनी और कैक्टस (1971) 9. समकालीन हिंदी-कविता 10. प्रम्लोचा 11. हिंदुस्तानी : स्वरूप और विकास 12. हिंदुस्तानी शब्दकोश 13. गुलदस्ता-ए-गज़ल (1968) 14. हिंदुस्तानी काव्यधारा (1991) 15. गुजरात में हिंदी के ह०लि०ग्रंथों की खोज भाग 1, 2 (1995) 16. मध्यकालीन साहित्य : अध्ययन और अन्वेषण (1997) 17. वली गुजराती (1999) 18. काव्यभारती (14 भाषाओं में) (2000) 19. साहित्यान्वेषण (2001) 20. उत्तरकालीन अपभ्रंश (2002), 21. पतित पावनी (2006) अँग्रेज़ी अनुवाद 'होलीगंगा' के नाम से जय किशनदास सादानी द्वारा।

निस्संदेह, ऐसे अनन्य हिंदी-सेवियों को पाकर राष्ट्रभारती धन्य हुई है। आपके परिश्रम के फलस्वरूप उसके अंतर्प्रतीय एवं अतर्भारतीय परिदृश्य का निर्माण हुआ है। आपकी हिंदी-सेवाओं के लिए हिंदीजगत सदा ऋणी रहेगा।

□ 22, न्यू चंद्र विहार,
132 के०वी० सब-स्टेशन के सामने
आज़ादनगर, कानपुर

अंबेडकरवाद एवं दलित स्वतंत्रता सिद्धांत

डॉ० राजेशकुमार

विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग
धर्मसमाज कॉलेज, अलीगढ़ (उ०प्र०)

भारत में अंबेडकरवाद का महत्त्व मार्क्सवाद से अधिक होता है। यह अंबेडकरवाद दलित आंदोलन की आदर्शवादिता एवं उत्कृष्ट सीमा तक वृहद् जातिवाद-विरोधी आंदोलन को परिभाषित करता है। जिस प्रकार मार्क्सवाद श्रमिक आंदोलन की ओर आकृष्ट है और कार्ल मार्क्स के मूलभूत प्रायोगिक सिद्धांतों से पहचाना जाता है, ठीक उसी प्रकार भारतीय समाज में जातिगत विभेद व पूँजीवाद से उत्पन्न सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को दूर करने के लिए दलित आंदोलन की यही विचारधारा अंबेडकरवाद कहलाई। उपर्युक्त के संदर्भ में डॉ० साहेब के कुछ उद्देश्य इस प्रकार थे—

1. डॉ० अंबेडकर दलित जनता की आवश्यकताओं के प्रति आत्मसमर्पित थे। इस समर्पण के माध्यम से वे जाति-प्रथा के साकार रूप को जड़ से उखाड़ फेंकना आवश्यक मानते थे।¹
2. उतने ही समर्पण के साथ उन्होंने भारत की वास्तविकता को, उसके इतिहास व सभ्यता से, हिंदुत्व की पहचान कर उसकी विशाल ख्याति-प्राप्त मौलिकता को खोज निकाला।²
3. जातिवाद को उखाड़ फेंकने के लिए हिंदुत्व को तिरस्कृत किया जाना और उसको धर्म न मानना। उसके स्थान पर विकल्पस्वरूप किसी अन्य धर्म को ग्रहण किया जाना।³
4. भारतीय अर्थव्यवस्था के मूलभूत कारणों की उन्होंने वृहद् समीक्षा की तथा उसकी गणतांत्रिक स्वतंत्रता तथा मानवीय अधिकारों के शोषण के वह घोर विरोधी थे।⁴

अंततः एक राजनीतिक विकास की मौखिक व्याख्या, जो दलितों के स्वैच्छिक आंदोलन से संबद्ध है तथा सामाजिक एवं आर्थिक स्तर पर शोषितों (दलित, शूद्र, श्रमिक) से जुड़ी है, को आगे बढ़ाकर विकल्पस्वरूप काँग्रेस के, जिसको उन्होंने सवर्णों व पूँजीपतियों का एक सपाट मंच माना है, विरोध में संयुक्त मोर्चा गठित किया।

डॉ० अंबेडकर ने अपने जीवनकाल में एक ऐसे समाज के निर्माण का प्रयास किया, जिसमें गरीब, दुर्बल एवं पददलित व्यक्तियों की सामाजिक एवं आर्थिक दशा सुधारने की प्रक्रिया को प्राथमिकता दी गई है। 'उन्होंने अपने राजनीतिक विचारों को भी इन्हीं लोगों की समृद्धि में

संलग्न रखा। कारण यह है कि धनाढ्य लोग समाज में ऊँचे गिने जाते हैं अथवा सामर्थ्यवान होते हैं, उनकी चिंता में समय लगाना उचित नहीं। अतः संपन्न वर्ग की चिंता न करके डॉ० अंबेडकर शोषित वर्ग को ऊँचा उठाकर तथा उन्हें संपन्न बनाकर समाज में शांति-व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे। समाज को भयमुक्त करना उनका ध्येय था। इसके लिए आवश्यक है कि व्यक्ति एवं समाज और समाज एवं राज्य, सभी का मूलभूत आधार सामान्यहित की वृद्धि करना हो। डॉ० अंबेडकर ने सामान्य शुभ को ही अपने राजनीतिक, नैतिक एवं धार्मिक विचारों का आधार बनाया, क्योंकि समाजदर्शन में सामान्य शुभ ही उत्तम हित है। प्राचीन एवं मध्यकाल से ही भारतीय समाज में कुछ दोष रहे हैं, जिनके कारण हमारे जीवन में अनेक बुराइयों का प्रादुर्भाव हुआ।⁵

सामान्य लोगों को सामाजिक निष्क्रियता (Social Stagnation) सांप्रदायिक अतिक्रमण (Communal Aggression) एवं राष्ट्रीय विघटन से उत्पन्न अनेक दुखों का सामाना करना पड़ा।⁶ डॉ० अंबेडकर ने इन परिस्थितियों का अध्ययन इस दृष्टि से किया कि उन्हें एक नए समाज की स्थापना की आवश्यकता थी। उन्होंने एक ऐसे आदर्श समाज की कल्पना ही नहीं की, वरन् स्थापना में भारी योगदान दिया, जो दलित स्वतंत्रता, समता एवं भ्रातृत्व के सिद्धांत को लेकर चले तथा जिसमें सम्मान, सहयोग, प्रेम एवं मित्रता का बाहुल्य हो।⁷ ऐसे समाज का स्वप्न उस समय पूरा हुआ, जब उन्होंने स्वतंत्र भारत का संविधान बनाने में सहयोग दिया, जिसमें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय, विचार, विश्वास एवं धर्म की स्वतंत्रता, अवसर एवं सम्मान की समता, भ्रातृत्व की भावना को पूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। इस नवीन समाज में व्यक्तिगत सम्मान, धर्म-निरपेक्षता एवं राष्ट्रीय एकता पर बल दिया गया।⁸

राष्ट्रीय एकता एवं दलित उत्थान की भावना ने डॉ० अंबेडकर को समाजवादी समाज की स्थापना के लिए प्रेरित किया, जिसमें उन्होंने व्यक्तिगत स्वतंत्रता को भी उचित स्थान दिया। उनका समाजवादी दृष्टिकोण केवल वैचारिक ही नहीं है, वरन् यह गंभीर आदर्शवाद एवं सामाजिक यथार्थवाद का एक समन्वयवादी विचार है। यह मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद से, जो स्वयं निरपेक्ष सत्य माना जाता है, भिन्न है। ये भौतिकतावादी एवं वैज्ञानिक समाजवादी विद्वान नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को उचित स्थान नहीं देते, क्योंकि उनका कहना है कि वर्गहीन समाज की स्थापना में ये मूल्य बाधक हैं। मार्क्सवादी दर्शन में, नैतिकता सदैव वर्ग-नैतिकता होती है। डॉ० अंबेडकर अपने राज्य समाजवाद में सामान्य नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को उचित स्थान देते थे, ताकि इस समाज के लोग धार्मिक प्रेरणा भी लेते रहें और एक-दूसरे के साथ सद्भावना, मित्रता, प्रेम एवं सहयोग की भावनाओं का प्रदर्शन करते रहें।⁹

डॉ० अंबेडकर का कहना था कि भारतीय समाजवादियों का मुख्य दोष यह है 'कि वे आधुनिक यूरोपीय समाज में धन को शांति का महत्वपूर्ण साधन मानते हैं। वे यह भी मानते हैं कि भूतकालीन यूरोपीय समाज के विषय में भी यही सत्य था। अतः वे मान बैठे कि यह बात भारत में भी पूर्ण रूप से लागू होती है।' इसी कारण भारतीय समाजवादी अपने मत को केवल आर्थिक सुधार तक ही सीमित कर लेते हैं। डॉ० अंबेडकर की दृष्टि में, वे लोग यह भूल जाते हैं कि केवल धन ही शक्ति का स्रोत नहीं है।¹⁰ समाज, धर्म, सामाजिक, सम्मान एवं नैतिकता भी ऐसे विषय हैं, जिनसे शक्ति प्राप्त होती है। अंतर केवल इतना है कि एक विषय कभी अधिक प्रबल था, तो

दूसरा विषय कभी अन्य समय पर। आज धन को शक्ति का साधन माना जाता है, किंतु यह बात प्रत्येक परिस्थिति में सत्य नहीं है। इसलिए डॉ० अंबेडकर कहते थे कि 'यदि स्वतंत्रता एक आदर्श है, और यदि स्वतंत्रता का अर्थ उस प्रभुत्व का अंत करना है, जिसे एक मनुष्य दूसरे पर प्रदर्शित करता है, तो स्पष्टतः इस बात पर अधिक बल नहीं दिया जा सकता कि आर्थिक सुधार ही एक मुख्य विषय है। यदि शक्ति एवं प्रभुत्व का स्रोत कभी भी सामाजिक एवं धार्मिक रहा है, तो सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों को भी सुधार का आवश्यक अंग मानना चाहिए।'¹¹

जातिवाद पर आधारित भारतीय सामाजिक संगठन बहुत ही जटिल है। केवल आर्थिक सुधारों से ही समाजवाद की स्थापना करना एक संदेहास्पद बात है। डॉ० अंबेडकर कहते थे कि 'मेरी समझ में यह नहीं आता कि भारत में एक समाजवादी समाज उन समस्याओं को सुलझाए बिना, जो कुछ पक्षपातों से उत्पन्न हुईं और ऊँच-नीच एवं जिनसे पवित्र-अपवित्र की भावनाएँ जाग्रत होती हैं, एक क्षण के लिए भी कैसे कार्य कर सकता है?'¹²

समाजवाद को यदि एक वास्तविक विषय बनाना है, तो सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों को भी अवश्य मानना पड़ेगा। भारत में रहनेवाले समाजवादी क्रांति नहीं ला सकते और यदि भाग्यवश ले भी आए, तो बिना सामाजिक एवं धार्मिक सुधार के वे अपने आदर्शों की प्राप्ति नहीं कर सकते। बिना सामाजिक समता एवं स्वतंत्रता के क्रांति का वास्तविक उद्देश्य पूरा करना कठिन है, चाहे वह कुछ क्षेत्रों में भले ही सफल हो जाएँ।¹³

समाजवाद की स्थापना के लिए डॉ० अंबेडकर यह आवश्यक नहीं मानते थे कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता या समता को कम किया जाए और न वह इसकी स्थापना के लिए रूसी समाजवाद की भाँति शक्ति का प्रयोग ही उचित समझते थे।¹⁴

वह मार्क्सवादियों एवं समाजवादियों की यह युक्ति ठीक नहीं समझते थे कि सामाजिक एकता शक्ति के प्रयोग से ही आ सकती है। अतः एक वर्ग को दूसरे वर्ग पर नियंत्रण करने का अधिकार या सामाजिक एवं धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करना न तो उन लोगों के लिए ही ठीक है, जो समाजवाद चाहते हैं और न उन लोगों के लिए हो, जो व्यक्तिवाद चाहते हैं।¹⁵ डॉ० अंबेडकर उस समाज-व्यवस्था के पक्षधर थे, जो दलितों की स्वतंत्रता के सिद्धांत पर आधारित हो और जिसमें मानव-सम्मान एवं व्यक्तिगत ईमानदारी को सामाजिक मित्रता के सिद्धांतों के साथ जोड़ा गया हो।

डॉ० अंबेडकर बौद्धधर्म के सामाजिक यथार्थवाद, नैतिक आदर्शवाद एवं मानव प्रयत्नों की भावना से बहुत ही प्रभावित थे। उन्होंने कहा कि जो व्यक्ति सामाजिक चेतना एवं निर्णय से काम करते हैं, वे ही सामाजिक उत्तरदायित्व को अच्छी तरह निभा सकते हैं। ऐसे ही लोग, जो स्वतः प्रकाशवान्, जाग्रत एवं ज्ञानवान् हैं, एक स्वतंत्र समाज की स्थापना में योगदान कर सकते हैं।¹⁶ डॉ० अंबेडकर, गांधी जी के ट्रस्टीशिप (Trusteeship) वाले सिद्धांत को भी नहीं मानते थे, क्योंकि पूँजीपति वर्ग गरीब लोगों के संरक्षक नहीं बन सकते। पूँजीपति इतने स्वार्थी होते हैं कि उनका परमार्थवाद की ओर जाना कठिन है। स्वेच्छा से वे दूसरों का शुभ कैसे कर सकते हैं।¹⁷

डॉ० अंबेडकर मध्यममार्गी थे और सामान्य शुभ का मार्ग अपनाता ठीक समझते थे। सामान्य शुभ का सिद्धांत डॉ० अंबेडकर की दृष्टि में, व्यक्ति-प्रधान और समाज-प्रधान सिद्धांतों में एक समझौता है। इन दोनों के उत्तम तत्त्वों को लेकर वह दलित स्वतंत्रता का सिद्धांत प्रतिपादित

करते थे।¹⁸ दलित स्वतंत्रता के सिद्धांत में रहनेवाले सभी व्यक्तियों की भलाई का एक संपूर्ण योग है। व्यक्ति का भला समाज में ही रहकर संभव है। सामूहिक उत्तरदायित्व शुभ का परिचायक है।¹⁹ डॉ० अंबेडकर यह मानते थे कि दलित स्वतंत्रता के सिद्धांत की प्राप्ति के लिए 'सामान्य नियम', 'सामान्य मापदंड', और 'सामान्य रहन-सहन का ढंग' उपयुक्त होते हैं। सामान्य नियम एवं मापदंडों के बिना समाज में सामंजस्य स्थापित नहीं हो सकता है। यदि समाज में विषमताएँ विद्यमान हैं तो विषमताओं का अंत करने का एक उत्तम उपाय है कि नैतिकता के सामान्य नियम बनाए जाएँ। ये नियम सबके लिए समान होने चाहिए।²⁰

प्रो० मैस्नर (Pro. Messner) कहते हैं कि 'एक और व्यक्तिवादी सिद्धांत सामाजिक उद्देश्य में सामंजस्य के तत्त्व नहीं देखता, तो दूसरी ओर समूहवादी सिद्धांत व्यक्तिगत हितों की अवहेलना करता है। वे एक-दूसरे को मान्यता नहीं देते, जो दलित स्वतंत्रता के सिद्धांत का मूलाधार है।' ²¹ डॉ० अंबेडकर के अनुसार कृषि एवं उद्योग-व्यापार वास्तव में समाज के महत्त्वपूर्ण आर्थिक उपकरण हैं, क्योंकि वह निजी संपत्ति और वैयक्तिक लाभ के अनुसरण पर आधारित होते हैं। ऐसा किए बिना व्यक्तिगत प्रतिभा से उत्पन्न विशिष्ट लाभों को वितरित नहीं किया जा सकता।²²

इसका अर्थ है कि मानव-हित व्यक्तिगत एवं समाजवाद और आदर्शवाद एवं यथार्थवाद में निहित है। वास्तव में, डॉ० अंबेडकर ने संविधान के आधार पर ऐसे समाज की स्थापना की, जिसमें सामान्य शुभ (दलित) प्रमुख हैं, सबके अधिकार हैं तथा सबके लिए स्वतंत्रता एवं समता है।²³

व्यक्तिगत एवं सामाजिक उद्देश्यों के सामंजस्य या एकता, मुख्यतः कानून-व्यवस्था के बिना, समाज छिन्न-भिन्न हो सकता है और मनुष्यों के लिए जीवित रहना कठिन हो जाएगा। जहाँ कानून नहीं पहुँचता, वहाँ लोग नैतिक नियमों के आधार पर ही जीवन चलाते हैं। अतः डॉ० अंबेडकर के अनुसार, कानून एवं नैतिकता दोनों ही एक अच्छे समाज के लिए आवश्यक हैं।²⁴

इस दृष्टिकोण से, डॉ० अंबेडकर अपने राजनीतिक विचारों में संविधानवाद को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते थे। संविधानवाद दलित स्वतंत्रता के सिद्धांत की आत्मा है। आदर्श समाज में, प्रत्येक उद्योग व्यक्तिगत आधार पर दलित स्वतंत्रता के सिद्धांत के लिए बढ़ाया जा सकता है। कोई भी क्रिया, जिसकी प्राप्ति में अवरोध न हो, नैतिक है और कोई भी क्रिया जिसकी प्राप्ति में अवरोध उत्पन्न हो, अनैतिक है।²⁵

डॉ० अंबेडकर के दलित स्वतंत्रता के सिद्धांत का मूलाधार प्रजातंत्र है। प्रजातंत्र के मौलिक आधार स्वतंत्रता, समता एवं भ्रातृत्व हैं। उन्होंने कहा कि 'मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा महान कर्तव्य है कि हम प्रजातंत्र को जीवन संबंधों के मुख्य सिद्धांत के रूप में समाप्त होता हुआ न देखें। यदि हम प्रजातंत्र में विश्वास करते हैं, तो हमें इसके प्रति सच्चा एवं वफ़ादार होना चाहिए। प्रजातांत्रिक सभ्यता को बनाए रखने के लिए हमें अन्य प्रजातांत्रिक देशों के साथ-साथ मिलकर चलना चाहिए।' ²⁶

प्रजातंत्र मनुष्य-मनुष्य के बीच अच्छे संबंध स्थापित करने का एक ढंग है। अच्छे संबंध प्रेम एवं स्वतंत्रता, सम्मान एवं सहयोग, ईमानदारी एवं सदाचार, न्याय एवं शांति और समता एवं भ्रातृत्व के द्वारा ही स्थापित किए जा सकते हैं। ये सामाजिक मानववाद के मूलाधार भी हैं, जिन्हें

अन्य शब्दों में, दलित स्वतंत्रता के सिद्धांत के सारतत्त्व भी कहते हैं।

संदर्भ

1. गेल ऑम्बेदट, दलित्स एंड द डेमोक्रेटिव रेवोल्यूशन, पृ० 223
2. वही, पृ० 224
3. वही
4. वही
5. डी०आर० जाटव, डॉ० अंबेडकर का समाजदर्शन, पृ० 119
6. बी०आर० अंबेडकर, पाकिस्तान और द पार्टीशन ऑफ़ इंडिया, 1946, अध्याय 10, 11 एवं 12
7. धनंजय कीर, डॉ० अंबेडकर, लाइफ़ एंड मिशन, पृ० 26
8. डी०आर० जाटव, डॉ० अंबेडकर का समाजदर्शन, पृ० 119
9. वही, पृ० 120
10. बी०आर० अंबेडकर, एनिहिलेशन ऑफ़ कास्ट, 1936, पृ० 16
11. वही, पृ० 17
12. वही, पृ० 19
13. वही, पृ० 17
14. डॉ० अंबेडकर का भाषण : बुद्धिज्म एंड कम्युनिज्म', इंटरनेशनल बुद्धिस्ट कांफ़ेंस, काठमांडू (नेपाल), 20 नवंबर, 1956, पैरा 6
15. बी०आर० अंबेडकर, एनिहिलेशन ऑफ़ कास्ट, 1936, पृ० 47-49
16. डॉ० अंबेडकर का भाषण : बुद्धिज्म एंड कम्युनिज्म', इंटरनेशनल बुद्धिस्ट कांफ़ेंस, काठमांडू (नेपाल), 20 नवंबर, 1956, पैरा 11
17. बी०आर० अंबेडकर, व्हाट काँग्रेस एंड गांधी हैव डन टू द अनटचेबिल्स, 1946, पृ० 297
18. वही, अध्याय 5, भाषाई राज्यों की रूपरेखा शीर्षक खंड से।
19. वही, अध्याय 4, संसदात्मक प्रजातंत्र एवं समाजवाद शीर्षक से।
20. बी०आर० अंबेडकर, द बुद्ध एंड हिज धम्म, 1957, पृ० 325
21. जे० मैस्नर, शोशल एथिक्स, 1957, पृ० 127
22. बी०आर० अंबेडकर, हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन करैसी एंड बैंकिंग, खंड 1, 1947, पृ० 1
23. बी०आर० अंबेडकर, स्टेट्स एंड माइनॉरिटिज, 1947, पृ० 3
24. बी०आर० अंबेडकर, बुद्ध एंड द फ़्यूचर ऑफ़ हिज रिलिज़न (लेख) 1950, पैरा 17
25. बी०आर० अंबेडकर, स्टेट्स एंड माइनॉरिटिज, 1947, पृ० 31-32
26. आल इंडिया डिप्रेस्ट क्लासिस कांफ़ेंस (तृतीय अधिवेशन) नागपुर में डॉ० अंबेडकर द्वारा दिया गया भाषण, जुलाई 1942

आधुनिक हिंदी गीतकारों का संगीत-ज्ञान और उन पर संगीत का प्रभाव

डा० मीना अग्रवाल

ललित कलाओं का सीधा संबंध मानव से है और मानव का अस्तित्व समाज के संदर्भ में ही निश्चित होता है। अतः ललित कलाएँ भी सीधे समाज से जुड़ जाती हैं। इसी कारण संगीत को भी समाज से अलग करके नहीं देखा जा सकता। भिन्न-भिन्न युगों में समाज की जैसी स्थिति रही है और उसका आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक ढाँचा जिस प्रकार का रहा है, संगीत-कला का व्यक्तित्व भी उसी के अनुरूप ढलता रहा है। वैदिक युग में मंत्रों में आस्था होने के कारण संगीत भी मंत्र-गायन से जुड़ गया। इसी प्रकार भक्तियुग में संगीत संतों की दैन्य, वैराग्य और करुणामूलक अश्रुविगलित भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गया। रीतिकाल में कलाएँ बादशाहों और सम्राटों के भोग-विलास का उपकरण बन गईं। अतः समस्त कलाओं में रसानुभूति के स्थान पर मनोरंजन-तत्त्व प्रधान हो गया।

जो संगीत अब से सौ-डेढ़ सौ वर्ष पूर्व राजदरबारों तक ही सीमित था, वह आधुनिक युग में आम आदमी तक पहुँच गया है। अब केवल विद्वानों को परितुष्ट करने के लक्ष्य से हटकर उसे आम आदमी को रसानुभूति कराने की ओर झुकना पड़ा है।

आधुनिककाल के कतिपय विशिष्ट संगीतज्ञों में स्वयं पंडित ओंकारनाथ ठाकुर ने स्वर के साथ शब्द के महत्त्व तथा स्वर और शब्द के सामंजस्य से उत्पन्न होने वाले रस तथा भाव पर गंभीरता से विचार किया और इस संदर्भ में सप्रयोग व्याख्यान दिए एवं ग्रंथ लिखे। मालवा के संगीतकार कुमार गंधर्व ने मालवा के लोकसंगीत का गहराई से अध्ययन करके शास्त्रीय संगीत के प्रस्तुतीकरण में उसका बहुलता से प्रयोग किया और शब्द की अपेक्षा स्वर से उत्पन्न होनेवाले भाव पर विशेष ध्यान दिया। पं. भीमसेन जोशी शास्त्रीय संगीत को जटिलता के साथ श्रुतिमधुर रूप में प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त रहे। वे भक्तिपरक पदों के शब्दों को स्वर की सहायता से अनुभूति की गहनतम सीमा तक ले जाने में समर्थ हुए। श्री अमीर खाँ स्वर और शब्द के सूक्ष्म तत्त्व से परिचित न होते हुए भी हृदयस्पर्शी शास्त्राधारित स्वरालंकारों के प्रयोग द्वारा श्रोताओं को संगीत में निमग्न करने की कला में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। बड़े गुलामअली खाँ गीतकाव्य के भावप्रधान अंश को पकड़कर विभिन्न स्वरावलियों द्वारा मार्मिक ढंग से उसे प्रस्तुत करने में कुशल थे। पं. विनायकराव पटवर्धन के गुरु पं. विष्णुदिगंबर पलुस्कर संगीत में काव्य के विशेष महत्त्व को स्वीकार करते थे। अतः पटवर्धन जी ने भी स्वर और शब्द में से किसी एक का अनुयायी न होकर दोनों की महत्ता को स्वीकार किया। पं. रविशंकर जी ने वीणा परिवार के

लोकप्रिय और कठिन वाद्य सितार पर अभूतपूर्व सिद्धि प्राप्त करके केवल स्वर की सहायता से देश और विदेश के संगीत-प्रेमियों को प्रभावित किया।

उक्त संगीतकारों की संगीतगत प्रवृत्तियाँ बताने का एकमात्र लक्ष्य यह है कि कतिपय गीतकारों ने इनमें से कुछ का प्रभाव स्वीकार किया है और उनकी कलागत प्रवृत्तियों को महत्ता प्रदान की है।

आधुनिक गीतकारों का संगीत-ज्ञान और उन पर संगीत का प्रभाव :

विशिष्ट छंदों में लिखे हुए काव्य को गीत कहा जाता है। स्वर (राग), पद (भाषा), ताल (छंद) और गति (लय) का समन्वित रूप ही 'गीत' कहलाता है। तात्पर्य यह है कि भाव-प्रकाशन के ये चारों उपकरण जब समुचित अनुपात में प्रस्तुत किए जाते हैं, तब वे गीत की श्रेणी में आते हैं।

साहित्य-जगत में गीतकार कहलाने वाले व्यक्ति यथार्थ में 'पदों' की सृष्टि करते हैं। अतएव उन्हें पदकार कहा जाना चाहिए। यह वर्ग किसी एक धुन या 'टेर' में अपने 'पद' गुणगुनाता या सुनाता है। 'गीत' के पद-पक्ष की रचना करने वाले व्यक्ति को 'मातुकार' और राग-पक्ष की तथा ताल-पक्ष की रचना करने वाले व्यक्ति को 'धातुकार' कहा जाता है। 'मातु' का अर्थ वाणी या भाषा और 'धातु' का अर्थ राग और ताल है। गीत के मातुपक्ष और धातुपक्ष दोनों की रचना में पूर्ण समर्थ व्यक्ति को 'वाग्गेयकार' कहा जाता है, क्योंकि वह 'वाक्' और 'गेय' दोनों की रचना करता है।¹

वाग्गेयकार का स्थान सबसे ऊँचा माना जाता है। वह वाणी और गीत दोनों का निर्माता होता है। व्याकरण-ज्ञान, शब्द-कौशल, छंद-भेद-ज्ञान, अलंकार-कौशल, रस और भाव-विवेक, देश और स्थिति का ज्ञान, संपूर्ण भाषाओं में कुशलता, कला और शास्त्रों में प्रवीणता, तीनों प्रकार के वाद्यों में प्रवीणता, आकर्षक कंठस्वर, लय-ताल और कला का ज्ञान, अनेक स्वर-भेदों की विवेचनाशक्ति, विशेष प्रतिभा, सरसतापूर्ण गाने की शक्ति, देशी रागों का ज्ञान, सभा में वाणी की सामर्थ्य, क्रोध और द्वेष का त्याग, संवेदनशीलता और औचित्य का परिज्ञान, पुनरुक्ति दोष से रहित मौलिकता पर इंगित ज्ञान, प्रबंध-चातुर्य, आशु गीत-रचना, विभिन्न पदों में विदग्धता, तीनों स्थानों की गमक में प्रौढ़ता, विविध आलापों में निपुणता, अवधानता आदि गुण वाग्गेयकार के लिए आवश्यक होते हैं।²

इस प्रकार गीतकाव्य के निर्माता को वाणी-पक्ष और गेय-पक्ष पर पूर्ण अधिकार होना चाहिए। उपर्युक्त गुणों से संपन्न गीतकार ही श्रोताओं को मंत्रमुग्ध करने की क्षमता रखता है। किंतु ऊपर वाग्गेयकार के जिन गुणों की चर्चा की गई है, वे वास्तव में किसी एक व्यक्ति में मिलने दुर्लभ नहीं तो कठिन अवश्य हैं। आज तो यह स्थिति है कि आधुनिक गीतकार किसी-न-किसी स्तर पर काव्य और संगीत के पारस्परिक संबंध और परस्पर आदान-प्रदान को स्वीकारते हुए भी संगीत के व्यावहारिक ज्ञान की दृष्टि से शून्य हैं। वास्तव में आधुनिक गीतकाव्य पर संगीत का जो प्रभाव किसी-न-किसी मात्रा में दृष्टिगत होता है, वह छंद (जो संगीत में ताल का आधार बनता है), लय और पद (भाषा) के प्रयोग के कारण ही है। वस्तुतः छंदविहीन कविता में भी व्याप्त रहने वाली लयात्मकता उसको संगीत के समीप पहुँचा देती है।

आधुनिक काव्य-जगत में भारतेंदुयुग से लेकर अब तक के शतशः गीतकारों में अत्यल्प ऐसे हैं, जिन्होंने संगीत की विधिवत् शिक्षा प्राप्त की, उसके शास्त्रीय-पक्ष का अध्ययन किया अथवा किन्हीं संगीतकारों के संसर्ग में रहकर संगीत का यत्किंचित ज्ञान प्राप्त किया।

बहुत लंबे अंतराल के बाद भारतेंदुयुग में संगीत ने जन-जीवन का स्पर्श करना आरंभ किया। स्वयं भारतेंदु नृत्य-ज्ञान की महफिलों में रुचि रखते थे और संगीत-साधना भी करते थे। उनका कवि जितना जागरूक था, संगीतज्ञ भी उतना ही सजग था। उन्होंने शास्त्रीय संगीत की परंपरागत पद्धति को स्वीकार किया। भारतेंदु जी के प्रभाव से बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० किशोरीलाल गोस्वामी, ठाकुर जगमोहनसिंह आदि कवियों ने परंपरागत पदशैली के अनुरूप गीतों की रचना की और उन पर राग, ताल आदि को शीर्षक के रूप में लिखा। यद्यपि स्वर-लिपियों के अभाव में इन गीतकारों द्वारा प्रयुक्त राग और ताल की विशिष्ट निबंधना अथवा बंदिश को जानने का कोई माध्यम नहीं है तथापि उनके गीतों से यह आभासित अवश्य होता है कि उन्हें संगीत का विधिवत् ज्ञान था।

भारतेंदुयुगीन गीतकारों ने ध्रुपद, धमार, ख्याल, टुमरी, गज़ल और परंपरागत पदशैली में अपनी रचनाएँ कीं; यद्यपि उनका आकर्षण ख्याल और टुमरी के प्रति अधिक रहा।

द्वैतयोग से द्विवेदीयुगीन हिंदी-गीतकाव्य पर संगीत अपनी जड़ें गहरी न जमा सका, क्योंकि द्विवेदीयुग की सुधारवादी दृष्टि ने शुद्ध रागदारी संगीत के पल्लवन में कोई सक्रिय सहयोग प्रदान नहीं किया। श्री विष्णुनारायण भातखंडे एवं श्री विष्णुदिगंबर पलुस्कर का अथक परिश्रम भी तत्काल सफल न हुआ। इस युग में राष्ट्रीय भावना और आर्यसमाज का सुधारात्मक दृष्टिकोण गीतों के रूप में प्रकट हो रहा था। इस तरह के गीत सामाजिक वातावरण और सामयिक आवश्यकताओं से प्रेरित होकर लिखे जाते थे और सामूहिक रूप से इस प्रकार गाए जाते थे कि उनमें सांगीतिक जटिलता नहीं आती थी। अतः इस युग में पदशैली का हास हो गया, राग और ताल से संबंध टूट जाने के कारण गीतकारों का संगीत के साथ बना हुआ संबंध अनायास समाप्त हो गया।

द्विवेदीयुग के पश्चात् काव्य में व्यक्तिनिष्ठता के समावेश के साथ-साथ शास्त्रीय संगीत की ओर जनरुचि का विस्तार हुआ। द्विवेदीयुग में निकृष्ट समझी जाने वाली संगीत-विधा सभ्य समाज को अपनी ओर आकर्षित करने लगी। शृंगाररस से ओतप्रोत काव्य के समान ही शृंगारिक अनुभूतियों से युक्त शास्त्रीय संगीत ख्याल, टुमरी, ध्रुपद, धमार आदि शैलियों के माध्यम से लोकप्रियता प्राप्त करने लगा। संगीत-साधकों द्वारा किए गए संगीतोद्धारक प्रयत्न इस युग तक आकर सफलीभूत हुए। परिणामतः 'प्रसाद' जैसे कलाकार संगीत स्वारस्य में इतना निमग्न हुए कि उनके पद्य क्या गद्य तक में संगीत की प्राणवत्ता का उद्घोष हो उठा। बहुत कुछ यही बात 'निराला' में भी थी। संगीत के इस सूक्ष्म व्यामोह ने ऐसे छायावादी कवियों को भी अछूता न छोड़ा, जो क्रियात्मक संगीत से पर्याप्त दूर थे।³

छायावादोत्तर काव्य में कल्पना के हास के साथ-साथ कल्पना-तत्त्व से परिपूर्ण संगीत-तत्त्व का न्यूनभाव दृष्टिगत होता है। यहाँ तक कि कुछ काव्यकार काव्य में संगीत के प्रयोग के औचित्य को स्वीकार ही नहीं करते। इस संबंध में प्रेषित प्रश्नावली के उत्तर में कई गीतकारों ने काव्य और संगीत के पारस्परिक संबंध को स्वीकार तो किया है, पर उसके क्रियात्मक पक्ष के प्रति अपनी अनभिज्ञता प्रकट की है। वस्तुतः आज के काव्यकार गीत-स्रष्टा तो है, वाग्गेयकार नहीं। इस आधार पर यह निष्कर्ष भी नहीं निकाला जा सकता कि वे संगीत के सूक्ष्म तंतुओं से किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं हैं। वास्तव में छंद और भाषा की लय और ध्वन्यात्मकता के माध्यम से वे संगीत के साथ किसी-न-किसी रूप में जुड़े हुए हैं।

प्रमुख गीतकारों पर संगीत का प्रभाव और उनका संगीत-ज्ञान :

आधुनिक गीतकारों पर संगीत के प्रभाव और उनके संगीत-ज्ञान का अध्ययन कई दृष्टिकोणों से किया जा सकता है—

1. क्या उन्होंने संगीत-कला का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया है?
2. अथवा उन्होंने संगीतज्ञों द्वारा प्रस्तुत गायन-वादन को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सुनकर संगीत की प्रेरणा प्राप्त की है?
3. अथवा उन्होंने संगीत के क्रियात्मक पक्ष के स्थान पर उसके सैद्धांतिक रूप का अध्ययन और मनन किया है?
4. अथवा परंपरा से चली आ रही किन्हीं काव्य-शैलियों का ज्ञान प्राप्त करके वे संगीत की ओर आकृष्ट हुए हैं?

जहाँ तक आधुनिक गीतकारों के व्यावहारिक संगीत-ज्ञान का प्रश्न है, कुछ गिने-चुने गीतकारों को छोड़कर अधिकांश इस लाभ से वंचित रहे हैं। विभिन्न अवसरों पर संगीतज्ञों द्वारा प्रस्तुत विभिन्न रागों को सुनकर अथवा परंपरा से चले आते हुए कुछ विशिष्ट शब्दों के लाक्षणिक प्रयोगों से प्रभावित होकर उन्होंने संगीत के कतिपय पारिभाषिक शब्दों का बड़े ही कौशल से प्रयोग किया है। उन प्रयोगों को देखकर गीतकारों के संगीत-ज्ञान की सराहना करनी पड़ती है। यहाँ हिंदी के कतिपय गीतकारों के संगीत-ज्ञान का विवरण प्रस्तुत है—

1. भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र :

भारतेंदु जी ने साहित्यिक गीतों के साथ ही बहुल संख्या में ऐसे गीतों की भी रचना की, जो शुद्ध शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से उपयुक्त हैं। उन्होंने शुद्ध शास्त्रीय संगीत के विचार से ध्रुपद, धमार, ख्याल, चतुरंग आदि अर्द्धशास्त्रीय संगीत की दृष्टि से टुमरी, दादरा आदि और लोकसंगीत के अंतर्गत कजली, होली, लावनी, चैती, बारहमासा आदि की रचनाएँ कीं। उनकी कुछ रचनाएँ तो संगीत-क्षेत्र की ही निधि बन गई हैं।

संगीत-शैलियों में ध्रुपद श्रेष्ठ माना जाता है। इसमें प्रायः स्थायी, अंतरा, संचारी और आभोग नाम से चार भाग होते हैं, यद्यपि कतिपय ध्रुपद स्थायी और अंतरे पर ही समाप्त हो जाते हैं। ताल के विचार से ध्रुपदों में चौताल, झंपा, ब्रह्म, तीव्रा, रुद्र आदि तालों का प्रयोग होता है और ये विलंबित लय में प्रस्तुत किए जाते हैं। इस आधार पर यदि भारतेंदु जी के ध्रुपदों का विश्लेषण किया जाए तो ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने ध्रुपद-संबंधी पदों का आकार इतना ही बड़ा रखा है कि वे ध्रुपद की स्थायी, अंतरा या अधिक-से-अधिक संचारी, आभोग के अंगों की पूर्ति कर सकें। ताल की दृष्टि से भारतेंदु जी ने चौताल का प्रयोग किया है। उनके अधिकांश ध्रुपद मलार राग में हैं।⁴

ध्रुपद के समान ही भारतेंदु जी धमार-रचना में पारंगत थे। धमार-शैली में गाए जाने वाले गीत प्रायः आकार में छोटे होते हैं। इनमें गीत के शब्दार्थ की अपेक्षा राग और ताल के प्रयोग से रसानुभूति कराना संगीतज्ञ का ध्येय होता है। भारतेंदु जी द्वारा रचित अधिकांश धमार ऐसे हैं, जिन्हें उनके द्वारा निर्दिष्ट राग और चौदह मात्रा की धमार ताल में सुविधापूर्वक गाया जा सकता है।⁵

भारतेंदु जी ने ख्याल शैली के लिए भी अनेक गीत लिखे हैं।⁶ शास्त्रीय संगीत के अंतर्गत ध्रुपद और धमार के पश्चात् ख्याल शैली का विशेष स्थान है। यहाँ तक कि वर्तमान युग में इसको उत्तर भारतीय संगीत की सर्वोच्च गायन-शैली माना जाता है। ख्याल शैली में लिखा गया उनका एक

पद यहाँ प्रस्तुत है—

पियाबिनु बिरह-बरसा आई,
सघन घन दामिनि दमकि सँग चमकि जुगुनूँ
रमकि बदरन झमकि बरसत बूँद अति झर लाई।
रैन कारी डरारी भारी छाई अँधारी बिनु
पिय बिहारी गिरधारी के प्यारी घबराई।
'हरीचंद' न धीर धरें पीर भई भारी
बनवारी बिना मुरझाई।⁷

संगीत का एक ऐसा पक्ष भी है, जिसमें राग की पूर्ण शुद्धता पर पूर्ण बल नहीं दिया जाता। कहीं-कहीं राग के परंपरागत रूप की अवहेलना भी आपत्तिजनक नहीं मानी जाती। तुमरी, दादरा आदि ऐसी ही गायन-शैलियाँ हैं, जिनमें कलापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष अधिक प्रबल होता है और गांभीर्य की अपेक्षा चापल्य की प्रधानता होती है। तुमरी के लिए प्रायः चंचल प्रकृति के रागों का चयन किया जाता है। भारतेंदु जी ने पर्याप्त संख्या में तुमरी और दादरा शैली की रचनाएँ की हैं।⁸ उन्होंने ठमरी के अनुकूल चंचल प्रकृति के रागों को अपनाया और उनमें अपने कोमल हृदय की भावनाओं को सफलता के साथ अभिव्यक्त किया। तुमरी की दृष्टि से प्रौढ़ इन रचनाओं की बंदिशों या गायकी को भारतेंदु जी ने लिपिबद्ध भी किया होता तो संगीत की समृद्धि में यह बहुत बड़ा योगदान होता।

लोकगीत तो लोकसंगीत पर आधारित होते हैं और लोक में व्याप्त धुनों पर ही इनकी रचना की जाती है। भारतेंदु जी ने पूर्वी उत्तर प्रदेश में प्रचलित धुनों के आधार पर ऐसे मनोमुग्धकारी लोकगीतों की रचना की है, जिनसे संगीत की अभिवृद्धि के साथ-साथ जनरुचि का भी परिष्कार हुआ है। कजरी⁹, बारहमासा¹⁰, लावनी¹¹, होली¹² आदि लोकगीत शैलियाँ भारतेंदु द्वारा प्रयुक्त होकर साहित्यिक सुषमा से परिपूर्ण हो गईं।

भारतेंदु जी ने संगीत के शास्त्रीय पक्ष का भी अध्ययन किया था, इसका प्रमाण 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' खंड दो में 'संगीत' शीर्षक से प्रकाशित उनका लेख है। इसमें उन्होंने संगीत के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए उसके विभिन्न अंगों यथा—स्वर, राग, ताल के विवेचन के साथ-साथ वाद्य, नृत्य, अंगभाव आदि पर भी विचार किया है। अपने समय में संगीत की अवहेलना, नियमों के प्रति अनास्था आदि के प्रति भारतेंदु जी का मन बड़ा क्षुब्ध था। उन्होंने लिखा है—'जितने इस विद्या के जानने वाले हैं, अपने अभिमान में मत्त हैं। कोई ऐसा नियम नहीं कि जिसके अनुसार सब चलें। यही कारण है कि रागों से पत्थर पिघले इत्यादि प्रभाव लोप हो गए। हाँ, किसी काल में इस शास्त्र का ऐसा कठिन नियम था कि पुराणों में बराबर लिखा है कि ब्रह्म ने अमुक गंधर्व को ताल से वा स्वर से चूकने से यह शाप दिया, शिवजी ने यह शाप दिया, इंद्र ने यह शाप दिया। वही संगीतशास्त्र अब है कि कोई नियम नहीं। शास्त्र असिल सब डूब गए, कुछ जैनों ने नाश किए, कुछ मुसलमानों ने। मुसलमानों में अकबर और मुहम्मद शाह को उसका ध्यान भी हुआ तो बड़े-बड़े गवैये मुसलमान बनाए गए, जिससे हिंदुओं का जो और भी रहा-सहा टूट गया। चलिए सब विद्या मिट्टी में मिली, इसमें मुख्य कारण यही हुआ कि केवल गुरुमुख श्रुति पर यह विद्या रही। किसी ने कभी इसको ऐसी सुगम रीति पर न लिखा कि उसे देखकर वही काम

दूसरे कर सकें।¹³

2. बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' :

प्रेमघन जी की संगीत में विशेष रुचि और गति थी। उन्हें स्वर, लय, ताल आदि का ज्ञान ही नहीं था वरन् वे संगीत-काव्य के रचयिता भी थे। विभिन्न राग-रागनियों में रची उनकी अनेक संगीत-रचनाएँ 'प्रेमघन सर्वस्व' के प्रथम भाग में संगृहीत हैं। विभिन्न लयों में बँधी उनकी कजलियाँ साहित्य और संगीत दोनों की निधि हैं।

प्रेमघन जी ने विविध राग-रागनियों, लयों, तालों व भाषारूपों में गीतकाव्य की रचना की है। सुविधा की दृष्टि से उनके गीतकाव्य को 'लोकगीत' तथा 'साहित्यिक गीत' जैसे दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रेमघन जी ने लोकगीत शैली में पर्याप्त रचनाएँ की हैं। इस शैली की रचनाओं का प्रारंभ भारतेंदु जी कर ही चुके थे, प्रेमघन जी ने इस परंपरा को विकसित किया और काव्य की नागर परंपरा के साथ लोककाव्य की प्रकृत परंपरा को भी साहित्यिक सुरुचि प्रदान की तथा उसे समाज-सुधार व राष्ट्रीय जागरण की भावना से अनुप्राणित किया। उन्होंने लोकगीत शैली के अंतर्गत वर्षाऋतु में गायी जाने वाली कजली, वसंत या होली पर गाए जाने वाले कबीर, होली तथा फाग आदि की रचनाएँ की हैं।¹⁴ किंतु कजली-रचना की ओर वे विशेष आकृष्ट रहे। उन्होंने जितनी कजलियाँ लिखीं, कजलियों का जितनी लयों में प्रयोग किया तथा उन्हें जितना विषय-वैविध्य प्रदान किया, उतना हिंदी का कदाचित् कोई दूसरा कवि न कर सका।

प्रेमघन जी के साहित्यिक गीत प्रायः विविध राग-रागनियों में संगीतबद्ध गूजल और पदों के रूप में मिलते हैं। इनके विषय शृंगार, प्रेम, भक्ति और हास्य-व्यंग्य रहे हैं। पदों और कुछ संगीतबद्ध रचनाओं में प्रायः सामाजिक विषयों को लिया गया है तो गूजलों का विषय प्रेमपरक है।

3. जयशंकर प्रसाद :

प्रसाद जी ने अपने समय में बनारस में विद्यमान अनेक कुशल गायकों और गायिकाओं का संगीत जी भरकर सुना था। इस कारण सांगीतक दृष्टि से उनका ज्ञान इतना सक्षम था कि वे संगीत के मर्म को आसानी से हृदयंगम कर लेते थे। उन्होंने अपने गीतों में विभिन्न राग-रागनियों का प्रयोग बहुत सूझ-बुझ के साथ किया है। किसी भी राग का नाम अनायास और निरर्थक रूप से उनके काव्य में नहीं आया है। उनके चयन के पीछे बड़ी मार्मिक विदग्धता है।

श्री रामनाथ सुमन ने कविवर प्रसाद के संगीत-ज्ञान के संबंध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं—'कवि प्रसाद यद्यपि स्वयं संगीतकार न थे पर संगीतज्ञ अच्छे थे। उन्होंने भारत के अनेक श्रेष्ठ संगीतज्ञों और वाद्यकारों की कला देखी थी। वह श्रेष्ठ संगीत में बड़ा रस लेते थे और उसमें मर्मज्ञ थे। उनके दादा और पिता के यहाँ समय-समय पर अच्छे गवैयों का बैठना-उठना होता था और उनकी मित्र-मंडली में भी संगीतज्ञ और संगीत के रसिक थे।'¹⁵

प्रसाद जी ने काव्य को एक ऐसा वर्णनमय चित्र बतलाया है, जो 'स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है'¹⁶ यह वर्णनमय चित्र सद्यः प्रभावोत्पादक होता है, बोल सकता है और इसमें संगीत की भी योजना हो सकती है।¹⁷ प्रसाद जी कविता के अंतर्गत ऐसे स्वर-विधान को महत्त्व देते हैं, जिसमें भावपूर्ण संगीत गाने की क्षमता हो, जो काव्य में संगीत तथा संगीत से काव्य की रचना करने में समर्थ हो और चित्र-राग के निर्माण में भी पूर्ण सहायक हो।

प्रसाद जी ने स्वर्गीय संगीत उत्पन्न करने के लिए अपने काव्य में स्वर-विधान की ओर

पर्याप्त ध्यान दिया है। स्वरों के संयोग से उन्होंने अपने काव्य को इतना सरस एवं मधुर बनाने का प्रयास किया है कि भले ही किसी पाठक या श्रोता को उनके पद्यों की अर्थ-प्रतीति न हो, परंतु उनके स्वर को सुनकर ही वह सिर हिलाने लग जाएगा, उसका हृदय आनंद-विभोर होकर बार-बार उसे सुनने की आकांक्षा प्रकट करेगा। इस सरसता और माधुर्य का कारण है, उनके गीतों में स्वरमैत्री की ओर अधिक ध्यान होना।

काव्य में स्वरलहरी या चित्रराग उत्पन्न करने के लिए प्रायः ऐसे वर्णों की योजना की जाती है जो सरल, सरस, सचिक्कण एवं मृदु हों और जिनके सुनते ही श्रोता का ध्यान आकर्षित होकर वहीं केंद्रित हो जाए। प्रसाद जी ने अनेक स्थलों पर स्वर-लहरी के अनुकूल वर्णों की योजना की है।

अपनी प्रौढ़ रचना 'कामायनी' में तो उन्होंने स्वरों के आरोह-अवरोह तथा उनके ह्रस्व-दीर्घ, प्लुत एवं कोमल-परुष स्वरूपों का भावानुकूल प्रयोग करके अपनी स्वर-विधान-संबंधी निपुणता तथा उनकी अंतरात्मा के ज्ञान का यथेष्ट परिचय दिया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि संपूर्ण 'कामायनी' गेय है और अपनी सांगीतकता से अद्भुत प्रभाव डालने की क्षमता रखती है। इसका श्रेय प्रसाद जी के स्वर-विधान को है।

संगीत की दृष्टि से प्रसादजी की काव्यकृति 'लहर' का विशिष्ट स्थान है। लहर की प्रायः सभी कविताएँ सांगीतकता से परिपूर्ण हैं। इसके अधिकांश गीतों में राग-रागिनियों की आदर्श संयोजना है। श्री रामनाथ सुमन के शब्दों में, 'कवि प्रसाद के संपूर्ण काव्य-विस्तार में लहर सबसे अधिक सांगीतक (म्यूजिकल) है।¹⁸ 'बीती विभावरी जाग री' गीत की सांगीतकता तो अपने आपमें अनुपम है। इसके प्रत्येक शब्द से मधुरिम संगीत प्रकट होता हुआ प्रतीत होता है। 'आँसू' में तो सांगीतकता के सभी प्रधान उपकरण सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं।

4. पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' :

निराला जी ने संगीत का क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त किया था। इस संबंध में उनकी अभिरुचि का परिचय डा० रामविलास शर्मा के इन शब्दों से मिलता है—'साहित्य के साथ उन्हें संगीत से भी प्रेम है। कुछ पक्के गाने उन्होंने लकड़पन में सीखे थे, जो अभी तक उनके साथ हैं। अपने ढंग से वे उन्हें गाते हैं और वह बहुत सुंदर ढंग होता है। यह संगीत-चर्चा तब और भी सुंदर होती है जब उनके हाथ में हारमोनियम आ जाता है। कभी-कभी गाते-गाते वह इतने तन्मय हो जाते हैं कि उँगलियाँ द्रुत वेग से ही नहीं चलाते बल्कि उनका प्रहार इतना सबल हो जाता है मानो वे तबले के बोल भी हारमोनियम से निकालकर मानेंगे।¹⁹

'परिमल' के तीसरे भाग की रचनाओं और 'गीतिका', 'अर्चना' तथा 'आराधना' के गीतों की संगीतात्मकता से निराला के छंद एवं संगीत पर अबाध अधिकार का प्रमाण मिलता है। वास्तव में गीतकार के संगीत-मर्मज्ञ होने पर गीत की भाव-संप्रेषणशक्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है। निराला के समय तक काव्य और संगीत का संबंध केवल श्रुति तक सीमित था। उन्होंने 'गीतिका' के माध्यम से, व्यवहार से, उसे प्रमाणित करते हुए संगीत में काव्य के अभाव का परिहार किया। यहाँ संगीत में, जिसका आधार लय है, काव्य की अविच्छिन्नता की भी रक्षा हुई है। जितना उदात्त वहाँ काव्य है, उतना ही संगीत भी। गीतों को शास्त्रीय संगीत की नियमावली के अनुरूप ढालना और संगीत को काव्य से मुखर करना ही यहाँ प्रधान है। इस प्रयत्न में संगीत के

साथ गीतकाव्य की जो रक्षा हुई है, वह 'गीतिका' की सफलता है।

'गीतिका' में संकलित गीतों की स्वरलिपि निराला स्वयं ही करना चाहते थे, किंतु उनका दुर्भाग्य था कि एक अच्छे हारमोनियम की गुंजाइश भी उनके लिए नहीं हुई। इन गीतों में, जैसा कि वे स्वयं लिखते हैं, 'प्राचीन गवैयों की शब्दावली, संगीत की संगति की रक्षा के लिए, किसी तरह जोड़ दी जाती थी, इसलिए उसमें काव्य का एकांत अभाव रहता था। आजतक उनका यह दोष प्रदर्शित होता है। मैंने अपनी शब्दावली को काव्य के स्वर से भी मुखर करने की कोशिश की है। ह्रस्व-दीर्घ की घट-बढ़ के कारण पूर्ववर्ती गवैये शब्दकारों पर जो लांछन लगता है, उससे भी बचने का प्रयत्न किया है। दो-एक स्थलों को छोड़कर अन्यत्र सभी जगह संगीत के छंदशास्त्र की अनुवर्तिता की है।' ²⁰

'गीतिका' की भूमिका में कवि ने गीतों को तालबद्ध किया है। ताल-मात्रा का उनमें पूरा-पूरा उल्लेख है, राग-रागिनी का उल्लेख उन्होंने इसलिए नहीं किया गया है, क्योंकि गीत प्रत्येक राग-रागिनी में गाए जा सकते हैं। निराला में नाद-सौंदर्य के प्रति विशेष रुचि है, इसलिए उनके गीतों में संगीत विशेष रूप से समाविष्ट रहता है। सचेतन कला, नाद तथा लय लाने के प्रयास में गीत का पूर्ण विकास हुआ है। 'परिमल' में 'बादलराग' शीर्षक रचना में इसका स्पष्ट निदर्शन है—

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घनघोर
राग अमर अंबर में भर निज रोर
भर झर-झर निर्झर-गिरि रस में
घर मरु तरु मर्मर, सागर में
मन में विजन-गहन-कानन में
आनन-आनन में रव घोर कठोर
राग अमर अंबर में भर निज रोर। ²¹

इसमें कवि-प्रतिभा द्वारा चयन किए गए शब्दों के द्वारा ही पदों के अर्थ शब्दों के नाद से प्रतिध्वनित हो जाते हैं। निराला जी में संगीत और साहित्य का मणि-कांचन संयोग था। उनका संगीत खोखला नहीं, वरन् भाव से भरपूर था। कविता-पाठ की कला में वे प्रवीण थे। वीणापाणि सरस्वती उनके कंठ में विराजती थी। जब वे 'जूही की कली' सुनाते थे, तब एक अम्लान सौंदर्य और शृंगार का ध्वनि-चित्र सामने आ जाता था। जब वे 'बादल राग' या 'राम की शक्ति पूजा' सुनाते थे, तब ओज गुण साक्षात् मूर्तिमान हो सामने आ जाता था। 'विधवा' या 'भिक्षुक' सुनाते समय करुणरस साक्षात् हो जाता था। अस्तु, कवि ने स्वयं अपने गीतों को गाकर उनकी सफलता घोषित की है। उनमें अपने ढंग की मौलिकता अवश्य है। यह बात अवश्य है कि तालबद्ध गीतों के आगे ये हमें कुछ विचित्र से अवश्य लगते हैं। कवि को संतोष है—'चूँकि मैं बाज़ार का नहीं बन सका, शायद इसीलिए सरस्वती ने मेरे स्वरों को बाज़ारू नहीं बनने दिया।' ²²

5. पं० सुमित्रानंदन पंत :

पंत जी ने अपने काव्य में नाद-सौंदर्य और संगीत का ध्यान रखा है। वे जानते थे कि भावजगत् में जो कार्य कल्पना करती है, वही कार्य शब्द-जगत् में राग, दोनों अभिन्न हैं। ²³ संगीत के बिना भाषा में शक्ति, स्फूर्ति और आकर्षक गतियाँ उत्पन्न नहीं होतीं। पंत जी ने तो तुकों तक का समर्थन किया है। तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणों का स्पंदन विशेषरूप से सुनाई पड़ता

है, राग की समस्त छोटी-बड़ी नाड़ियाँ मानो अंत्यानुप्रास के नाड़ीचक्र में केंद्रित रहती हैं, जहाँ से नवीन बल तथा शुद्ध रक्त ग्रहण करके छंद के शरीर में स्फूर्ति संचार करती रहती हैं। जो स्थान ताल में सम का है, वही स्थान छंद में तुक का है। वाक्य के प्राण शब्द विशेष पर आश्रित हो जाते हैं। अंत्यानुप्रास वाला शब्द राग की आवृत्ति से सशक्त होकर हमारा ध्यान आकर्षित करता है।²⁴

पंत जी ने भाषा के संगीत पर विशेष बल दिया है। उनका मत है कि कविता में भावों के प्रगाढ़ संगीत के साथ भाषा का संगीत भी पूर्ण परिस्फुट होना चाहिए, तभी दोनों में संतुलन रह सकता है। पद्य को हम गद्य की तरह नहीं पढ़ते, यदि ऐसा करें, तो हम उसके साथ अन्याय ही करेंगे। पद्य में वाणी का रोआँ-रोआँ संगीत में सनकर रस में डूबे हुए किशमिश की तरह फूल उठता है, सुरों में सधी हुई वीणा की तरह उसके तार, किसी अज्ञात वायवीय स्पर्श से अपने-आप अनवरत झंकारों में काँपते रहते हैं, पावस की आँधियारी में जुगनुओं की तरह अपनी ही गति में प्रवाह प्रसारित करते रहते हैं।²⁵

पंत जी का यह भी विचार है कि 'प्रत्येक भाषा के छंद, उसके उच्चारण संगीत के अनुकूल होने चाहिए। जिस प्रकार पतंग डोर के लघु-गुरु संकेतों की सहायता से और भी ऊँची-ऊँची उड़ती जाती है, उसी प्रकार कविता का राग भी छंद के इंगितों से दृप्त तथा प्रभावित होकर अपनी ही उन्मुक्ति में अनंत की ओर अग्रसर हो जाता है। हमारे साधारण वार्तालाप में भाषा-संगीत को जो यथेष्ट क्षेत्र नहीं प्राप्त होता, उसी की पूर्ति के लिए काव्य में छंदों का प्रादुर्भाव हुआ है।²⁶

आधुनिक हिंदी-गीतकारों का संगीत-ज्ञान : एक पत्र सर्वेक्षण :

हिंदी के वर्तमान गीत-स्रष्टाओं के संगीत-ज्ञान का परिचय प्राप्त करने के लिए मैंने एक सर्वेक्षण किया। इसके लिए एक प्रश्नावली कुछ प्रमुख गीतकारों के उत्तर प्राप्त करने के लिए उनके पास प्रेषित की गई। उनके जो उत्तर प्राप्त हुए, उनमें से कुछ को मूलरूप में यहाँ दिया गया है। प्रश्नावली इस प्रकार है—

1. क्या आप काव्य और संगीत के पारस्परिक संबंध को स्वीकार करते हैं, यदि हाँ, तो किस सीमा तक?
2. काव्य में प्रयुक्त आपका सबसे प्रिय राग कौन-सा है?
3. छंदों में लय और ताल की अनिवार्यता के संबंध में आपका क्या दृष्टिकोण है?
4. कुछ व्यक्तियों का ऐसा विचार है कि संगीत केवल स्वर है, उसके लिए शब्द की आवश्यकता नहीं। आपकी दृष्टि में क्या ऐसा कहना सही है?
5. क्या आप गीत के लिए भाषा की सांगीतकता आवश्यक मानते हैं?
6. आपको कौन-से संगीतकार ने सबसे अधिक प्रभावित किया है और क्यों?
7. आपके काव्य पर संगीत का प्रभाव किस सीमा तक है?
8. क्या आपने संगीत का विधिवत् अध्ययन किया है?

श्री भगवतीचरण वर्मा :

काव्य और संगीत दोनों ही मेरे मत से एक-दूसरे पर आश्रित हैं। कला का आधार गति अर्थात् लय है, उपकरण भिन्न-भिन्न हैं और इन उपकरणों के साथ कलाओं के नाम निर्धारित किए गए हैं। शब्द और लय के योग से कविता बनी है, स्वर और लय के योग से संगीत की सृष्टि

है लेकिन स्वर बिना शब्द के जनसाधारण को आसानी से ग्राह्य नहीं है, इसलिए संगीत में गीत शब्द पर विशेष बल दिया गया है।

काव्य में मैंने किसी राग का प्रयोग नहीं किया। ताल लय का ही एक रूप है और छंद भी लय का ही एक रूप है। कुछ लयें गाने में सुगम होती हैं, कुछ नहीं होतीं। कविता में हर तरह की लय होती है, जबकि संगीत की लयों को सीमित करके तालों का नाम दे दिया गया है।

मेरी हर एक कविता गाई जा सकती है किंतु मुझे संगीत के विधिवत् अध्ययन का अवकाश नहीं मिला। एक समय, बात संभवतः 1953 की है, आकाशवाणी ने सुगम संगीत की योजना मुझसे बनवाई थी और मैं दिल्ली में सुगम संगीत का प्रोड्यूसर नियुक्त किया गया था। उस समय केवल संगीत को ध्यान में रखकर मैंने कुछ गीत लिखे थे। यह कहना मेरे लिए कठिन है कि मुझे किस संगीतकार ने सबसे अधिक प्रभावित किया है।

पं० सोहनलाल द्विवेदी :

कविता को संगीतात्मक विचार कहा गया है। अतएव काव्य-संगीत का प्रारंभ से ही संयोग है। मैंने किसी विशेष राग से संपृक्त होकर काव्य नहीं लिखा। छंदों में लय तो अनिवार्य है, ताल का प्रश्न छंदों में आता नहीं। वह संगीत का विषय है।

संगीत वस्तुतः शुद्ध रूप में स्वर ही है, राग का मूलाधार। शुद्ध संगीत में शब्द गौण है, सहायक के रूप में शब्द ले लिए जाते हैं। स्वरों का आरोह-अवरोह, उसका संसार ही अलग है।

गीत के लिए भाषा की संगीतात्मकता आवश्यक है। गीत गेय न होने से गीत न रहेगा।

मैं भाव-प्रधान कवि हूँ अतएव जहाँ भाव को उठाने में, साकार करने में संगीत का प्रयोग होता है, वह मुझे प्रिय है। एक दृष्टि से ऐसे गायक ही मुझे विशेष प्रिय हैं। अपने काव्य पर संगीत के प्रभाव के संबंध में इतना ही कह सकता हूँ कि मेरे गीतों में संगीत का विशेष ध्यान रहता है। मैंने संगीत का दो वर्ष तक विधिवत् अभ्यास किया है।

डा. हरिवंशराय बच्चन :

बच्चन जी ने बहुल मात्रा में गीतों की रचना की है। इनमें अधिकांश गीत लोकगीतों की शैली से प्रभावित हैं। लोकगीत का आधार लोकसंगीत है, इसमें स्वाभाविक रूप से लय और गति विद्यमान रहती है। प्रश्नावली के उत्तर में यद्यपि बच्चन जी ने यह लिखा है, 'मैंने संगीत की शिक्षा नहीं ली।' किंतु आनंद और उल्लास के अवसरों पर कितनी ही बार उन्हें ढोलक बजाते हुए देखा गया है। (हास्यकवि काका हाथरसी से किए गए वार्तालाप के आधार पर) यह संभव है कि बच्चन जी ने शास्त्रीय संगीत की विधिवत् शिक्षा न ली हो किंतु उन पर पड़े हुए सांगीतिक प्रभाव का झुठलाया नहीं जा सकता। अन्य प्रश्नों के उत्तर में बच्चन जी ने संक्षेप में लिखा है—

हिंदी में काव्य को संगीत से संबद्ध रखने की प्रथा रही है। गीत गाया जा सकता है पर काव्य का अपना स्वर होता है, अपनी ध्वनि, अपना अर्थ। मेरे कुछ गीत गाए जा सकते हैं, संगीतज्ञ जानें कि उन्हें किस राग में बाँधा जा सकता है।

पं० दुर्गादत्त त्रिपाठी :

काव्यकंठ का संगीत बनने से पूर्व मूलतः आत्मा का संगीत होता है। काव्य की नई विधा इसे स्वीकार करे या न करे, मैं तो इस सत्य को परमात्मा की सत्ता की भाँति स्वीकार करता हूँ। फिर भी कंठ का संगीत आत्मा के संगीत को सुग्राह्य बनाने में पूरा-पूरा सहयोग देता है। यह

पारस्परिक संबंध सीमातीत है, क्योंकि जहाँ ये दोनों मिलते हैं, सीमा टूट चुकी होती है, जो कुछ लिखा जाता है, उसका अपना कोई निजी गौरव नहीं होता, पराश्रित गौरव होता है। मैंने अपने गीतों में सभी रागों का प्रयोग किया है, परंतु बहुधा मिश्र राग के रूप में उसका स्वरूप सुगम-संगीत जैसा हो जाता है। संगीत में जो स्वर है, वह शब्दजाल है। जिस प्रकार पिता की उपस्थिति संतान के लिए सदैव आश्रयदात्री रहती है, उसी प्रकार शब्दहीन स्वर निराश्रय मात्र रह जाता है।

मुझे आचार्य विष्णु दिगंबर जी ने सर्वाधिक प्रभावित किया है, क्योंकि वे स्वर और शब्द की मूल संगति का पूरी तरह निर्वाह करते थे। उनका संगीत कानों को आत्मा से जोड़ देने की क्षमता रखता था। मेरे काव्य पर संगीत का उतना ही प्रभाव है, जितना वह मेरे आत्मिक सुख देने के लिए आवश्यक है। संगीत की विधिवत् शिक्षा लेने के लिए एक और जन्म लेना होगा। इस जन्म में काव्य अग्रज और संगीत अनुज रहा।

श्री गोपालदास नीरज :

मैं काव्य और संगीत का पारस्परिक संबंध मानता हूँ लेकिन वहीं तक, जहाँ तक कि सुर और लय सिर्फ भावों के वहन करने का माध्यम बने रहते हैं। जहाँ सुर और लय के बोझ से भाव की सत्ता तिरोहित हो जाए, वहाँ मैं संगीत को काव्य में स्थान नहीं दूँगा। मैं रागों के अनुसार नहीं, अनुभूतियों के अनुसार रचना करता हूँ। इसलिए मेरा कोई भी प्रिय राग नहीं है। हाँ, काव्यपाठ मैं अक्सर भैरवी में करता हूँ। छंद तो स्वयं ही लय है इसलिए उसके संबंध में लय और ताल की अनिवार्यता तो स्वयंसिद्ध है। हाँ, संगीत केवल लय और स्वर ही है। उसके लिए शब्द की सचमुच आवश्यकता नहीं है। संगीत जितना अधिक शब्द का सहारा लेता जाता है, उतना ही अधिक वह काव्य के निकट पहुँचता जाता है। गीतों में मैं अवश्य सहज सांगीतकता का हिमायती हूँ, किंतु प्रयत्नज संगीतात्मकता का विरोधी हूँ।

श्री रामावतार त्यागी :

मैं काव्य और संगीत के संबंध को स्वीकार तो करता हूँ पर एक शर्त के साथ। इन दोनों का संबंध पारस्परिक नहीं है, एक पक्षीय है। काव्य को संगीत में बाँधा जा सकता है पर संगीत को काव्य में बाँधना कठिन है। मुझे स्वयं नहीं मालूम कि मेरे काव्य में अजाने कौन-सा राग आ गया है। जहाँ तक छंदों में लय और ताल की अनिवार्यता का प्रश्न है—छंदों में केवल लय ही अनिवार्य है, ताल की कोई अनिवार्यता नहीं है। संगीत मूलतः स्वर ही है। हाँ, स्वर यदि सार्थक और उपयुक्त शब्दों पर टिके हों तो स्वर भी सार्थक हो जाता है। गीत के लिए भाषा की सांगीतकता आवश्यक है। मतलब कि गीत के लिए लय के अनुकूल भाषा का चयन करना होता है।

बड़े गुलामअली खाँ ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया है, क्योंकि उन्हें समय के अनुसार रागों के चयन और निर्वाह में दक्षता प्राप्त थी। जहाँ तक संगीत के अध्ययन और अभ्यास की बात है, मैं यही कह सकता हूँ कि मैंने संगीत का कोई अध्ययन नहीं किया।

श्री भारतभूषण :

काव्य और संगीत का संबंध एक प्रकार से बहुत निकट का है अर्थात् देह और आत्मा जैसा या शब्द और स्वर जैसा। मुझे रागों का कोई ज्ञान नहीं है किंतु फिर भी पीलू के स्वर मुझे कहीं बहुत गहरे छूते हैं। लय और ताल के बिना छंद की कल्पना ही व्यर्थ है।

संगीत सचमुच केवल स्वर ही है किंतु स्वर अशरीरी होता है, शब्द मिलते ही संगीत

सदेह भी हो जाता है। सदेह होना ही साकार होना भी है।

भाषा की सांगीतकता गीत की अनिवार्य शर्त होनी चाहिए। मुझे कोई भी वाद्य-संगीत यदि अच्छा और कुशल हो तो प्रिय लगता है, गायन के बारे में मैं अनभिज्ञ हूँ। मैं थोड़ी-थोड़ी बाँसुरी स्वयं बजा लेता हूँ।

मैं जो काव्य-रचना करता हूँ, उसे स्वयं भी गाता हूँ और अन्य लोग भी गुनगुनाते हैं। संगीत के प्रभाव की सीमा का तो मुझे ज्ञान नहीं है किंतु कई बार अन्य कुछ लोग राग विशेष का जैसे बिहाग, भैरवी का नाम लेकर कह देते हैं कि अमुक पंक्ति में आप अमुक राग के स्वर लगा देते हो किंतु यह मेरे अनजाने ही होता है। मेरा काव्यपाठ का ढंग बहुत अच्छा है। शायद यह मेरी आत्मा पर कभी अनजाने पड़े संगीत का प्रभाव ही हो।

पं० भरत व्यास :

मैं काव्य और संगीत के पारस्परिक संबंध को स्वीकार करता हूँ। काव्य और संगीत दोनों मानव की भावुकता से संबंधित हैं। दोनों का उत्पत्ति-स्थान हृदय है। हृदय से उत्पन्न होने वाले दो भावुक पुत्रों का संबंध प्राकृतिक, सहज और निश्चित है। मालकोश मेरा सबसे प्रिय राग है।

कविवर व्यास जी 'संगीत केवल स्वर है' इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं करते। उनके विचार से संगीत के लिए 'शब्द की आवश्यकता है। संगीत सुमन है और शब्द सुगंध है। अगर फूल की जरूरत नहीं हो तो आपके लिखे अनुसार इन कुछ लोगों की बात सही हो सकती है कि संगीत केवल स्वर है और उसके लिए शब्द की आवश्यकता नहीं। काव्य के दो विभाग हैं—एक जो पढ़ने में अच्छा लगे, दूसरा जो संगीत के द्वारा प्रकट करने में अच्छा लगे, जिसे काव्य में गेय कहते हैं। जहाँ तक मेरे गीतों का सवाल है—संगीत ने संपूर्ण रूप से प्रभावित किया है। संगीत का मैंने विधि वत अध्ययन किया। यह मेरी प्राकृतिक देन है।'

ठाकुरप्रसाद सिंह :

मैं गीतकार के रूप में गीतों को यथाशक्ति सस्वर पढ़ने के पक्ष में हूँ और मेरी अधिकांश रचनाएँ कमोवेश भैरवी के आसपास घूमती हैं। पतझड़-संबंधी कुछ गीत बिहाग में भी बँधते हैं लेकिन प्रमुखता सब कहीं भैरवी की ही है। संगीत वस्तुतः स्वर-नाद की अंतरतम गहराइयों और संभावनाओं की खोज है। शब्द हों यह तो एक हद तक जरूरी है लेकिन उसके माध्यम से किसी रचना के मूल अर्थ की थाह लेने की चेष्टा संगीत की नहीं, साहित्य-क्षेत्र की बात है। उस पर जोर न भी दें तो संगीत का कुछ नुकसान नहीं है। संगीतकारों में मैं श्रीमती सिद्धेश्वरीदेवी को बहुत मानता हूँ। क्यों मानता हूँ यह बताने के लिए बहुत कुछ लिखना पड़ेगा, जो यहाँ संभव नहीं। मेरी कुल एक गीत पुस्तक 'वंशी और मादल' प्रकाशित हुई है, जिसकी प्रेरणा मुझे संधाली लोकगीतों से प्राप्त हुई थी। संधाल लोकगीत नृत्य-तालबद्ध होते हैं, इसलिए प्रकारांतर से मेरी रचनाओं पर कहीं न कहीं सांगीतक भावनाओं का प्रभाव अवश्य होगा।

श्री हंसकुमार तिवारी :

काव्य और संगीत का पारस्परिक संबंध सभी मानते हैं, कुछ इन-उन बातों के साथ। मैं तो मानता हूँ, दो रूप में। पहले के जिन महाकवियों की रचनाएँ भी हम देखते हैं, गेय रही हैं। बहुतेरे महाकवियों ने प्रत्येक में राग-ताल का उल्लेख तक कर दिया है। इसके सिवा भी काव्य की रस-सिद्धि में संगीत स्वयं आ जाता है, वह चाहे राग-रागिनियों के पूरे माप-दंड को मानकर न आए।

मालकोश और ईमन मेरे प्रिय राग हैं। यों अनेक गीतों की धुनें अन्य राग-रागिनियों का स्पर्श लिए हैं। जैसे बागेश्वरी और बिहाग। आरंभिक जीवन में संगीत से ही मेरा ज़्यादा लगाव रहा और वह लगाव आयोजनों, रचनाओं में किसी रूप तक आज भी है। वैसे आयोजन भी सर्वत्र किए, किंतु उसे संगीत का विधिवत् अध्ययन न मानकर सुविधा और रुचि कहूँगा, क्योंकि संगीत विद्यालय के चौखटे में कभी पाँव नहीं रखा। मेरे अधिकांश गीतों में रागों का सहारा साफ और शुद्ध ही है मगर पाठ में वह इसी सीमा तक आता है कि कविता, कविता के बजाय शास्त्रीय संगीत न बन जाए।

डा० प्रभाकर माचवे :

काव्य और अन्य ललित कलाओं में, जिनमें संगीत भी एक है, सख्यत्व संबंध है। यानी कुछ काव्य संगीतमय होता है, कुछ संगीत काव्यमय। दोनों पर्यायवाची नहीं। 'छंद' शब्द ही लय का दूसरा नाम है। ताल के बिना लय नहीं इसलिए जहाँ छंद है, वहाँ लय-ताल है। यानी मुक्त छंद में भी।

गीति के पहले कुछ नियम हुआ करते थे। कुछ वर्ण वर्जित थे। महादेवी का कोई गीत ट, ठ, ड, ढ, ण से शुरू नहीं होता, पर अब नवगीत ने तो सब परंपराएँ तोड़ दी हैं। भाषा की सांगीतकता के संकेत भी देश-काल-परिस्थिति के अनुसार बदलते जाते हैं।

मैंने बहुत बड़े संगीतकारों को सुना है : बड़े गुलामअली खाँ, फैयाजअली खाँ, बदले वुबा, पटवर्धन सभी लाजवाब थे। संगीत का मैंने विधिवत् अध्ययन नहीं किया पर मैं ग्वालियर में जन्मा हूँ, मेरे दोनों बड़े भाई संगीत का बहुत अच्छा ज्ञान रखते थे। कृष्णराव पंडित मेरे नजदीकी रिश्ते में हैं। रेडियो में छह वर्ष रहा सो संगीत से अनभिज्ञ नहीं। मेरी कई पुस्तकों में कहीं-कहीं संगीत की चर्चा भी हुई है।

पोद्दार रामावतार अरुण :

काव्य और संगीत का पारस्परिक संबंध असंदिग्ध है। काव्य का शाब्दिक व्यक्तित्व संगीत के स्वर-समारोह में लुप्त नहीं हो जाय, इस पर परस्पर ध्यान रहना चाहिए ताकि दोनों ललितकलाओं की प्रत्यक्ष महिमा अक्षुण्ण रहे। ध्रुपद के गायन में गीत की शाब्दिकता प्रायः गौण हो जाती है किंतु अनेक राग-रागिनियों अथवा आधुनिक सुगम संगीत के गायन में शाब्दिक सौंदर्य और मधुरिमा पर पूरा ख्याल किया जाता है। रवींद्रनाथ ठाकुर ने उसी महत्त्व और मौलिक उद्देश्य से रवींद्र-संगीत की योजना बनाई थी, जो पूर्णतः सफल हुई। विद्यापति, तुलसी, मीरा के गीत भी हमारे लिए प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

रागों में देश, बागेश्वरी और भैरवी ने मुझे अधिक प्रभावित किया है।

स्वर संगीत की आत्मा है। शब्द के द्वारा वह शरीर, अर्थ धारण करता है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि शब्द संगीत का यौवन है। सांगीतक भाषा के बिना श्रेष्ठ गीतों की रचना संदिग्ध है। सांगीतक भाषा के सृजन के लिए सक्रिय संगीत का वरण मेरी दृष्टि से आवश्यक है।

पं० ओंकारनाथ और बड़े गुलामअली खाँ ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया, क्योंकि प्रथम में शास्त्रीय कुशलता का चमत्कार देखने को मिला और द्वितीय में रस-माधुरी की प्रसन्न स्वर-लहरी। मेरे काव्य में संगीत का प्रभाव मेघमंडल पर छिटकी हुई चाँदनी की तरह है अथवा यों कहूँ कि सौंदर्य में लावण्य की भाँति। मैंने संगीत का विधिवत् अध्ययन तो नहीं किया किंतु

उसका क्षेत्रीय पुजारी अवश्य रहा।

सुश्री विद्यावती कोकिल :

संगीत तो काव्य की आत्मा है अन्यथा गद्य और पद्य में अंतर ही क्या। काव्य में शब्द की कसौटी तो उसकी गेय शक्ति ही है। गीतशैली के लिए, संगीतमय प्राण-प्रतिष्ठा के लिए हमें लोकगीतों के समुद्र का मंथन करना होता है और शब्दों में लयात्मकता के लिए भी लोकजीवन में उतरना होता है। गीतों के लिए नितांत संस्कृति शैली को मैं नहीं अपना सकी हूँ। वैसे स्वभावतः मुझे गीत लिखना अच्छा लगता है। कुछ ऐसे विचार हैं, जिनको अभिव्यक्त करने के लिए कविता भी लिखनी पड़ी है। जो भी हो मन की गीत दशा ही स्त्री की स्वाभाविक स्थिति भी है।

श्री हरिकृष्ण प्रेमी :

मैं संगीत के संबंध में अधिक नहीं जानता, इसलिए यह नहीं कह सकता कि मैंने अपने काव्य में किस राग को प्रमुखता दी है।

कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि संगीत केवल स्वर है। उसके लिए शब्द की आवश्यकता नहीं। जो शास्त्रीय संगीत के जानने वाले हैं, वे लोग तो स्वर, ताल, आलाप, मुर्की आदि संगीत-संबंधी बातों से पूरा आनंद प्राप्त कर लेते हैं। लेकिन मैं तो जनसाधारण में से एक हूँ और केवल स्वर में ही आनंद प्राप्त कर सकूँ, इतना संगीत-ज्ञान मुझमें नहीं है। शब्दों के बिना संगीत का पूरा आनंद मैं प्राप्त नहीं कर सकता। शब्द भी हों तो वे भावों को व्यक्त करने वाले हों। जहाँ संगीत रस की सृष्टि करे, वहीं शब्द भी हृदय में भावों की सृष्टि करें तभी संगीत का पूरा आनंद साधारण व्यक्ति पा सकता है।

संगीतकारों में मेरा काम श्री सचिनदेव बर्मन से पड़ा है और उन्होंने मुझे प्रभावित किया है। गीत-लेखकों में प्रसिद्ध फिल्म-गीत-लेखक प्रदीप से भी मेरा काम पड़ा है और उनको संगीत का भी उतना ज्ञान है, जितना कि गीत-लेखन का। अच्छे-अच्छे संगीत-निर्देशक के कान वह काट सकते हैं और इसलिए उनके गीत राग-रागिनियों में बड़ी सफलता से बाँधे जा सकते हैं। उन्होंने भी मुझे प्रभावित किया है।

मेरे काव्य में दोनों प्रकार की रचनाएँ हैं किंतु अधिकांश रचनाएँ संगीत-प्रधान हैं।

पं० भवानीप्रसाद मिश्र :

मुझे संगीत का ज्ञान नहीं है, इसलिए विभिन्न रागों का भी नहीं है। काव्य में प्रयुक्त अपने सर्वाधिक प्रिय राग के बारे में कहना अनधिकार होगा।

छंदों में लय और ताल दोनों अनिवार्य हैं। कविता के लिए छंद अनिवार्य नहीं है। आज तो सारी दुनिया की अधिकांश कविता छंदबद्ध नहीं है किंतु लयबद्ध है और भी निरापद शब्द लययुक्त है। बद्ध करने से कविता की गति अवरुद्ध होती है।

संगीत को केवल स्वर मानने में कोई बुराई नहीं है। हम चीजों के संगीत, लहरों के संगीत, हवा के संगीत आदि की बात करते हैं। हमारा शास्त्रीय संगीत भी एक तरह से शब्द-निरपेक्ष है। शब्दों को उसने एक बहुत ही नगण्य सहारे की तरह स्वीकार कर लिया है। फिर भी मैं मानता हूँ, यदि शब्दों को स्वर के पंख मिल जाएँ तो वे अधिक आसानी से आकाशव्यापी हो जाते हैं।

भाषा में संगीत का समावेश किया जा सकता है। कई बार ऐसी पंक्तियाँ गीत की तरह गाई जाती हैं, जिनमें गीतात्मकता है ही नहीं। संगीतकार खासकर आज के सिने संगीतकार बिलकुल गद्य

पंक्तियों को गीत बनाकर ही मानते हैं। जैसे 'मुसाफ़िर तुझे जाना ही पड़ेगा'। कहा जा सकता है कि आज तो जितनी पंक्तियाँ कम संगीतात्मक हैं, चित्रपट की हद तक उतनी ही हिट होती हैं।

अपने काव्य पर संगीत के प्रभाव के संबंध में इतना ही कह सकता हूँ कि मैंने अधिकांश कविताएँ लय सम्हालकर लिखी हैं, छंद सम्हालकर नहीं। संगीत का विधिवत् अध्ययन मैंने नहीं किया है।

डा० शिवमंगलसिंह सुमन :

मेरी धारणा है कि काव्य और संगीत का जन्म एक माँ के जुड़वाँ बच्चे की तरह हुआ है। आज काव्य और संगीत को अलग-अलग करके परखने का भावबोध भले ही प्रमुख हो गया हो परंतु मूल में तो दोनों का उत्स एक ही है। भरतमुनि ने तो स्पष्ट ही घोषणा की थी कि 'यानि वाक्येस्तु न ब्रूयात् तानि गीतेरुदाहरेत्' अर्थात् जिसे वाक्य द्वारा नहीं कहा जा सकता, उसे संगीत द्वारा व्यक्त करना चाहिए। वैदिककाल से आधुनिककाल तक हिंदी में विशेषकर प्रयोगवादी काल तक काव्य और संगीत का अन्योन्याश्रित संबंध रहा। मध्यकाल के कवि तो राग-रागिनियों में ही अपने अनुराग को सार्थक करते थे।

मैं राग-विशेष का जानकार तो नहीं हूँ पर मेरे काव्य में यथास्थान बिहाग और मालकोश आपको सुलभ हो सकता है।

संगीत केवल स्वर नहीं बल्कि नादब्रह्म है और नाद के लिए शब्द का आधार अवश्य चाहिए। संगीत केवल स्वर-चमत्कार अथवा कला-कौशल की अभिव्यक्ति तो कर सकता है पर मर्म को स्पर्श नहीं कर सकता। शब्द और स्वर मिलाकर ही विश्वात्मा को अर्घ प्रदान करने में समर्थ हो सकता है। मेरे प्रिय संगीतकार में कुमार गंधर्व का नाम लिया जा सकता है, क्योंकि अपनी संगीत-साधना में वे स्वर और भावबोध को साथ लेकर चलते हैं। उनकी प्रत्येक मूर्च्छना अंतरात्मा के आह्वान के रूप में प्रतिध्वनित होती है। स्वयं संगीतज्ञ न होने के कारण अपने काव्य में संगीत के प्रभाव की सीमा निर्धारित कर सकना तो मेरे लिए कठिन है पर मेरे गीतों में उनका अनुबंध अनिवार्य रूप से आलोड़ित है। मैंने संगीत का कभी विधिवत् अध्ययन नहीं किया।

श्री बालकवि बैरागी :

मेरी निश्चित धारणा है कि यदि संगीत से काव्य को या काव्य से संगीत को अलग कर दिया जाएगा तो उनकी सम-प्रेषणीयता और प्रभाव मारे जाएँगे। उनमें कमी आ जाएगी। यदि कोई व्यक्ति सिर्फ़ गुनगुनाता रहे और उसमें शब्द नहीं हों तो सुनने वाला उससे यह कहेगा कि अरे आप तो अच्छा गाते भी हैं, कुछ सुनाइए। अब यदि वह केवल गुनगुनाता ही सुनाता रहे तो काम चलेगा नहीं। उसके लिए शब्द आवश्यक हैं और शब्द से भी आवश्यक है काव्य। उसमें कविता होनी ही चाहिए। हमारे शास्त्रीय संगीत पर आधारित दो-दो लकीरों के छोटे-छोटे गीत इस बात का प्रमाण हैं कि चाहे कितना ही आलाप और आरोह-अवरोह हो पर उसकी अभिव्यक्ति के लिए शब्द तो होना ही चाहिए। और आगे चलिए। संगीत के सुर सात हैं और कुल मिलाकर बारह। आधारभूत स्वरों को हमारे शास्त्रकारों ने सा रे ग म प ध नि सां में बाँट दिया है। फिर कोमल और तीव्र बनाए गए। उनका वर्गीकरण अलग है यानी सुर को भी शब्द में बाँधकर उसकी संज्ञा देनी पड़ी। मेरा यह मतलब कदापि नहीं है कि संगीत शब्द का मोहताज है। मैं यह भी नहीं मानता कि शब्द संगीत का भिखारी है पर यदि दोनों मिल जाएँ तो ब्रह्म हो जाते हैं। कोई शास्त्रकार नहीं कहता कि बिना ध्वनि का संगीत ब्रह्म

बन सकता है। यही कारण है कि मैं काव्य और संगीत के चरम सहयोग तक इस संबंध का पक्षपाती हूँ। अच्छा काव्य और अच्छा संगीत साथ-साथ मिल जाएँ तो गायक और श्रोता या आमने-सामने वाले दोनों पक्ष समाधि की अवस्था तक पहुँच जाते हैं।

मैंने कभी राग को आधार बनाकर लिखने की कोशिश नहीं की पर बिहाग, भैरवी, माँड और बागेश्री तथा मालकोश एवं पीलू मेरे प्रिय राग रहे हैं। मैंने इन रागों पर प्रयोग किए हैं। वे प्रयोग सफल रहे हैं और इच्छित छाप छोड़ते हैं। वैसे मैं लोकगीतों को आधार बनाकर लिखना ज़्यादा पसंद करता हूँ और हमारे लोकगीत में एक ही गत में कई राग-रागिनियाँ मिल जाती हैं।

मैंने संगीत का विधिवत् अध्ययन नहीं किया है। अतः मैं यह नहीं कह सकता हूँ कि मेरे काव्य पर संगीत का कितना असर है। यह तो सुनने वाला ही बता सकता है कि उसमें संगीत कितना है और शोर कितना है।

श्री शचींद्र भटनागर :

निस्संदेह काव्य और संगीत में पारस्परिक संबंध है। संगीत-रहित काव्य तुकांतयुक्त बराबर वजन वाली गद्यात्मक पंक्तियाँ मात्र हैं। वास्तविक काव्य की रचना संगीत पर आधारित होती है, भले ही कवि उसे गुनगुनाता हुआ लिखे अथवा अनजाने कहीं उसकी भावनाओं की परतों के नीचे संगीत की अंतर्धारा बहती हो।

किसी राग-विशेष के नियमों को ध्यान में रखते हुए गीत नहीं लिखे जाते। चूँकि संगीत के विभिन्न रागों का मानव-प्रकृति की विभिन्न मनोदशाओं से नैसर्गिक संबंध है। अतः विभिन्न मनःस्थितियों में रचे गए मेरे गीतों में विभिन्न रागों की छाया दिखाई पड़ती है। कहीं-कहीं एक ही गीत में करुणा की अभिव्यक्ति के समय कोमल स्वरों का आधिक्य है तो दूसरे क्षण आत्मविश्वास की अभिव्यक्ति में शुद्ध स्वरों का। वैसे मेरे अधिकांश गीतों में भैरवी, काफ़ी, खमाज थाठ के रागों की छाया मिलती है।

छंदों में लय की अनिवार्यता को नकारा नहीं जा सकता। अन्यथा छंद गद्यखंड रह जाएँगे किंतु छंदों की लंबाई के संबंध में कोई भी पूर्वाग्रह नहीं होना चाहिए। छंद कितनी भी पंक्तियों का हो सकता है किंतु उसमें लय का होना आवश्यक है।

गीत तो वह धारा है, जो भावात्मक उत्तेजना की गति के साथ तीव्र-मंद होकर बहती है, जहाँ जीवन तालमय है, वहाँ के गीत ताल-सापेक्ष होंगे जैसे लोकगीत। स्वर तो संगीत है ही किंतु केवल स्वर को ही संगीत मानना उचित नहीं है। स्वर-रहित शब्द संगीत नहीं हो सकता। भावों की ईमानदार अभिव्यक्ति करने वाले संगीतमय शब्द कविता होते हैं। संगीत जिन भावों की अभिव्यक्ति स्वरों द्वारा करता है, भावपूर्ण शब्द उनकी अभिव्यक्ति को साकार कर देते हैं। यही कारण है कि अनेक संगीतकारों ने शब्द के सहयोग से अभिव्यक्ति की है।

निस्संदेह भाषा की सांगीतकता गीत के लिए आवश्यक है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि स्वर, ताल, लय सभी कुछ समान रूप से आवश्यक हैं। यदि इन तीनों अंगों को काव्य की दृष्टि से देखा जाए तो लय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। स्वर द्वितीय तथा ताल महत्त्व की तीसरी श्रेणी प्राप्त करती है।

बिस्मिल्ला खाँ, पं० रविशंकर, पन्नालाल घोष ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया है। संगीत जिस रूप में भावों की अभिव्यक्ति में सहायक होता है, उसी सीमा तक संगीत का उपयोग

मैंने गीतों में किया है।

संगीत के विधिवत् अध्ययन का तो अवसर नहीं मिला किंतु यदा-कदा संगीतज्ञों के सान्निध्य और सहज उपलब्ध होनेवाली संगीत पत्रिकाओं के अध्ययन से शास्त्रीय संगीत के प्रति रुचि जाग्रत हुई है। परिणामतः गायन-वादन का कुछ अभ्यास अवश्य है। मेरे गीतों में इसी कारण रागात्मकता का समावेश है।

श्री कैलाशचंद्र अग्रवाल :

मैं काव्य और संगीत के पारस्परिक संबंध को अंतिम सीमा तक स्वीकार करता हूँ। जिस गीत में संगीतात्मकता तथा लयात्मकता नहीं है। वह मेरी दृष्टि में गीत नहीं है। गेयता गीत के मूल में है। गीत के अन्य तत्वों के साथ ही संगीत का तत्व भी अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

मेरे गीतों में प्रयुक्त अनेक राग हैं। पहाड़ी और भैरवी मेरे प्रिय राग हैं। छंदों में लय और ताल की अनिवार्यता से भी इंकार नहीं किया जा सकता। बेसुरा खप जाता है किंतु बेताला नहीं खपता। संगीत में जो ताल का स्थान है, वहीं काव्य में छंद का स्थान है।

मैं स्वर के लिए शब्द को आवश्यक मानता हूँ। स्वर का अस्तित्व शब्द के बिना अधूरा है और शब्द का अस्तित्व स्वर के बिना अधूरा है। मेरी दृष्टि में गीत के लिए भाषा की सांगीतकता आवश्यक है। भाषा का अपना योगदान होता है। भाषा के अपने शब्द होते हैं।

मेरी दृष्टि में केवल बड़े गुलामअली खाँ सर्वश्रेष्ठ संगीतकार रहे हैं। उन्हीं से मैं प्रभावित हुआ हूँ। वे आदि से अंत तक हृदय ही हृदय रहे, बुद्धि से एकदम दूर। वस्तुतः संगीत तथा काव्य का संबंध सीधा हृदय से ही है, बुद्धि से नहीं।

मेरे काव्य पर संगीत के प्रभाव का जहाँ तक प्रभाव है, मैं गुनगुनाकर ही गीत लिखता हूँ। मेरे गीत का प्रारंभ ही संगीत से होता है। दुर्भाग्यवश मैंने संगीत का कोई विधिवत् अध्ययन नहीं किया। हाँ! मेरी दृष्टि में मेरे सभी गीत संगीतमय हैं।

उक्त सर्वेक्षण के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

1. अधिकांश गीतकारों ने स्वीकार किया है कि गीति और संगीत का संबंध शाश्वत है। काव्य-कला और संगीत जुड़वाँ भाइयों के समान हैं किंतु संगीत के कारण काव्य के भाव एवं शिल्प-पक्ष पर आघात नहीं किया जाना चाहिए।

2. भिन्न-भिन्न कवियों को भिन्न-भिन्न राग प्रिय हैं किंतु काव्य-रचना के अवसर पर उन्होंने किसी विशेष राग से प्रभावित होकर काव्य नहीं रचा। उन्होंने काव्य का सृजन, सृजन की अदम्य लालसा के कारण किया, किसी राग विशेष के प्रेम के कारण नहीं।

3. गीत में लय को सभी गीतकारों ने स्वीकार किया है। यहाँ तक कि वे यह मानते हैं कि मुक्त छंद में भी एक लयात्मकता होती है। हाँ! काव्य तालबद्ध ही होगा इस संबंध में अलग-अलग मत हैं।

4. सभी गीतकारों का यह स्पष्ट मत है कि भाषा के कुशल संयोजन से सांगीतकता उत्पन्न होती है।

5. प्रश्नावली के प्राप्त उत्तरों के आधार पर यह भी निष्कर्ष निकला है कि एक-दो गीतकारों को छोड़कर किसी ने भी संगीत का विधिवत् अध्ययन नहीं किया है।

ऐसे भी कुछ गीतकार हैं, जो जीवित नहीं हैं। संगीत की दृष्टि से उनके भी काव्य का

अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन के परिणामस्वरूप यह निष्कर्ष निकला है कि उनमें से कुछ गीतकार— भारतेंदु हरिश्चंद्र, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, प्रसाद, निराला राग-रागिनियों के अच्छे जानकार थे।

संदर्भ

1. संगीत चिंतामणि, आचार्य बृहस्पति, पृ० 311-312
2. संगीत रत्नाकर, दूसरा खंड, शांगदेव सं० सुब्रह्मण्य शास्त्री, पृ० 149-151
3. आधुनिक हिंदी-प्रगीत, संगीततत्त्व, डा. विमला गुप्ता, पृ० 196
4. भारतेंदु ग्रंथावली, पृ० 502, 511, 541
5. देखें भारतेंदु ग्रंथावली, भाग-2, पृ० 365, 376, 377, 378, 381, 395, 423
6. भारतेंदु ग्रंथावली, भाग-2, पृ० 191, 504, 748, 750, 751, 753
7. भारतेंदु ग्रंथावली, भाग-2, पृ० 505
8. भारतेंदु ग्रंथावली, भाग-2, पृ० 73, 182, 183, 208, 383, 429, 432, 435, 490, 494, 846
9. भारतेंदु ग्रंथावली, भाग-2, पृ० 487, 492, 500, 510, 416
10. भारतेंदु ग्रंथावली, भाग-2, पृ० 507, 526
11. भारतेंदु ग्रंथावली, भाग-2, पृ० 194, 291, 292, 421, 488, 506, 666, 667
12. भारतेंदु ग्रंथावली, भाग-2, पृ० 364, 375, 377, 381, 384, 385, 397, 419, 429, 432, 846
13. हरिश्चंद्र चंद्रिका, खंड-2
14. प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग
15. श्री रामनाथ सुमन, कवि प्रसाद की काव्य-साधना, पृ० 149
16. स्कंदगुप्त, पृ० 39
17. इंदु, कला-2, किरण-1, श्रावण शुक्ला-2, संवत् 1967, पृ० 20
18. कवि प्रसाद की काव्य-साधना, पृ० 100
19. निराला, डा. रामविलास शर्मा, पृ० 32-33
20. गीतिका, निराला, पृ० 6
21. परिमल, निराला, पृ० 175
22. गीतिका, निराला, पृ० 12
23. पल्लव, प्रवेश, पंत, पृ० 41
24. आधुनिक हिंदी कविता और समीक्षा, डा० विश्वंभरनाथ उपाध्याय, पृ० 327
25. पल्लव, प्रवेश, पंत, पृ० 41-42
26. पल्लव, प्रवेश, पंत, पृ० 40-41

□ रीडर, हिंदी विभाग
रानी भाग्यवती दंवी महिला महाविद्यालय, बिजनौर